आचार्य सूर्यसागर ग्रन्थमालाका १२ वां पुष्प

श्री समयसार नाटक

अपर नाम

निजानन्द मार्तण्ड

श्री १०८ आचार्य सूर्यसागरजी महाराज
द्वारा अनुवादित

सम्पादक—
श्री पं. मुन्नालालजी काव्यतीर्थ, इन्दौर

सन् १९४८] प्रथमावृत्ति [वीर नि. सं. २४७४

प्रस्तावना

प्रिय विज्ञपाठक !

श्री जिनेन्द्र देवकी पुण्यमयी कृपासे आज मैं स्वाध्यायार्थ आपके करकमलोंमें श्री नाटक समयसार अपर नाम निजानन्द मार्तण्ड का नवीन भाषानुवाद मय तात्पर्य और विशेषार्थके समर्पण करता हूं। यह महान आत्मोद्धारक ग्रन्थ प्रसिद्ध नाटकत्रयीमें से सम्यग्ज्ञानकी प्रधानताका प्ररूपक है और वह द्वितीय श्रुतस्कन्धके नामसे प्रसिद्ध है। इसीसे धार्मिक जगतमें परमादरणीय है।

इस ग्रन्थके होनेका सम्बन्ध भाषाकार श्री पंडित जयचंदजी सा. ने लिखा है 'परमपूज्य तीर्थंकर सर्वज्ञदेव परम भट्टारक श्री महावीर स्वामीके निर्वाण जानेके बाद पांच श्रुतकेवली हुए उनमें अन्तके श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी हुए, इनके समय तक तो द्वादशांग शास्त्रके प्ररूपणके होनेसे व्यवहार निश्चयात्मक मोक्षमार्ग यथार्थ प्रवर्तता रहा बादमें कालदोषसे अंगोंके ज्ञानकी व्युच्छित्ति होती गई और कितनेक मुनि शिथिलाचारी हुए उन्हीं में श्वेताम्बर हुए, उन्होंने शिथिलाचार पोषनेके लिये अलग सूत्र बनाये, उनमें शिथिलाचारके पुष्ट करनेकी अनेक कथाएं लिख कर अपना सम्प्रदाय पुष्ट किया, जो अब तक चला आरहा है। जो जिन सूत्रकी आज्ञामें रहे तथा जिनका आचार भी यथावत रहा वे दिगम्बर कहलाये। दिगम्बरोंके सम्प्रदायमें श्री वर्द्धमान स्वामीके निर्वाण जानेके बाद छहसौ तिरयासी वर्ष बाद भद्रबाहु आचार्य हुए। उनकी परिपाटीमें कितनेक वर्ष पीछे और कितने ही मुनि हुए और उन्होंने सिद्धान्त शास्त्रोंकी प्रवृत्ति निम्न प्रकार की।

एक परम पूज्य श्री १०८ धरसेन नामके मुनि प्रकट हुए उनको अग्रायणी पूर्वके पांचवें वस्तुका महाकर्म प्रकृति नामक चौथे प्राभृतका ज्ञान था सो उन्होंने यह प्राभृत मुनिराज श्री भूतबली और पुष्पदन्त नामके दो मुनियोंको पढाया। पीछे उन दोनों मुनियोंने आगे कालदोषके प्रभावसे बुद्धिकी मन्दता जानकर उस प्राभृतके अनुसार षटखण्ड सूत्र बांधकर पुस्तकोंमें लिखा कर उनकी प्रवृत्ति की, उनके पीछे जो मुनिराज हुए उन्होंने उन सूत्रोंको पढकर उनकी टीका विस्तार रूपसे करके धवल, जयधवल, महाधवल आदि सिद्धान्तके ग्रन्थ रचे उनको पढकर परम पूज्य सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्र आदि आचार्योंने गोमटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि शास्त्रोंकी प्रवृत्ति की। उनमें जीव और कर्मके संयोगसे हुई जो आत्माकी संसार पर्याय, उसका विस्तार गुणस्थान वा मार्गणाओं द्वारा संक्षेपतासे वर्णन है यह तो पर्यायार्थिक नयकी मुख्यतासे कथन है। इसी नयको अशुद्ध द्रव्यार्थिक कहते हैं, अध्यात्म भाषासे अशुद्ध निश्चय कहते हैं इसीको व्यवहार भी कहते हैं।

एक मुनिवर्य श्री १०८ गुणधर नामके मुनि हुए उनको ज्ञानप्रवाद पूर्वके दशम वस्तुके तीसरे प्राभृतका ज्ञान था, उस प्राभृतको परमपूज्य मुनिराज नागहस्ति नामके मुनिने पढा उन दोनों मुनियोंसे श्री १०८ यतिनायक नामके मुनि ने पढा और इन मुनिने उसकी चूर्णिका रूप छह हजार सूत्रोंका शास्त्र बनाया। इसकी टीका श्री १०८ समुद्धरण नामके मुनिराजने बारह हजार श्लोक प्रमाण रची। इस प्रकार आचार्योंकी परम्परामें सिद्धान्तके ज्ञाता परम पूज्य प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद आचार्य प्रवर श्री १०८

समय सार—

निजानंद मार्तण्ड की टीका—कर्त्ता

श्री दिगम्बर जैनाचार्य पूज्यपाद १०८

श्री सूर्यसागरजी महाराज

चातुर्मास—इन्द्रभवन तुकोगंज, इन्दौर [मालवा]

संवत् २००५

श्रीमान् दानवीर, राज्यभूषण, राज्यरत्न, रावराजा, जैनरत्न, लेफ्टिनेण्ट कर्नल

श्रीमंत सेठ हीरालालजी कासलीवाल

कल्याण भवन, इन्दौर.
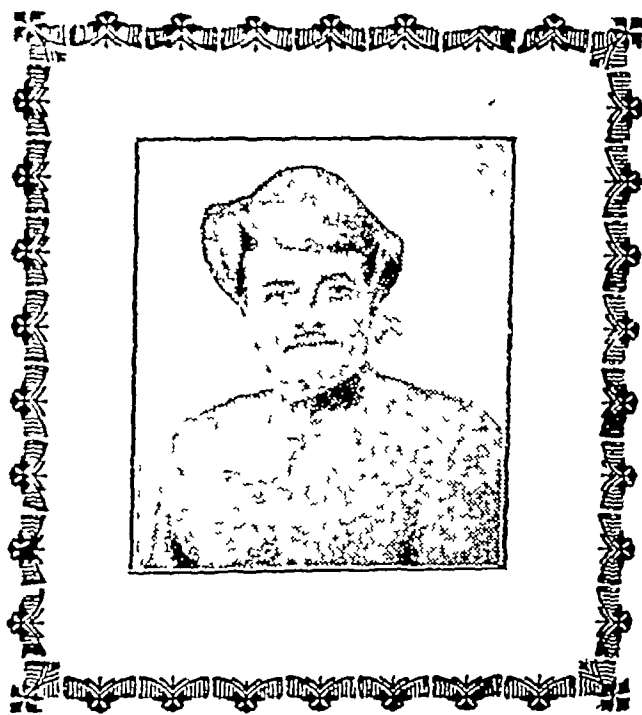
वीर संवत् २४७४ कार्तिक कृष्णा ३०

कुन्दकुन्द नामके मुनि हुए। इस तरह द्वितीय सिद्धान्तकी उत्पत्ति हुई। इसमें ज्ञानको प्रधान कर शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका कथन है, अध्यात्म भाषासे तो शुद्ध आत्माका ही कथन है ऐसा जानना चाहिये।

शुद्धनिश्चयको ही परमार्थ कहते हैं, इस नयकी दृष्टिमें पर्यायार्थिक नयको गौणकर व्यवहार कहकर असत्यार्थ कहा है सो जहांतक इस जीवकी पर्यायबुद्धि रहती है तभीतक इसका संसार रहता है। जब शुद्धनयका उपदेश पाकर द्रव्यबुद्धि होजाती है— अपने आत्माको अनादि अनंत एक संपूर्ण परद्रव्य और परभावोंके निमित्तसे हुए अपने भावोंसे भिन्न जानकर अपने शुद्ध आत्माका अनुभवकर शुद्धोपयोगमें लीन हो जाता है तब कर्मका अभाव करके मुक्तिको प्राप्त होजाता है। इस प्रकार इस द्वितीय सिद्धांत की परपरासे शुद्धनयके उपदेशके शास्त्र पंचास्तिकाय, प्रवचनसार समयसार, परमात्मप्रकाश आदि ग्रन्थ प्रवर्तते हैं। इनमें यह समयप्राभृत नामका शास्त्र प्राकृत भाषामय गाथाबद्ध ग्रन्थ है। इसकी आत्मख्याति नामकी संस्कृत टीका परमपूज्य मुनिवृषभ श्री १०८ अमृतचन्द्राचार्यने की है। और उसकी भाषावचनिका जयपुर वासी पं. जयचंदजी सा. ने की है। कालदोषसे प्राकृत और संस्कृतके जानकर बहुत विरले व्यक्ति हैं इसलिये हरएकका उसमें प्रवेश नहीं हो पाता और भाषावचनिका भी ढूढारी भाषामें लिखी गई है जिसको भी हरएक भाई सरलतासे समझ नहीं सकता इसलिये स्वाध्याय करते २ परमपूज्य १०८ आचार्य सूर्यसागरजी महाराजने इसके गाथाओंका व कलशोंके छंदोंका आधुनिक भाषा में अनुवाद किया। बादमें महाराज श्री की आज्ञासे मैंने हरएक छंदकी उत्थानिका और भावार्थ वा विशेषार्थ जोडा। जैन सिद्धां-

तमें शुद्धनयसे आत्माके सच्चे स्वरूपका दिग्दर्शन करानेवाला यह ग्रन्थ अद्वितीय अध्यात्मशास्त्र है। जो धर्मात्मा भाई आत्म-हित दृष्टिसे इसका स्वाध्याय करेंगे वह अभूतपूर्व लाभ उठावेंगे।

श्री विद्वद्वर्य पं. जयचंदजी सा. द्वारा लिखी हुई टीकाको आधार बांधकर अध्यात्मरसी पं. बनारसीदासजीने छंदोबद्ध समयसार रचा है। बनारसीदासजी रामायणके प्रसिद्धकर्ता गोस्वामी तुलसीदासजीके समयमें हुए हैं। आपकी कविता बडी ही सरस और भाव पूर्ण है, इसीसे इस ग्रंथमें हर एक कलशाके छंदके साथ बनारसीदासजीके छंद भी जोड दिये गये हैं। इससे और भी इस ग्रंथके स्वाध्याय करनेमें विशेष आनन्द आवेगा।

इस ग्रंथके मुद्रणादिका सारा व्यय समाजके धनकुबेर धर्म और विद्याप्रेमी, उदाराशय श्रीमान दानवीर, रावराजा, राज्यरत्न, जैनरत्न आदि अनेक पद विभूषित श्रेष्ठिवर्य हीरालालजी कासलीवाल इन्दौरने किया है। आपकी भक्ति गुरुओंमें अतिशय रूपसे रहती है। गुरुओंकी भक्ति करने वा उनको आहारादि देनेमें आप सरस प्रेम दिखलाते हैं। आपने आगे होकर महाराजश्रीसे अनूद्य इस ग्रंथको मुद्रित कराकर स्वाध्याय प्रेमियों और संस्थाओंको वितरण करानेकी इच्छा प्रकट की, इसके लिये सेठ सा० अत्यंत धन्यवादके पात्र हैं।

अन्तमें यह प्रार्थना है कि—मेरी अज्ञानिता प्रमाद और दृष्टि दोषसे कहीं अशुद्धियां रह गई हों तो पाठकगण मेरे ऊपर क्षमा करके अशुद्धि शुद्धि पत्रसे अशुद्धियोंको शुद्ध करके ही स्वाध्याय करें।

मुझे आशा है स्वाध्यायार्थी विज्ञ भाई उनका सुधार करते हुए ही स्वाध्याय करेंगे और मेरी अज्ञानता पर मुझे क्षमा प्रदान करेंगे।

भादों सुदी १५ स २००५ | स्वाध्याय प्रेमियोंका अनुचर —
इन्दौर | मुन्नालाल जैन काव्यतीर्थ

प्रबन्धक का आभार प्रदर्शन—

इस ग्रन्थका स्वाध्याय करते हुए परम पूज्य प्रातःस्मरणीय गुरुवर्य आचार्य महाराज श्री १०८ श्री सूर्यसागरजी महाराज आनन्दमें विभोर होजाते थे इसीलिए इस ग्रन्थका नाम निजानन्द मार्तण्ड रक्खा है। भाषाकी क्लिष्टताका अनुभव करके आपने सामान्य जनताकी हितदृष्टिसे इस ग्रन्थका सरलार्थ लिखा जिसको सुनकर श्रीमान दानवीर रा. भू. रा. र. राव राजा आदि अनेक पद विभूषित सेठ हीरालालजी कल्याणमलजी इन्दौर ने बडी ही प्रसन्नता पूर्वक इसको मुद्रित कराकर स्वाध्याय प्रेमियों और संस्थाओंको वितरण करानेकी संमति दी। अर्थात् इस ग्रंथके छपाई आदि कार्य में जो व्यय हुआ है वह उक्त सेठ सा. की तरफसेही हुआ। इसलिये मैं सेठ सा. का अत्यत आभार मानता हुआ उन्हें कोटिशः धन्यवाद देता हूं।

आशा है आगे भी सेठ सा. जिनवाणीके उद्धार करनेमें इसी तरह अपनी गाढी कमाईको सफल करते रहेंगे।

लक्ष्मीचंद वर्णी,
प्रबन्धक—श्री आचार्य सूर्यसागर ग्रंथमाला इन्दौर

विषयानुक्रमणिका

कर्तृकर्माधिकार—

पुण्यपापाधिकार ।

आस्रवाधिकार

संवराधिकार

निर्जराधिकार

बंधाधिकार—

मोक्षाधिकार—

सर्वविशुद्ध-ज्ञानाधिकार—

स्याद्वादाधिकार

साध्यसाधनाधिकार—

नमः सिद्धेभ्यः ।

श्रीमत्पूज्यपाद दिगंबर जैनाचार्य १०८ **श्री सूर्यसागरजी**

महाराजद्वारा संकलित वा अनुवादित

नाटक समयसार

अपर नाम—

निजानन्द मार्तण्ड

(मूलगाथा कलश वा भाषाछंद सहित)

शुद्धातम जिनराज हैं अनेकांत जिनवैन ।
मुद्रा वह निर्ग्रंथता, नमूं करै सुखचैन ॥
प्रगटे निज अनुभव करै सत्ता चेतन रूप ।
सब ज्ञाता लखिके नमूं समयसार शिवभूप ॥

आत्माको सच्चा सुख स्वानुभवमेंही मिलता है। मोह कर्मके संसर्गमें यह आत्मा बहिरात्मरूप बना रहता है जिससे इसके संसारके भ्रमणका अंत नहीं होपाता है। यह जीव पर पदार्थोंमें ममत्व बुद्धि रखकर उनमें अभेदबुद्धि करके इष्टानिष्टरूप उपयोगको भ्रमा-कर नवीन नवीन कर्म बंध करता है। सद्‌गुरुकी शिक्षा से जब भेद विज्ञान उत्पन्न करता है तभी उपयोग स्वरूपकी

ओर उन्मुख होता है। जब आत्मामें आत्माको पाकर पर पदार्थों की उपेक्षा करता है, तब ही आत्मोपलब्धि होती है।

इस ग्रंथमें नाटक समयसारका ही उपदेश किया जायगा। नाटक समयसारमें बारह अधिकार बतलाये गये हैं जैसा कि कवि-वर बनारसीदासजीने कहा है कि—

जीव निरजीव करता करम पुन्य पाप,
आस्रव संवर निरजरा बंध मोख है।
सरव विशुद्धि स्याद्वाद साध्य साधक,
द्वादश दुवार धरें समयसार कोप है॥
दरवानुयोग दरवानुयोग दूर करै,
निगमको नाटक परमरस पोप है।
ऐसौ परमागम बनारसी बखानै जामें,
ज्ञानको निदान सुद्ध चारितको चोप है॥

अर्थात्—समयसारके भंडारमें जीव, अजीव, कर्ताकर्म, पुण्यपाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष, सर्वविशुद्धि, स्याद्वाद, साध्यसाधक ये बारह अधिकार हैं। यह ग्रंथ द्रव्यानुयोग रूप है, आत्माको परद्रव्योंके संयोगसे पृथक करता है अर्थात् मोक्ष मार्गमें लगाता है। यह आत्माका नाटक परम शांतिरसको पुष्ट करनेवाला है। शुद्ध ज्ञान और शुद्ध चारित्रका कारण है।

इसमें ज्ञानकी प्रधानता होनेसे शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे कथन किया जावेगा। उसमें भी अध्यात्म भाषासे आत्माहीका अधिकार है इसको शुध्द निश्चय कहते हैं, परमार्थ कहते हैं इसमें पर्यायार्थिक नयको गौण कहकर व्यवहार कहकर असत्यार्थ कहा है सो जहांतक पर्यायबुध्दि रहती है वहींतक इस जीवकी संसार पर्याय रहती है। जब शुध्द नयका उपदेश पाकर द्रव्यबुध्दि हो

जाती है, अपने आत्माको अनादि, अनंत, एक, संपूर्ण परद्रव्य परभावोंके निमित्तसे हुए अपने भावोंको भिन्न जानता है, अपने शुध्द स्वरूपका अनुभव कर शुद्धोपयोगमें लीन हो जाता है तब कर्मका अभाव कर मोक्षको प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार सिद्धांतकी परंपरामें शद्धनयके उपदेश करनेवाले शास्त्र प्रवचनसारादि बहुतसे हैं उनमें समयप्राभृत नामक शास्त्र महान अध्यात्म शास्त्र है, लेकिन मूल तो प्राकृत भाषामें है, उसकी आत्मख्याति नामकी संस्कृत टीका अमृतचंद आचार्यने की है सो कालके प्रभावसे जीवोंकी बुद्धि मंद होती जाती है इससे संस्कृत प्राकृतके अभ्यास करनेवाले बहुत कम जीव रह गये हैं और गुरुपरंपराका उपदेश भी नहीं मिलता, इसलिये मैंने अपने क्षयोपशमके अनुसार ग्रंथोंका अभ्यास कर इस ग्रंथका अध्यात्म शास्त्रोंसे संकलन किया है। जो भव्य जीव इसको पढेंगे, सुनेंगे, बांचेंगे इसके भावार्थको धारण करेंगे उनके मिथ्यात्वका अभाव होगा सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होगी, इसी अभिप्रायसे इस ग्रंथका संकलन किया है। इसमें और कोई तरहका अभिप्राय नहीं है। कभी बुद्धिकी हीनतासे मूल सिद्धांतका हीनाधिक भाव लिखा जाय तो बुद्धिमान भव्य मूल सिध्दांतको देखकर शुध्दकर बांचे वा पढें। क्योंकि–

गच्छतः स्खलनं क्वापि भव्यत्येव प्रमादतः।

प्रश्न—आप इस ग्रंथमें आत्माकाही वर्णन करेंगे सो शुध्द नयकी प्रधानताको लेकर कथन करेंगे, व्यवहारको तो आपने अशुध्दनय या असत्यार्थ पाहिलेही कहा है। व्यवहार चारित्र और उसके फल पुण्यबंधका अध्यात्म शास्त्रमें बिलकुल निषेध किया है, मुनिव्रत पालनेवालेको भी मोक्ष नहीं बतलाया, सो ऐसे ग्रंथ तो संस्कृत प्राकृतमेंही होने चाहिये क्योंकि भाषामें लिखनेसे

तो सामान्य बुध्दिके धारक सभी लोग वांचेंगे, सो व्यवहार चारित्रको निष्प्रयोजन जानकर अरुचि होनेसे स्वीकार नहीं करेंगे। जो कुछ पहिले पाल रहे होंगे उससेभी भ्रष्ट हो जावेंगे स्वच्छंद और प्रमादी हो जावेंगे। यदि श्रध्दानमें विपर्ययता हो जायगी तो वडा भारी दोष होजावेगा यह ग्रंथ तो जो पहिले मुनि भये हों, दृढ चारित्र पालते हों पर शुध्द आत्म स्वरूपके सन्मुख न हुए हों और व्यवहार मात्र हीं से सिध्दि होनेका आशय जिनका होगया हो उनको शुध्दात्माके सन्मुख करनेके लिये ठीक है, यह ग्रंथ उनहींके सुनने लायक हो सकेगा इसलिये भाषामें लिखना ठीक नहीं है ?

समाधान—आपका कहना ठीक है, इस ग्रंथमें शुद्ध नयका ही कथन रहेगा, परंतु जहांर अशुद्ध नयरूप व्यवहार नयकी गौणताका कथन होता है वहां आचार्योंने ऐसा कहा है कि व्यवहारनय सुरू सुरूमे हस्तावलंवन रूप है ऊपर चढनेके लिये सीढी रूप है। इसलिये इस अपेक्षासे कार्यकारी है, इसको गौण कहनेसे ऐसा नहीं श्रद्धान करना चाहिये कि आचार्य इसको सर्वथा छुडाना चाहते हैं। आचार्योंका अभिप्राय तो मात्र इतना ही है कि ऊपर चढने पर नीचली सीढी छोड देनी चाहिये, जब अपने लक्ष्यपर पहुंच जाओ तो शुद्ध अशुद्ध दोनों ही नयोंका अवलबन छोड दो, क्योंकि नयोंका अवलंबन तो साधक दशामें ही होता है। इस प्रकार आचार्यके आशयको यथार्थ समझनेसे मूल श्रद्धानमें विपर्ययता नहीं होसकती। जो यथार्थ समझेगा उसके व्यवहार चारित्रसे कभी अरुचि नहीं हो सकती, परंतु जिनका होनहार ही खोटा होगा वे तो शुद्ध नयका कथन सुनें वा अशुद्ध नयका कथन सुनें विपर्यय ही समझेंगे उनको तो सब उपदेश व्यर्थ ही हैं।

प्रश्न—यदि ऐसा ही है तो भाषा रूप वचनिका द्वारा उपदेश

करनेका और क्या प्रयोजन है ?

उत्तर – भाषा रूप वचनिका करनेके कई प्रयोजनोंमें एक ये भी प्रयोजन है कि जैन धर्ममें मोक्ष मार्गके वर्णनमें मुख्य पहिले सम्यग्दर्शन प्रधान कहा है सो व्यवहारनयसे तो सम्यग्दर्शन भेद रूप अन्य ग्रन्थोंमें अनेक प्रकारसे कहा है सो प्रसिद्ध ही है। इस ग्रन्थमें शुद्धनयका विषय जो शुद्ध आत्मा उसके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार नियमसे कहा है।

सो लोक व्यवहारमें यह प्रसिद्धि वाहुल्यतासे नहीं है। क्योंकि लोक तो व्यवहार ही को जानता है। जैसे-पहिले लोकके अशुभका व्यवहार है उसको निषेधकर व्यवहारनय शुभमें प्रवर्ताता है जिससे लोग अशुभकी पक्षको छोड शुभमें प्रवर्तते हैं। कदाचित शुभहीके पक्षको पकडकर उसीका एकांत करें तो पहिले जैसे अशुभ की पक्षका एकान्त तथा अब शुभका एकांत हुआ इसीको मोक्ष मार्ग माना, इससे तो मिथ्यात्वकी ही दृढता हुई। इसलिये शुभकी पक्ष छुडानेके लिये शुद्धनयके अवलंवनका उपदेश है, इसीको निश्चयनय कहकर सत्यार्थ कहा है। अशुद्ध नयको व्यवहार कहकर असत्यार्थ कहा है, क्योंकि व्यवहार शुभाशुभ रूप है, बंधका कारण है सो इसमें तो प्राणी मात्र अनादि कालसे ही प्रवर्त रहे हैं। शुद्ध नय रूप तो कभी हुवा नहीं इसलिये इसका उपदेश सुनकर इसमें लीन होवें, व्यवहारका अवलंवन छोडें, तो बंधका अभाव करें। स्वरूपकी प्राप्ति करें।

स्वरूपकी प्राप्ति हुए पीछे शुद्ध अशुद्ध दोनों नयाका अवलंवन नहीं रहता है क्योंकि नयोंका अवलंबन तो साधक अवस्थामें ही प्रयोजन भूत हो सकता है। इस ग्रन्थमें ऐसा ही वर्णन है इसलिये इसका अर्थ स्पष्ट रूपसे भाषा वचनिकामें लिखा जाता है इससे सर्वथा एकान्तकी पक्षभी मिट जायगी तथा स्याद्वादका

यथार्थ मर्म समझमें आकर यथार्थ श्रद्धान होगा तथा मिथ्यात्वका नाश होगा।

स्वरूकी प्राप्ति दो प्रकारसे होती है (१) प्रथम तो यथार्थ ज्ञान होकर श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन होता है सो यह तो अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थगुणस्थान वर्तीकें भी होता है। चतुर्थ गुणस्थानमें वाह्य व्यवहार तो अविरत रूप ही रहता हैं जो भी व्यवहारका अवलंवन तो है ही, और अन्तरंगमें संपूर्ण नयोंके पक्षपातसे रहित अनेकांत तत्वार्थकी श्रद्धा होती है। जब संयमको धारण करके प्रमत्ताप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि होता है तब जहांतक शुद्धोपयोगकी प्राप्ति नहीं होती श्रेणी नहीं चढता तब तक शुभ रूप व्यवहारका भी वाह्य अवलंबन रहता है।

(२) दूसरे साक्षात शुद्धोपयोग रूप वीतराग चारित्र होता है जिससे अनुभवमें शुद्धोपयोगकी साक्षात प्राप्ति होती है उसमें व्यवहारका भी अवलंवन नहीं रहता है। और शुद्धनयका भी अवलंमन नहीं है। क्योंकि आप साक्षात् शुद्धोपयोग रूप हो जाता है फिर नयका अवलंवन कैसा ? नयका अवलंवन तो तभी तक रहता है जबतक रागांश रहता है। इस प्रकार अपने स्वरूपकी प्राप्ति भये पीछे पहिले तो श्रद्धामें नयका पक्ष मिट जाता है पीछे साक्षात वीतराग रूप होजानेसे चारित्र संवन्धी पक्षपात मिट जाता है, ऐसा नहीं हैं जो साक्षात वीतराग तो हुआ नहीं और शुभव्यवहारको छोडकर स्वच्छंद प्रमाद रूप प्रवर्तने लग जाय, ऐसा होय तो नय विभागमें समझा नहीं, उलटा उसने मिथ्यात्व ही दृढ किया।

इस प्रकार मंदवुद्धियोंको भी यथार्थ ज्ञान होनेका प्रयोजन जान इस ग्रंथकी भाषारूप वचनिका की जाती है।

अब संस्कृत टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ग्रंथकी आदिमें मङ्गल होनेके लिये इष्ट देवको नमस्कार करते हैं—

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥१॥

मैं उस शुद्ध आत्माको नमस्कार करता हूं जो द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म ऐसे तीन प्रकारके कर्ममलसे रहित है तथा तमाम आत्माओंमें सार रूप है–सर्वोत्कृष्ट है । जो शुद्ध सत्ता रूप वस्तु है, चेतन रूप स्वाभाविक गुणको धारण करने वाला है अपनी ही अनुभव क्रियासे सदा प्रकाशमान है अर्थात् आपको अपने आपके द्वारा ही जानने वाला है अपने आपको प्रगट करने वाला है तथा आपसे भिन्न सचराचर जितने भी जीवाजीवादि पदार्थ हैं उनको सब क्षेत्र-काल संबंधी संपूर्ण विशेषणों सहित एक साथ जानने वाला है इस समयसार रूप शुद्धात्माको ही परमात्मा, परंज्योति, परमेश्वर, शिव, निरंजन, निष्कलंक, अक्षय, अव्यय, शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी, अनुपम, परमपुरुष, निरावाध, चिदानंद, सिद्ध, सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हत जिन, आप्त आदि नामसे कहते हैं ।

दोहा

शोभित निज अनुभूतियुत चिदानन्द भगवान ।
सार पदारथ आतमा, सकल पदारथ जान ॥१॥

आगे जिनवाणी रूप सरस्वतीको नमस्कार करते हैं—

अनंतधर्मणस्तत्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशयताम् ॥२॥

अनेक हैं धर्म जिसमें ऐसे ज्ञान तथा वचन हैं मूर्ति जिसकी ऐसी जिनवाणी रूपी सरस्वती देवी सदा प्रकाशमान रहो । जो मूर्ति परद्रव्योंसे तथा पर द्रव्यके गुण पर्यायोंसे भिन्न और परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने विकारोंसे कथंचित् भिन्न एकाकार जो आत्मा उसका तत्व असाधारण सजातीय विजातीय द्रव्योंसे विलक्षण अपने स्वरूपका अव-

लोकन करने वाली है

विशेषार्थ—इहां सरस्वतीकी मूर्तिको आशीर्वादात्मक नमस्कार किया है। सो लोकमें प्रसिद्ध जो सरस्वती देवी है वह यथार्थ नहीं है किंतु सम्यज्ञानरूपी मूर्ति ही यथार्थ सरस्वती देवी है। संपूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञान है जिसमें तीन लोकवर्ती मूर्त अमूर्त सारे पदार्थ प्रत्यक्ष प्रतिभासते हैं। वही अनंत धर्म वाले आत्मतत्वको प्रत्यक्ष देखता है। उसीके अनुसार श्रुतज्ञान भी परोक्षरूप यथार्थ जानता है इसलिए श्रुतज्ञान भी सरस्वतीकी मूर्ति है। द्रव्यश्रुत वचनरूप है सो यह भी उसीकी मूर्ति हैं क्योंति वचनोंके द्वारा ही अनंत धर्मों वाले आत्मको यह जताता हैं इस प्रकार संपूर्ण पदार्थोंके तत्वोंको जनाने वाली ज्ञानमयी वचनमयी अनेकांतमयी सरस्वतीकी मूर्ति हैं इसी सरस्वतीके नाम जिनवाणी, भारती, शारदा, सरस्वती, वाग्देवी आदि हैं ऐसी सरस्वती देवीको ही नमस्कार किया हैं।

सवैया--

जोग धरैं रहैं जोग सों भिन्न अनंत गुणातम केवलज्ञानी।
तासु ह्दैं द्रहसौं निकसी सरिता सम ह्वै श्रुतसिंधु समानी॥
यातैं अनंतनयातम लक्षण सत्य सरूप सिद्धांत वखानी।
वुद्ध लखे न लखे दुर वुद्ध सदा जगमाहिं जगै जिनवानी॥२॥

अव टीकाकार इस ग्रंथके व्याख्यान करनेके फलको चाहते हुए प्रतिज्ञा करते हैं---

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतिमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्यैवानुभूतेः॥३॥

आचार्य कहते हैं कि शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे तो मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूं परंतु मेरी परिणति मोहकर्मके उदयके

निमित्तमे मलिन-रागादिरूप हो रही है। सो इस शुद्ध आत्माकी कथनी रूप जो यह समयसार ग्रंथ है उसकी टीका करनेका फल यह चाहता हूं कि रागादि विकारी भावोंसे रहित मेरी परिणति शुद्ध होवे, मुझे शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति होवे, दूसरी कोई भी ख्याति लाभ पूजादिकी चाहना नहीं है। इस प्रकार आचार्यने टीका करनेकी प्रतिज्ञागर्भित फल प्राप्त करनेकी प्रार्थना की है।

हौं निहचै तिहुंकाल, शुद्ध चेतनमय मूरति।
परपरणति संजोग, भई जडता विसफूरति॥
मोह कर्म पर हेतु पाइ, चेतन पर रच्चई।
ज्यौं धतूर रस-पान करत, नर बहुविध नच्चई॥
अब समयसार वरनन करत,
परमशुद्धता होहु मुझ।
अनयास बनारसिदास कहि
मिटहु सहज भ्रम की अरुझ॥ ४॥

अब मूलगाथा कर्ता आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी ग्रथकी आदिमें मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियम्॥१॥

वन्दित्वा सर्वसिद्धान्ध्रुवामचलामनौपम्यां गतिं प्राप्तान्।
वक्ष्यामि समयप्राभृतमिदं श्रुतकेवलिभणितम्॥ १॥

अर्थ- जो ध्रुव, अचल और अनौपम्य-उपमारहित सिद्ध गतिको प्राप्त हुए हैं ऐसे सब सिद्ध समुदायको नमस्कार कर श्री द्वादशांके ज्ञाता श्रुतकेवलिद्वारा प्रतिपादित समयसार नामके प्राभृत [शास्त्र] को मैं कहूंगा [वर्णन करता हूं।]

प्रश्न—समय किसे कहते ? इसके उत्तरमें गाथा—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण
पुग्गणकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयम् ॥२॥

जीवश्चरित्रदर्शनज्ञानस्थितस्तं हि स्वसमयं जानीहि ।
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम् ॥ २ ॥

अर्थ—हे भव्य जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयमें स्थित हो ऐसे जीवको स्वसमय जानना चाहिये, और जो पुद्गल कर्मोंके प्रदेशोंमें स्थित हो उसे परसमय जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—समय दो तरहका होता है[१]स्वसमय[२]परसमय (१) जो जीव अपने आत्माके अंग सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्ररूपमें है, इन्हींमें परिणमन कर रहा है, ऐसा जीव स्वसमय कहलाता है। (२) जो जीव राग, द्वेष, मोहरूपमें परिणमन करता है। वह परसमय कहलाता है।

जो अपनी दुति आप विराजत है परधान पदारथ नामी
चेतन अंक सदा निकलंक महा सुखसागरको विसरामी
जीव अजीव जिते जगमें तिनको गुन ज्ञायक अंतरयामी ।
सो शिवरूप बसें शिव नायक ताहि विलोकि नमें शिवगामी ॥१॥

आगे आचार्य कहते हैं कि समयका ऐसा द्विविधपना ठीक नहीं है क्योंकि ये वाधा सहित है—

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थसुन्दरो लोए!
बंधकहाएयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥३॥

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुन्दरो लोके ।
बंधकथा एकत्वे तेन विसंवादिनी भवति ॥ ३ ॥

अर्थ—समय एकत्व निश्चय प्राप्त ही लोकमें सुन्दर है इसीसे एकत्वमें अन्यके बंधकी कथा है सो विसंवादिनी-निंदा कराने वाली है ।

विशेषार्थ–जो एकीभावसे अपने गुण पर्यायोंको प्राप्त हो उसे समय कहते हैं। इस विरुक्तिसे जितने भी द्रव्य हैं वे सब समय कहे जा सकते हैं। क्योंकि सभी द्रव्य अपने २ अन्तर्गत अनंत गुण पर्यायोंको एकरूपसे प्राप्त होते रहते हैं, एक क्षेत्रावगाहरूप रहते हुए भी सदा अपने स्वरूपसे नहीं चिगते हैं। इसलिये निश्चयसे सर्व पदार्थ अपने २ स्वभावमें रहते हुएही शोभा पाते हैं। जीव नामक पदार्थके साथ पुद्गल कर्मके निमित्तसे अनादि कालसे बंधावस्था है इसीसे इसकें विसंवाद उत्पन्न होता है और शोभाको प्राप्त नहीं होता है। इसलिये निश्चयसे विचार किया जाय तो एकपना ही सुन्दर है और इसीसे शोभा पा सकता है।

एकत्वपनाका पानाही सुन्दर है यह सिद्धांत इस छंदमें कहते हैं—

सुदपरिचिदाणुभूया सव्वस्सवि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥४॥

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा।
एकत्वस्योपलंभः केवलं न सुलभो विभक्तस्य ॥ ४ ॥

अर्थ—सभी लोकके कामभोग संबंधी बंधकी कथा तो सुननेमें आई है, परिचयमें आई है, अनुभव करनेमें आई है इससे वह कथा अत्यंत सुलभ है। लेकिन यह भिन्न आत्माका एकपना कभीभी न तो सुननेमें आया, न परिचयमें आया, न अनुभव करनेमें आया, इसलिये केवल एक यही एकत्वकी कथा सुलभ नहीं है।

विशेषार्थ–इस लोकमें सभी जीव संसाररूपी चक्रपर चढे हुए पांच परावर्तन रूप परिभ्रमण करते रहते हैं। मोहकर्मके उदय रूपी पिशाचके वशीभूत हैं। जिससे विषयोंकी चाहना रूप

दाहसे पीडित होकर उसका इलाज इंद्रियोंके विषयोंको जानकर उनकी ओर दौडते हैं आपसमें विषयोंकाही उपदेश करते हैं। इससे काम कहिये विषयोंकी इच्छा और भोग कहिये उनका भोगना यह कथा तो अनंतोवार सुनी, परिचयमें करी, अनुभवमें आई, इससे ये सुलभ है लेकिन संपूर्ण परद्रव्योंसे भिन्न एक चैतन्य चमत्कारस्वरूप अपने आत्माकी कथाका अपने आप कभी ज्ञान हुआ नहीं और जिनकें हुवा उनकी उपासना कभी की नहीं, इसलिये इसकी कथा कभी न सुनी, न परिचयमें ली, और न अनुभवमें आई, इससे इसका प्राप्त करना अत्यंत दुर्लभ है—

आत्माका एकपना आत्माके पास है यह दिखाते हैं—

तं एयत्तविभत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जइ दाएज्ज पमाणं चुकिज्ज छलं ण घेत्तव्वम्॥५॥

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेऽहमात्मनः स्वविभवेन।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलितं छलं न गृहीतव्यम्॥ ५ ॥

अर्थ-वह आत्मा एकत्व विभक्त है, उसको मैं आत्माके विभवसे दिखलाता हूं। जो मैं दिखाऊं तो प्रमाण करना, अगर मै कहीं चूक जाऊं तो छल ग्रहण नहीं करना।

स्पष्टार्थ—आचार्य आगमका सेवन, युक्तिका अवलंबन, परापर गुरुका उपदेश और स्वसंवेदन इन चार मार्गोंसे उत्पन्न अपने ज्ञानके विभवसे एकत्व विभक्त शुद्ध आत्माके विभवको दिखाते हैं, सो भव्य श्रोता अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे प्रमाण करो। आचार्य कहते हैं कि—कहीं कोई प्रकरणमें चूक जाऊं तो उतने मात्रसे छल ग्रहण मत करना। यहां तो अपना अपना अनुभवही प्रमाण है उससे शुद्ध स्वरूपका निश्चय कर लेना चाहिये यही कहनेका अभिप्राय है।

शुद्ध आत्माको बतलाने के लिये कहते हैं –

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओउ जो भावो ।
एवं भणंति शुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥६॥

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः ।
एवं भणंति शुद्धं ज्ञातो यः स तु स चैव ॥ ६ ॥

अर्थ—आत्माका जो ज्ञायक भाव है वह न तो अप्रमत्त है और न प्रमत्त ही है इसलिये इसको शुद्ध कहते हैं जो ज्ञायक भावसे जाना सो सो ही है कोई दूसरा नहीं है ।

विशेषार्थ—द्रव्यमें अशुद्धपना परद्रव्यके संयोगसे होता है। उसमें भी मूल द्रव्य तो अन्य द्रव्य रूप होता नहीं है। जो कुछ पर द्रव्यके संबंधसे अवस्था मलीन होती है उसमें द्रव्य दृष्टिसे तो द्रव्य जो है सो ही है। अवस्थाकी दृष्टि तो पर्याय दृष्टि है, यदि पर्यायदृष्टिसे द्रव्यको देखने लगेंगे तब तो मलीन ही दीखेगा उसी प्रकार आत्माका द्रव्यस्वभाव तो ज्ञायकपना मात्र है परन्तु उसकी अवस्था पुद्गल कर्मके निमित्तसे रागादिरूप मलीन होरही है सो यह पर्याय है, उसकी दृष्टिसे यदि द्रव्यको देखें तब तो मलीन ही दीखे। अगर द्रव्य दृष्टिसे देखें तब ज्ञायकपना तो ज्ञायकपना ही है, वह कुछ जडरूप तो होता नहीं है। सो यहां द्रव्यदृष्टिकी प्रधानतासे कहा है कि जो प्रमत्त अप्रमत्तका भेद है सो तो पर द्रव्यके संयोग जनित पर्याय है सो यह अशुद्धता है, द्रव्यदृष्टिमें यह गौण है, व्यवहार है, अभूतार्थ वा असत्यार्थ है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, भूतार्थ है, सत्यार्थ व परमार्थ है। इसलिये आत्मा तो ज्ञायक है इसमे भेद नहीं है। इसको प्रमत्त व अप्रमत्त नहीं कहा जा सकता है।

प्रश्न–दर्शन ज्ञान चारित्र ए आत्माके धर्म कहे गये हैं सो ये तीन हुये, सो इन भावोंद्वारा तो आत्माका अशुद्धपना आता है ? इस प्रश्नके उत्तरमें गाथा—

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसण णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो।७।

अर्थ—ज्ञानीके चारित्र, दर्शन, ज्ञान ये तीन भाव हैं वे व्यवहार रूपसे उपदिष्ट हैं, निश्चय नयसे ज्ञानभी नहीं है, दर्शन भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है। ज्ञानी तो एक ज्ञायक स्वभाव ही है इसीसे शुद्ध कहा जाता है।

विशेषार्थ—इस शुद्ध आत्माके कर्म बंधके निमित्तसे अशुद्धपना होता है सो तो दूर ही रहो, इसके तो दर्शन ज्ञान चारित्रका भी भेद नहीं है, क्योंकि वस्तु है सो अनंत धर्म स्वरूप एक धर्मी है सो व्यवहारी जन धर्मोंको ही समझते हैं, धर्मीको नहीं जानते हैं। इसलिये वस्तुके कोई असाधारण धर्मोंको उपदेशमें लेकर यद्यपि वस्तु अभेद है तथापि धर्मोंके नाम रूप भेद को उत्पन्न कर ऐसा उपदेश करते हैं जो ज्ञानीके दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। यह अभेदमें भेद है इसलिये व्यवहार है। वास्तविक विचार किया जाय तो अनंत पर्यायोंको एक द्रव्य अभेद रूपसे पिये बैठा है इससे भेद है ही नहीं।

प्रश्न—यदि ऐसा ही है तो एक परमार्थका ही उपदेश क्यों न किया जावे, व्यवहारका उपदेश व्यर्थ है? उत्तर रूपमें गाथा

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कम् ॥८॥

यथा नापि शक्यो अनार्यो अनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम् ॥
तथा व्यवहरेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जैसे कोई मलेच्छ है सो अपनी म्लेच्छ भाषा विना वस्तुके स्वरूपके ग्रहण करानेमें असमर्थ होता है उसी तरह व्यवहारके विना परमार्थ (निश्चय) का उपदेश करना अशक्य है।

जैसे किसी म्लेच्छको किसी ब्राम्हणने "स्वस्ति हो" ऐसा कहा लेकिन वह म्लेच्छ उस शब्दके अर्थको कुछ भी नहीं समझा। और ब्राम्हणकी तरफ मींढे की तरह नेत्र उघाडि विना निमेषके देखता रह गया कि इसने क्या कहा? उस समय उस ब्राह्मणकी भाषा और म्लेच्छकी भाषा दोनोंका अर्थ जानने वाला वही ब्राह्मण या अन्य कोई व्यक्तिने उस म्लेच्छकी भाषाको लेकर स्वस्ति शब्दका अर्थ ऐसा कहा कि स्वस्ति शब्दका अर्थ है कि "तेरा कल्याण हो तेरा नाश न हो, तू बहुत समयतक सुखपूर्वक जिन्दा रह" तब वह म्लेच्छ तत्काल उत्पन्न हुआ जो बहुत आनन्द उससे उत्पन्न जो आनन्दाश्रु उससे छलछलात भर आये हैं दोनों नेत्र जिसके ऐसा होता हुआ उस स्वस्ति शब्दके अर्थको समझता ही है। उसी तरह व्यवहारी जन "आत्मा" ऐसा शब्द कहनेसे जैसा आत्माका अर्थ है उसके ज्ञानसे बाह्य है इसलिये इसके अर्थको कुछ भी नहीं जानता हुआ मींढाकी तरह टिमकार रहित नेत्रसे देखते रहजाता है जब व्यवहार और परमार्थमें चलाया है महारथ जिसने ऐसा सारथी सरीखा कोई व्यक्ति अथवा आचार्य व्यवहारमार्गमें रहकर 'जो दर्शनज्ञानचारित्रको निरन्तर प्राप्त होय सो आत्मा है' ऐसा आत्मा शब्दका अर्थ कहे तब उसी समय उत्पन्न हुआ है प्रचुर आनन्द जिसको ऐसा व्यवहारी जन उस आत्मा शब्दके अर्थको जाने ही जाने। इसलिये व्यवहारको परमार्थका ज्ञान कराने वाला जानकर उसकी स्थापना करना योग्य है।

प्रश्न—व्यवहारनयको परमार्थका प्रतिपादकपना कैसे है?

उत्तर रूप गाथा—

जो हि सुएणाहि गच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंतिलोयप्पईवयरा ॥९॥

जो सुयणेणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुयकेवली तम्हा ॥१०॥

यो हि श्रुतेनाभिगच्छत्यात्मानामिमं तु केवलं शुद्धम् ।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणंति लोकप्रदीपकराः ॥९॥
यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिनाः ।
ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात् ॥१०॥

अर्थ-- जो जीव निश्चयनयसे श्रुतज्ञान द्वारा इस अनुभव-गोचर केवल एक शुद्ध आत्माको सन्मुख होकर जानें उसको लोकको प्रकट जानने वाले ऋपीश्वर श्रुतकेवली इस नामसे कहते हैं। जो जीव सम्पूर्ण श्रुतज्ञानको जानता है उसको भगवान अर्हंत परमेष्ठी श्रुत- केवली कहते हैं। क्योंकि आत्मा ज्ञानसे भिन्न द्रव्य नहीं है इसलिये आत्माही को जाना इससे श्रुतकेवली कहे गये हैं।

विशेषार्थ—जो शास्त्रज्ञानसे अभेद रूप ज्ञायक मात्र शुद्ध आत्माको जानता है सो श्रुतकेवली है यह तो परमार्थ है जो सर्व शास्त्र ज्ञानको जाने सो श्रुतज्ञान है वही आत्मा है। ज्ञानका जानना ही आत्माका जानना हुआ, यही परमार्थ है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानीमें भेद बतलाने वाले व्यवहारने भी परमार्थही बतलाया। अन्य कोई दूसरी वस्तु तो नहीं बतलाई। इसलिये व्यवहारनय ही प्रगट रूपसे आत्माको जानता है ऐसा जानना चाहिये।

प्रश्न - जो व्यवहार परमार्थका बतलाने वालाहै उसे अंगीकार क्यों नहीं करना चाहिये? उत्तर रूप गाथा.

ववहारो भूयत्थो भूयत्थो देसिओउ सुद्धणओ॥
भूयत्थमासिआ खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः
भूतार्थमाश्रित खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥ ११ ॥

अर्थ – व्यवहारनय अभूतार्थ है, असत्यार्थ व उपचारमात्र है। शुद्धनय भूतार्थ है, परमार्थ है, सत्यार्थ है, ऐसा बडे २ ज्ञानी, ऋषीवरोंने बतलाया है। जिस जीवने भूतार्थका आश्रय लिया हो वह जीव निश्चयसे सम्यग्दृष्टि है।

विशेषार्थ — यहां व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा और शुद्ध-नयको भूतार्थ कहा है। जिसका विषय विद्यमान न हो, असत्यार्थ हो उसको अभूतार्थ कहते हैं। जो वस्तु जैसी हो उसको उसी रूप बतलाने वाला नय भूतार्थ है, सत्यार्थ है। इसके आश्रय करनेसे जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

व्यवहार नय भी किसीको किसी समय प्रयोजनवान होता है सर्वथा निषेध योग्य तो नही है ? क्योंकि ऐसा उपदेश है--

सुद्धो सुद्धाएसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं
ववहारदेसिदा पुण जेउ अपरमे ट्ठिया भावे ॥१२॥

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः।
व्यवहारदेशितः पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे ॥१२॥

अर्थ--भावदर्शी जो शुद्ध नय तक पहुचकर श्रद्धावान हुए तथा पूर्ण ज्ञान चरित्रवान हुए उन्हें तो शुद्धका है, उपदेश जिसमें ऐसा शुद्धनय जानने योग्य है। यहां प्रकरण शुद्धनयका है सो शुद्ध नित्य एक ज्ञायकमात्र आत्मा ही शुद्ध जानना। जो पुरुष श्रद्धा ज्ञान चारित्रके पूर्णभावको नहीं पहुंचे हुए हैं साधक अवस्थामें रह रहे हैं उनको व्यवहारका देशीपना है अर्थात् वे व्यवहार द्वारा उपदेश देने योग्य हैं।

कलशा

उभयनयाविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः।

सपदि समयसार तें परं ज्योतिरुच्चै
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥

अर्थ-- निश्चय व्यवहार रूप जो दो नय उनके विषयके भेदसे परस्परमें विरोध उत्पन्न हो जाता है, उस विरोधको दूर करने वाला स्यात् इस पदसे चिन्हित ऐसा जो जिन भगवानका बचन उसमें जो पुरुष रमते हैं, वडे प्रेम पूर्वक अभ्यास करते हैं, वे विना कारण अपने आप उगला है मिथ्यात्वकर्मके उदयको जिन्हों-ने ऐसे पुरुष अतिशय रूपसे प्रकाशमान शुद्ध आत्माका शीघ्र ही अव-लोकन करते हैं। कैसे शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं ? जो नवीन नहीं उत्पन्न हुआ है, पहिले कर्मसे आच्छादित था वही इस समय व्यक्त हुवा है, और जो एकांत रूप कुनय पक्षसे खंडन करनेमें नही आता है तथा जो निर्वाध है।

सवैयाइकतीसा-

निहचै में रूप एक विवहारमें अनेक, याही नै-विरोधमैं जगत भरमायौ है ॥
जग के विवाद नासिवेकौं जिन आगम है, जामैं स्याद्वादनाम लच्छन सुहायौ है ॥
दरसनमोह जाकौ गयौ है सहजरूप, आगम प्रमान ताके हिरदेमें आयौ है ॥
अनैसौं अखंडित अनूतन अनत तेज, ऐसौ पदपूरन तुरत तिनि पायौ है ॥

पुनः कलशरूप मालिनी छंद-

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राग्पदव्यामिह
निहितपदानां हन्त हस्तावलंबः ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं ।
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किंचित् ॥५॥

अर्थ—व्यवहार नय यद्यपि इस पहिली पदवीमें (जब तक शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति न हुई हो तब तक) जिन्होंने अपना पैर रक्खा है ऐसे पुरुषोंको हस्तावलंबन रूप है सो बडा खेद है तथापि, जो पुरुष चैतन्य चमत्कारमात्र. पर द्रव्योंके भावों से रहित परम अर्थ

(शुद्धनयका विषय भूत) को अंतरंगमें अवलोकन करते हैं, या उसका श्रद्धान करते हैं. तथा उस स्वरूपमें लीन होकर चारित्र भावको पा जाते हैं, उनको ये व्यवहार नय कुछ भी प्रयोजन भूत नहीं है।

शुद्ध स्वरूपका ज्ञान श्रद्धान तथा आचरण होने बाद अशुद्ध-नय कुछ भी प्रयोजनको सिद्ध नहीं करता है यह इस कलशका निष्कर्ष है।

(५) सवैया तेईसा—

ज्यों नर कोउ गिरै गिरिसों तिहिं, होइ हितू जो गहै दिढवाहीं,
त्यों बुधको विवहार भलो तबलौं जवलौं शिव प्रापति नाहीं।
यद्यपि यौं परवान तथापि सधै परमारथ चेतन माहीं,
जीव अव्यापक है परसौं विवहारसौं तो परकी परछाहीं ॥५॥

पुनःकलशा। शार्दूलविक्रीडितछंद——

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयम्
तन्मुक्त्वा नव तत्वसंततिमिमामात्मायमेकोस्तु नः ॥६॥

अर्थ—अपने गुण पर्यायोंमें व्यापने वाला, शुद्धनयसे एकपना में निश्चित किया गया, तथा पूर्ण ज्ञानसे भरपूर अर्थात्-सर्व लोका-लोकका जानने वाला ज्ञानस्वरूप, ऐसे आत्माको अन्य द्रव्योंसे न्यारा देखना, श्रद्धान करना, सो ही नियमसे सम्यग्दर्शन है। जितना अंश सम्यग्दर्शन रूप है. उतना ही आत्मा है। इसलिये प्रार्थना करते हैं कि—इस नव तत्वकी परिपाटीको छोडकर यह आत्मा ही हमको प्राप्त होवे।

(६) सवैया इकतीसा—

शुद्धनय निहचै अकेलै आप चिदानद, अपनैं ही गुन पर्यायकौं गहतु है,
पूरन विग्यानघन सो है विवहार माहिं, नव तत्व रूपी पंच दर्वमें रहतु है।

पंच दर्व नव तत्व न्यारे जीव न्यारो लखै, सम्यकदरस यहै और न गहतु है ॥
सम्यकदरस जोई आतम सरूप सोई, मेरे घट प्रगटो बनारसी कहतु है ॥६॥

अनुष्टुप छंद—

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुञ्चति ॥७॥

अर्थ—यहांसे आगे जो शुद्धनयके आधीन भिन्न आत्मज्योति है, सो हमारें प्रगट होहु, जोकि नव तत्वोंमें रहता हुआ भी अपने एकपनेको नहीं छोडता है।

विशेषार्थ—यह आत्मा, जो नौ नत्वोंमें प्राप्त होकर अनेक रूप दीखता है, सो इसके स्वरूपके पृथक्क विचार करनेपर ऐसा निश्चय होता है कि ये अपने चैतन्य चमत्कार मात्र अपनी ज्योतिको नहीं छोडता है, ऐसा शुद्धनयसे जाना जाता है, यही सम्यक्त्व है।

[७]-सवैया इकतीसा—

जैसे तृण काठ वांस आरने इत्यादि और, ईंधन अनेक विधि पावकमें दहिये ।
आकृति विलोकित कहावै आग नानारूप, दीसै एक दाहक स्वभाव जब गहिये।
तैसें नव तत्वेंम भयौ है वहु भेषी जीव, शुध्दरूप मिश्रित अशुध्द रूप कहिये ।
जाही छिन चेतना सकतिकौ विचारकी जे, ताही छिन अलख अभेदरूप लहिये७॥

इसी बातको सूत्रकार गाथामें कहते हैं—

भूयत्थेणाहिगया जीवाजीवाय पुण्यपावं च ॥
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खोय सम्मत्तं॥१३॥

अर्थ-भूतार्थ (निश्चय) नय से जाना हुवा जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, वध, और मोक्ष ये नव तत्व हैं सो ही सम्यक्त्व है।

विशेषार्थ-इन नौ तत्वों में शुद्धनयसे विचार करनेपर जीव एक चैतन्य चमत्कार मात्रही प्रकाश रूप प्रगट दीखता है । इसको

छोड़कर अलग २ नौ तत्वों को देखें तो वे कुछ भी नहीं हैं। जब तक ऐसे जीव तत्वका जानना नही होता है तबतक व्यवहार दृष्टि ही है, नौ तत्व अलग२ माने जाते हैं। जीव पुद्गलकीही बंध पर्याय दृष्टिसे अलग २ ठीक २ दीखते हैं। लेकिन जब जीव पुद्गलका निज स्वरूप शुद्धनयसे अलग देखें तब ये पुन्य पाप आदि सात तत्व कुछ भी पदार्थ नही दीखते हैं। निमित्त नैमित्तिक भावसे हुए थे सो निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध मिटने पर जीव पुद्गल जब अलग २ हो जाते हैं तब कुछ भी वस्तु नहीं रहती वस्तु तो द्रव्य है और द्रव्यके निज भाव द्रव्यके साथ ही रहते हैं, तब नैमित्तिक भावका तो अभाव ही हो जाता है, इसलिये शुद्धनय से जीवको जान लेनेपर सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लेते हैं। अलग २ जानने पर जब तक आत्माको न जाना तबतक पर्याय बुद्धि ही रहती है। इसी आशयका कलश रूप काव्य है—

॥ मालिनी छन्द ॥

चिरमिति नवतत्वच्छन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ॥
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं ।
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥ ८ ॥

अर्थ—इस प्रकार नव तत्वोंमें बहुत समयसे छिपा हुआ यह आत्मज्योति, शुद्धनयसे निकलकर प्रगट हुआ है। जैसे नाना प्रकारके वर्णोंके समुदायमें छिपे हुए एकाकार सुवर्णको निकालता हैं सो हे भव्यात्माओ इसको हमेशा ही अन्य द्रव्योंसे तथा उनसे होने वाले नैमित्तिक भावोंसे भिन्न एक रूप अवलोकन करो। यह तो हर एक पर्यायमें एक रूप चिच्चमत्मकार मात्र प्रकाश मान है तात्पर्य ये है कि यह आत्मा सम्पूर्ण अवस्थाओंमें नाना प्रकारका दीखता था, सो शुद्धनयने एक चैतन्यचमत्कार मात्र दिखाया है।

सो अब सदा एकाकारका ही अनुभव करो। पर्याय बुद्धिका एकांत मत रक्खो, यही श्रीगुरुका उपदेश है।

जैसे बनवारीमैं कुधातुके मिलाप हेम, नानाभांति भयौ पै तथापि एक नामहै
कसिकैं कसौटी लीकु निरखै सराफ ताहि वानके प्रमान करि लेतु देतु दामहै
तैसै ही अनादि पुद्गलसौं संजोगी जीव नवतत्व रूपमैं अरूपी महाधाम है
दीसै उन्मानसौं उदोतवान ठौर ठौर दूसरौ न और एक आतमा ही रामहै॥८॥

सिद्ध अवस्थामें प्रमाणनय निक्षेप इनका अभाव ही है इस आशयका कलशरूप काव्य—

॥ मालिनी छन्द ॥

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं।
क्वचिदपि न च विद्मो याति निक्षेपचक्रम्॥
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वङ्कषेऽस्मि—
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥ ९॥

अर्थ—आचार्य शुद्धनयका अनुभवकर कहते हैं—जो इन सब भेदोंको गौण करनेवाला, शुद्धनयका विषयभूत चैतन्य चमत्कार-मात्र तेजः पुंज आत्मा है सो उसके अनुभव होते हुए नयोंकी लक्ष्मी उदयको प्राप्त नहीं होती है. प्रमाण अस्तको प्राप्त होता है, निक्षेपका समुदाय भी कहीं जाता रहता है। ये सब कहां चले जाते सो हम नहीं जानते। इस सिवाय और तो क्या कहें, द्वैतका भी प्रतिभास नहीं होता।

भावार्थ—भेदको अत्यंत गौणकर कहा है कि प्रमाण नयादिकके भेदकी तो क्या चली है? शुद्ध आत्माका अनुभव होते ही द्वैत ही नहीं भासता है एकाकार चिन्मात्रही दीखता है।

जैसे रविमंडलके उदय महिमंडलमैं आतप अटल तम पटल विलातु है।
तैसें परमातमकौ अनुभौ रहत जौलो तौलौं कहुं दुविधा न कहुं पक्षपात है॥

नयकौ न लेस परवानकौ न परवेस, निक्षेपके वसकौ विधुस होत जात है।
जेजे वस्तु साधक हैं तेउ तहां बाधक हैं बाकी राग दोषकी दसाकी कौन बात है

शुद्ध नयका उदय होता है इसकी सूचना करनेके लिये काव्य—

॥ उपजाति छन्द ॥

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥

अर्थ—शुद्ध नय आत्माके स्वभावको प्रकट करता हुआ उदय होता है। कैसा प्रकट करता है ?

पर द्रव्य तथा पर द्रव्यके भाव और परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने विभाव ऐसे तमाम परभावोंसे भिन्न प्रकट करता है। फिर कैसा प्रकट करता है ? आपूर्णं मानें—संपूर्णपनसे पूर्ण संपूर्ण लोकालोकके जानने वाले स्वभावको प्रकट करता है ? क्योंकि ज्ञानमें भेद तो कर्म संयोगसे है और शुद्ध नयमें कर्म गौण है। फिर कैसा प्रकटकरता है? आद्यंतविमुक्तं-मानैं आदि अन्तसे रहित, जो कुछ भी आदि लेकर कहींसे हुवा नहीं है और न कभी किसीके द्वारा नाशको प्राप्त होता है ऐसे पारिणामिक भावको प्रकट करता है। फिर कैसा प्रगट करता है ? एकरूपं—संपूर्ण भेदभावों (द्वैत-भावों) से रहित एकाकार है और जिसमें संपूर्ण संकल्प विकल्प भाव नष्ट होगये हैं ऐसे स्वभावको प्रगट करता है।

द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म आदि पुद्गल द्रव्योंमें आपा मानना सो संकल्प कहलाता है ज्ञेयोंके भेदसे ज्ञानमें भेद करना सो विकल्प है।

[१०]-अडिल्ल छंद—

आदि अंत पूरन स्वभाव संयुक्त है।
पर सरूप पर जोग कल्पना मुक्त है।
सदा एकरस प्रगट कही है जैन में।

शुध्द नयातम वस्तु विराजै वैनमें ॥१०॥

प्रश्न—शुद्धनय किसे कहते हैं ? उत्तर रूप गाथा—

जो पस्सदि अप्पाणं अवद्धपुट्टं अणण्णयं णियदं।
अविशेषमसंजुत्तं तं सद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥

यः पश्यत्यात्मानमवद्धस्पष्टमनन्यकं नियतम्।
अविशेषमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि ॥ १४ ॥

अर्थ—जो नय आत्माको बंध रहित, परके स्पर्श रहित, अन्यपनेसे रहित, चलाचल रहित, विशेषरहित, और दूसरेके संयोगसे रहित ऐसे पांच भाव रूप अवलोकन करता है वही शुद्धनय है।

विशेषार्थ— अवद्धस्पष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसी आत्माकी अनुभूति-अनुभवन क्रिया है उसीको शुद्धनय कहते हैं। यह अनुमान क्रिया या अनभूतिही आत्मा है शुद्धनय, आत्मानुभूति, आत्मा ये सब एकही चीज हैं अलग कोई वस्तु नहीं है।

शुद्धनयको मुख्यकर कलशरूप काव्य कहते हैं—

॥ मालिनी छद ॥

न हि विदधति वद्धस्पष्टभावादयोऽमी।
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ॥
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्ता-
ज्जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥ ११ ॥

अर्थ-हे जगतके प्राणियो। तुम उस सम्यक्त्व स्वभावका अनुभव करो जिसमें ये वद्धस्पष्ट आदि भाव साफ २ इस स्वभावके ऊपर तैरते हैं, तो भी स्थितिको प्राप्त नहीं होते हैं। क्योंकि द्रव्य स्वभाव नित्य है एक रूप है और ये भाव अनित्य हैं, अनेकरूप हैं। पर्याय है सो भी द्रव्य स्वभावमें प्रवेश नहीं

करती है ऊपरही रहती है। यह शुद्ध स्वभाव सब अवस्थाओंमें प्रकाशमान है, ऐसे स्वभावका मोह रहित होकर अनुभव करो। क्योंकि मोहकर्मके उदयसे उत्पन्न मिथ्यात्व रूप अज्ञानभाव जबतक रहता है तबतक य अनुभव यथार्थ नहीं होता है। आचार्यका यही उपदेश है कि शुद्धनयका विषयभूत आत्माकाही यथार्थ अनुभव करो।

(११)-कवित्त—

सदगुरु कहैं भव्य जीवनिसौं, तोरहु तुरत मोहकी जेल।
समकित रूप गहौ अपनौं गुण, करहु सुद्ध अनुभवकौ खेल॥
पुदगलपिंड भाव रागादिक, इनसौं नहीं तुम्हारो मेल॥
ए जड प्रगट गुपत तुम चेतन, जैसे भिन्न तोय अरु तेल॥११॥

प्रश्न-- ऐसा अनुभव करनेसे क्या लाभ है? उत्तर रूप काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छंद—

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधी-
यद्यन्तः किल कोप्यहो कलयति व्याहत्य मोह हटात्॥
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोयमास्ते ध्रुवं।
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः॥१२॥

अर्थ--जो कोई सुबुद्धि सम्यग्दृष्टि जीव, पहिले होगया, वर्तमानमें होरहा, तथा आगे होगा ऐसे तीन काल संबंधी कर्मके बंधको अपने आत्मासे अलग करके उस कर्मके उदयके निमित्त से उत्पन्न हुआ जो मिथ्यात्व वा अज्ञान, उसको अपने पुरुषार्थ से अलग कर अंतरंगमें अभ्यास कर देखे तो यह आत्मा अनुभव सेही जानने योग्य है प्रगट महिमा जिसकी, ऐसा व्यक्त अनुभव गोचर, निश्चल, शाश्वत, नित्य, कर्म कलंक रूपी कीचडसे रहित ऐसा आप स्तुति करने योग्य देव है, ऐसा अनुभव करै।

भावार्थ—शुद्धनयकी दृष्टिसे देखा जाय तो संपूर्ण कर्मोंसे रहित चैतन्यमात्र देव अविनाशी आत्मा, अंतरंगमें अपने आप विराजमान है, लेकिन पर्यायबुद्धि बहिरात्मा यह प्राणी इसके बाह्यरूपको देखता है अंतरग रूपको नहीं देखता. यही बडा अज्ञान है।

(१२) सवैया इकतीसा—

कोऊ बुधिवंतनर निरखै शरीर-धर, भेदग्यानदृष्टिसौ विचारै वस्तु–वासतौ ॥
अतीत अनागत वरतमान मोहरस, भीग्यौ चिदानद लखै बध मैं विलासतौ ॥
बधकौ विदारि महा मौह कौ सुभाऊ डारि,
आतमकौ ध्यान करै देखै परगासतौ ॥
करम-कलंक- पकरहित प्रगट रूप,
अचल अबाधित विलौकै देव सासतौ ॥

शुद्धनयका विषयभूत आत्माकी अनुभूतिही ज्ञानकी अनुभूति है इस आशयको बतलावेवाला आगे काव्य कहते हैं—

वसततिलका छंद —

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुध्द्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प-
मेकोऽस्ति, नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥ १३ ॥

अर्थ–इस प्रकार पूर्वमें कही गई ऐसी आत्माकी अनुभूति सो ही ज्ञान की अनुभूति है ऐसा स्पष्ट जानकर आत्मामें आत्मा को निश्चल करके सदा सब तरह एक ज्ञानघन आत्माकोही देखना चाहिये।

विशेष—पहिले सम्यग्दर्शनको प्रधानकर वर्णन किया था इस छंदमें ज्ञानको मुख्य करके वर्णन किया है कि शुद्धनयके विषयभूत आत्माकी अनूभूतिही सम्यग्ज्ञान है।

[१३] सवैया तेईसा—

सुध्दनयातम आतमकी अनुभूति विज्ञान विभूति है सोई ।
वस्तु विचारत एक पदारथ नामके भेद कहावत दोई ।
यों सरवग सदा लखि आपुहि आतम ध्यान करै जब कोई ।
मेटि असुध्द विभावदसा तब सुध्द सरूपकी प्रापति होई ॥१३॥

ऊपरके ही भावको गाथामें कहते हैं—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं
अपएससन्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥

यः पश्यत्यात्मानमबद्धस्पष्टमनन्यमविशेषम् ।
अपदेशसान्तमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम् ॥ १५ ॥

अर्थ—जो पुरुष आत्माको अवद्धस्पष्ट, अनन्य, अविशेष, नियत और असंयुक्त देखता है वह संपूर्ण जिनशासनको देखता है। जिस जिनशासनके मध्यमें वाह्य तो द्रव्यश्रुत है और आभ्यंतर में भावश्रुत है।

विशेषार्थ—जो यह अवद्धस्पष्ट, अनन्य, अविशेष, नियत और असयुक्त ऐसे पांच भावों सहित आत्माकी अनुभूति है वही निश्चय से सारे जिनशासनकी अनुभूति है। क्योंकि श्रुतज्ञान भी तो आत्मा ही है। इसलिये अपने आत्माकी अनुभूति ही ज्ञानानुभूति है ऐसा जानना चाहिये।

इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

॥ पृथवी छन्द ॥

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहिर्मह
परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥१४॥

अर्थ—वह उत्कृष्ट तेज-प्रकाश हमें भी प्राप्त होवे, जो सदा

चैतन्यके परिणमनसे भरा हुआ है। जैसे नमक की डली एक क्षार रसकी लीलाको अवलंबन करती है। उसी तरह एक ज्ञानरस स्वस्वरूपका अवलंबन करता है। वह तेज अखंडित है-जिसमें ज्ञेयोंके आकार खंडित नहीं होते हैं। अनाकुल है-जिसमें कर्मके निमित्त से होने वाले रागादिसे उत्पन्न आकुलता नहीं है। अविनाशी होने से अंतरंग तो चैतन्य भावसे साफ २ प्रकाशमान होता है और बाह्यमें वचन वा कायकी क्रियासे प्रकट देदीप्यमान होता है, (जानता है) वह तेज स्वाभाविक है, किसी ने बनाया नहीं है, जिसका विलास हमेशा उदय रूप रहता है। तथा एक रूप प्रतिभाशमान है। यहां पर आचार्यने यही प्रार्थना की है कि ज्ञानानंद मय एकाकार ज्योति हमें हमेशा प्राप्त होहु। फिर काव्य—

(१४)-सवैया इकतीसा—

अपने ही गुन पर्याय सौं प्रवाह रूप,
परिनयो तिहुं काल अपने आधार सौं।
अन्तर-बाहर परकासवान एक रूप,
खिन्नता न गहै भिन्न रहै भौ विकार सौं॥
चेतनाके रस सरवंग भर रह्यौ जीव,
जैसे लौंन-कांकर भरयो है रस खार सौं।
पूरन-सुरूप अति उज्ज्वल विग्यानघन,
मोकौं होहु प्रगट विसेस निरवार सौं॥१४॥

अनुष्टुप् छंद—

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम्॥१५॥

अर्थ—पूर्वोक्त ज्ञानस्वरूप नित्य एकही आत्मा स्वस्वरूपकी प्राप्ति करने के इच्छुक पुरूषोंको साध्यसाधकभावके भेदसे दो प्रकार सेवन करने योग्य है, सो सेवन करना चाहिये।

विशेष—ज्ञानस्वरूप आत्मा तो एक ही है इसीका पूर्ण रूप तो साध्य है और अपूर्ण रूप साधक है, इस प्रकारके भावभेदसे एकही आत्मा दो प्रकारसे सेवने योग्य है ऐसा जानना चाहिये ॥१५॥

(१५)-कवित—

जहँ ध्रुवधर्म कर्मक्षय लच्छन सिध्दि समाधि साध्य पर सोई।
सुध्दपयोग जोग महि मंडित साधक ताहि कहै सब कोई॥
यौं परतच्छ परोच्छ रूपसौं साधक साधि अवस्था दोई।
दुहुकौ एक ज्ञान संचय करि, सेवे सिव वंछक थिर होई ॥१५॥

दर्शनज्ञानचारित्र रूप भाव साधकभाव है यही आशय आगे के गाथामें वतलाया जाता है—

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो १६

अर्थ—सज्जन पुरुषोंको दर्शनज्ञानचारित्रही नित्य सेवन करने योग्य हैं। निश्चयनयसे इन तीनोंको ही एक आत्मा जानना चाहिये।

विशेष—दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीन कहे गये हैं सो ये तीनों आत्मा ही हैं, आत्मके ही पर्यायवाची हैं, आत्मासे भिन्न नहीं हैं, इसीलिये भव्यात्माओंको एक आत्माका ही सेवन करना चाहिये यह निश्चय है। व्यवहार दृष्टिसे ऊपरका उपदेश भी योग्य है। इसी अर्थका कलश रूप काव्य है—

अनुष्टुप् छंद—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयं।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥१६॥

अर्थ—प्रमाण दृष्टिसे देखा जाय तो यह आत्मा एककाल अनेक अवस्थारूप है, और एक अवस्थारूप भी है, क्योंकि दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपसे तो तीन रूप होता है, परंतु अपने आपसे आप एकरूप है।

कवित्त—

दरसन ज्ञान चरण त्रिगुणातम समल रूप कहिये विवहार ।
निहचै दृष्टि एक रस चेतन भेद रहित अविचल अविकार ॥
सम्यक दसा प्रमान उभै नय निर्मल समल एक ही वार ।
यौं समकाल जीवकी परनति कहैं जिनेंद गहैं गनधार ॥१६॥

आगे फिर नयविवक्षासे कहते हैं—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद्व्यवहारेण मेचकः ॥१७॥

अर्थ—शुध्द द्रव्यार्थिक नयसे आत्मा एक है तो भी व्यवहार दृष्टिसे देखनेपर तीन स्वभावपनेसे अनेक रूप है क्योंकि वही आत्मा दर्शन, ज्ञान चारित्र इन तीन भावों रूप परिणम जाता है । इसीसे मेचक कहा जाता है ।

दोहा—

एक रूप आतम दरव ज्ञान चरन दृग तीन ।
भेद भाव परिनामसौं विवहारै सु मलीन ॥१७॥

अब परमार्थ नयसे कहते हैं—

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्ज्योतिषैककः ।
सर्व भावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥ १८ ॥

अर्थ—शुद्ध निश्चयसे देखा जाय तो प्रगट ज्ञायक ज्योति द्वारा आत्मा एक रूप है, क्योंकि इसका शुद्ध द्रव्यर्थिक नयसे सभी अन्य द्रव्योंके स्वभाव तथा अन्यके निमित्तसे हुए विभावोंके दूर करनेका स्वभाव है, इसलिये अमेचक है, शुद्ध एकाकार है । भेद दृष्टिको गौणकर अभेद दृष्टिसे देखनेपर आत्मा एकाकार ही है इसीसे इसको अमेचक कहते हैं—

दोहा—जदपि समल विवहारसौं परियय सकति अनेक
तदपि नियत नय देखिये सुद्ध निरंजन एक ॥ १८ ॥

आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः ।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥ १९ ॥

अर्थ- यह आत्मा मेचक है भेद रूप अनेकाकार है, तथा अमेचक है, अभेद रूप एकाकार है, ऐसी चिन्ता करना तो दूर रहो। साध्य आत्माकी सिद्धि तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीन भावोंसे ही हो सकती है, अन्य प्रकारसे नहीं, यह नियम है। यहां ऐसा भाव जानना चाहिये कि आत्माकी सिद्धि शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे होती है, इसलिये शुद्ध स्वभाव साध्य है सो वह स्वभाव पर्यायार्थिक स्वरूप व्यवहार नयसे ही साधा जाता है, इसीसे ऐसा कहा है कि भेदाभेदके कथन करनेसे क्या होता है, साध्यकी सिद्धि जिस प्रकार हो वैसा कार्य करना चाहिये। व्यवहारी जन तो पर्यायको ही समझते हैं. इसीसे दर्शन ज्ञान चारित्र तीन परिणाम हैं वही आत्मा है ऐसा भेद प्रधान कर अभेदकी सिद्धि करना कहा है।

(१९)-दोहा--

एक देखिये जानिये रम रहिये इक ठोर।
समल विमल न विचारिये यहै सिद्धी नहि और ॥१९॥

इसी प्रयोजनको दृष्टांतसे दो गाथाओंमें बतलाते हैं--

जह णाम कोई पुरिसो रायाणं जाइऊण सद्दहइ ।
तो तं अणुचरइ पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥१७॥
एवं हि जीवराया णायव्वो तह य सद्दहेयव्वो ।
अणुचरियव्वो य पुणो सो येव दु मोक्खकामेण॥१८

यथा नाम कोऽपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति ।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन ॥१७॥
एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः ।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन ॥१८॥

अर्थ—जैसे धनका चाहनेवाला कोई पुरुष राजाको जानकर श्रद्धान करै, पीछे वडे प्रयत्न पूर्वक उसका अनुसरण करे, तो मनोभिलषित कार्यकी सिद्धि कर लेवे। उसीप्रकार मोक्षका चाहनेवाला-व्यक्ति जीव नामके राजाको जाने, पीछे उसका उसी रूप श्रद्धान करे, वादमें उसका अनुसरण करे, अनुभवकर तन्मय होवे, तो मनोभिलषित अर्थकी सिद्धि जरूर पावे।

भावार्थ-जसे कोई धनका चाहनेवाला मनुष्य वडे प्रयत्नसे पहिले तो राजाको जाने कि ये राजा है। पीछे उसीका विश्वास करे कि ये अवश्यही राजा है, इसकी सेवा करनेसे जरूर धनकी प्राप्ति होगी। तदनतर उसी राजाका अनुसरण करे, सेवन करे, उसकी आज्ञामें रहे। उसी प्रकार मोक्षका चाहनेवाला पुरुष पहिले तो आत्माको जाने, पीछे उसका श्रद्धान करे कि यही आत्मा है, इसके आचरण करनेसे अवश्य कर्मोंसे छूटेंगे। तदनंतर उसहीका अनुसरण करे, अनुभव करक उसीमें लीन होजावे, और ऐसा निश्चय कर लीन होवे कि साध्य जो निष्कर्मावस्थारूप आत्मा उसकी सिद्धि इसी प्रकार हो सकतो है, दूसरी तरहसे नहीं, तो उस पुरुषको अवश्य साध्यसिद्धि होवे ही होवे। अन्य प्रकारसे सिद्धि नहीं हो सकती है।

इसी आशयका सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं।

मालिनी छन्द—

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिन्हम्
न खलु खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२०॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि इस आत्मज्योतिको हम निरन्तर अनुभव करते हैं जो आत्मज्योतिः अनंत-अविनश्वर है क्योंकि

इसके अनुभव किये बिना साध्य आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती है। जिस आत्मज्योतिने किसी तरह तीनपना अंगीकार किया है तो भी वह एकपनेसे रहित नहीं है। ऐसी निर्मल ज्योतिः उदयको प्राप्त हुई है।

सारांश—आचार्य ऐसा कहते हैं कि जो पर्यायदृष्टिसे कोई प्रकार तीनपना को प्राप्त हुवा है तोभी शुद्ध द्रव्य दृष्टिसे एकपनेसे च्युत नहीं हुवा है, ऐसा आत्मज्योति अनंत चैतन्यरूप निर्मल उदयको प्राप्त हुवा है उसका मैं निरंतर अनुभव करता हूं।

(२०)-सवैया इकतीसा—

जाके पद सोहत सुलच्छन अनंतज्ञान,
विमल विकासवंत ज्योति लहलही है।
यद्यपि त्रिविधरूप विवहार मैं तथापि,
एकता न तजै यों नियत अंग कही है॥
सो है जीव कैसी हू जुगतिकै सदीव तांकें,
ध्यान करिवैकों मेरी मनसा उनही है।
जातैं अविचल रिद्धि होत और भांति सिद्धि,
नाहीं नाहीं नाहीं यामैं धोको नाहीं सही है॥

प्रश्न—आत्मा कितने समय तक अप्रतिबुद्ध रहता है सो कहो? उत्तर रूप गाथा—

कम्मे णोकम्मह्मि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवइ ताव ॥१९॥

कर्मणि नोकर्मणि वाहमित्यहकं च कर्म नोकर्म।
यावदेषा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत् ॥ १९ ॥

अर्थ—जबतक इस आत्माके ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्म, रागादिक भावकर्म तथा शरीरादि नोकर्ममें ऐसी बुद्धि है कि मैं

कर्म नोकर्म हूं, और ये कर्म नोकर्म मेरे हैं, तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) बना रहता है। सारांश ये है कि यह आत्मा जबतक ऐसा जानता है कि जीवमें तो कर्म नोकर्म हैं और कर्म नोकर्म मय जीव है, तभी तक अज्ञानी है। जब यह आत्मा ऐसा जानने लग जाता है कि आत्मा तो ज्ञाता है और कर्म नोकर्म सब पुद्गल हैं, तभी ज्ञानी हो जाता है। इसी अर्थका कलश रूप काव्य—

मालिनी छंद—

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नाऽनन्तभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकारा संततं स्युस्त एव ॥ २१ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपने आप तथा दूसरेके उपदेशसे किसी प्रकार भी भेदविज्ञान है मूल उत्पत्तिकारण जिसका, ऐसे अविचल निश्चल अपने आत्मा में अनुभूतिको प्राप्त करता है, वही पुरुष दर्पणकी तरह आपमें प्रतिबिंबित हुए जो अनंत पदार्थोंके स्वभाव उनसे निरंतर विकार रहित होता है। ज्ञानमें ज्ञेयोंके आकार प्रतिभासने परभी उनसे विकारको प्राप्त नहीं होता है।

प्रश्न—अप्रतिबुद्धकी पहिचानके चिन्ह क्या हैं? उत्तर रूप गाथा—

अहमेयं एयमहं अहमेयस्स हि अत्थि मम एयं।
अण्णं जं परदव्वं सचित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२०॥
आसि मम पुव्वमेयं एयस्स अहं पि आसि पुव्वं हि।
होई पुणो ममेयं एदस्स अहं पि होस्सामि ॥२१॥

एयत्तु असम्भूयं आयवियप्पं करेइ सम्मूढो
भूयत्थं जाणंतो ण करेइ उ तं असम्मूढो ॥२२॥

अहमेतदेतदहमेतस्यास्ति ममैतत् ।
अन्यद्यत्परद्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रं च २०॥
आसीन्मम पूर्वमेतदेतस्याहमप्यासं पूर्वं ।
भविष्यति पुनर्ममैतदेतस्याहमपि भविष्यामि ॥२१॥
एतत्त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति सम्मूढः ।
भूतार्थं जानन्न करोति तु तमसम्मूढः ॥२२॥

अर्थ—जो पुरुष अपनेसे भिन्न जो परद्रव्य सचित्त-स्त्री पुत्रादिक, अचित्त-धन धान्यादिक, मिश्र-जिसमें दोनों मिले हुए हों ऐसे ग्रामनगरादिक उनको ऐसा समझता है कि मैं इन रूप हूं, ये मेरे हैं। मैं इनका हूं, ये मेरे हैं, ये मेरे पूर्वमें थे, मैं इनका पहिले था, ये मेरे आगे होंगे, मैं इनका आगामी कालमें होऊंगा, ऐसा झूठा आत्मविकल्प करता है वह मोही है, मूढ है, अज्ञानी है।

जो पुरुष परमार्थ वस्तु स्वरूपको जानता है, तथा ऊपर लिखे अनुसार झूठा विकल्प नहीं करता है, वह मूढ नहीं है, किंतु ज्ञानी है, प्रतिबुद्ध है। इसी अभिप्रायका सूचक कलशरूपका काव्य कहा गया है —

मालिनी छंद—

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्म लीनम् ।
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ॥
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः ।
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥२२॥

अर्थ— लोक अनादि संसारसे लेकर अबतक अनुभव किये हुए मोहको अब तो छोडे और रसिकजनोंको रुचनेवाला

उदित ज्ञानका आस्वादन करे। क्योंकि इस लोकमें आत्मा परद्रव्य सहित किसी समय भी प्रकट रीतिसे एकपनेको प्राप्त नहीं होता, इसलिये आत्मा एक है। क्योंकि वह दूसरे द्रव्योंके साथ किसी प्रकार एक नहीं होता है।

आगे अप्रतिबुद्धको प्रतिबोधनेके लिये उपाय बतलाते हुए गाथा कहते हैं—

अण्णाणमोहियमइ मज्झमिणं भणई पुग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥२३॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पुग्गलदव्वीभूऊ जीवत्तमागयं इयरं ॥२४॥
जइ सो पुग्गलदव्वीभूउ जीवत्तमागयं इयरं।
तो सक्का वुत्तुंजे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ॥२५॥ त्रिकलं

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलद्रव्यम्।
बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः ॥२३॥
सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव उपयोगलक्षणो नित्यम्।
कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणासि ममेदम् ॥२४॥
यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागत मितरत्।
तच्छक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलद्रव्यम् ॥२५॥

अर्थ—जिसकी बुद्धि अज्ञानसे मोहित है ऐसा जीव ऐसा कहता है कि—यह बद्ध-शरीरादि, अबद्ध-धनधान्यादि परद्रव्य मेरे है। कैसा है जीव? बहुभाव संजुत्तो—मोह राग द्वेषादि बहुत भावोंसे युक्त है। आचार्य पूछते हैं कि सर्वज्ञदेवके द्वारा देखा ऐसा उपयोग लक्षणवाला जीव पुद्गलद्रव्य कैसे हो सकता है? जो तू कहता है कि पुद्गलद्रव्य मेरा है? यदि जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य हो जावेगा तो पुद्गल-द्रव्य भी जीवद्रव्य हो जायगा। यदि ऐसा होजाय तो तुम्हारा

कहना ठीक हो सकता है कि पुद्गल द्रव्य मेरा है। सो ऐसा कभी हो नहीं सकता। सारांश ये है कि जो अज्ञानी जीव-पुद्गल द्रव्यको अपना मानता है उसीको उपदेश देकर सावधान किया है कि सर्वज्ञदेवने ऐसा देखा है कि जड और चेतन द्रव्य सर्वथा अलग२ है, कभी भी किसी प्रकार एक रूप नहीं हो सकते, इसलिए हे अज्ञानी तूं पर द्रव्यको एक रूप मानना छोडदे. व्यर्थ एकत्व माननेसे क्या लाभ है ? इसी आशयका कलश रूप काव्य कहा है—

मालिनीछन्द —

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली स-
न्ननुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम् ॥
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन,
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥२३॥

अर्थ—अयि ऐसा कोमल आमन्त्रण सम्बोधन अर्थमें अव्यय उस अव्ययसे कहते हैं हे भाई-तूं किसी प्रकार वडा कष्ट कर तथा मरकर भी तत्वोंका कुतूहली होकर इस शरीरादि मूर्त द्रव्यका एक मुहुर्त (दो घडी) पडोसी होकर आत्माका अनुभव कर, जिस से अपने आत्माको विलासरूप पर द्रव्यसे न्यारा देखकर इस शरीरादि मूर्तीक पुद्गल द्रव्य के साथ एकपनेके मोहको शीघ्र ही छोड देगा।

भावार्थ—यदि ये आत्मा दो घडी भी पुद्गल द्रव्यसे भिन्न अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव करे, उसमें ऐसा लीन होजावे कि परीषह आये भी न चिगे तो घातिया कर्मोंका नाश कर केवल ज्ञान उत्पन्न कर मोक्षको प्राप्त होजाय। आत्मानुभवका ऐसाही माहात्म्य है तो मिथ्यात्वका नाशकर सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होना तो अत्यन्त सुलभ है। इसीलिए श्री गुरुने प्रधानतासे ऐसा ऊपर लिखे माफिक उपदेश दिया है।

सवैया इकतीसा

बनारसी कहै भैया भव्य सुनौ मेरी सीख,
कैहू भांति कैसैं हू कैं ऐसौ काजु कीजियै ।
एकहू मुहूरत मिथ्यातकौ विधुंस होइ,
ग्यानकौ जगाय अन्स हन्स खोजु लीजियै ॥
वाहीकौ विचार वाकौ ध्यान यह कौतूहल,
यौं ही भरू जन्म परम रस पीजियै ।
ताजि भवबासकौ विलास सविकार रूप,
अन्त करि मोहकौ अनन्तकाल जीजियै ॥२३॥

अप्रतिबुद्धका प्रश्नरूप गाथा—

जइ जीवो ण शरीरं तित्थयरायरियसंथुई चेव ।
सव्वावि हवइ मिच्छा तेण दु आदा हवइ देहो ॥२६॥

यदि जीवो न शरीर तीर्थकराचार्यसंस्तुतिश्चैव ।
सर्वापि भवति मिथ्या तेन त्वात्मा भवति देहः ॥२६॥

अर्थ—"जीव शरीर नहीं है" यदि ऐसा है तो जो तीर्थंकर और आचार्योंकी स्तुति की गई है वह सबही व्यर्थ जायगी इसलिये हमतो यह मानते हैं कि जो देह है सो ही आत्मा है। इसी आशय का कलशरूप काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडित-छद—

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दश दिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये ।
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये ॥
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतम् ।
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥१५॥

अर्थ—जो अपनी देहकी कांतिसे दशों दिशाओंका स्नपन करते-धोते हैं अथवा निर्मल करते हैं। जो अपने देहके तेजसे तेजस्वि-

योंमें उत्कृष्ट सूर्यादिकोंके तेजको रोकते हैं। जो रूपसे लोगोंके मन को हरण करते हैं और अपनी दिव्य ध्वनिसे कानोंमें साक्षात सुखामृत की वरसा करते हैं तथा शरीरमें एक हजार आठ लक्षणोंको धारण करते हैं ऐसे तीर्थंकर वा आचार्यदिक वंदवे योग्य हैं। इत्यादि रूपसे जो तीर्थंकरादिकी स्तुतिकी गई है सो सब मिथ्या ठहरती है, इसलिये हमको तो एकांतसे यही निश्चित प्रतिपति है कि आत्मा ही शरीर है पुग्दल द्रव्य है। ऐसी कथनी पर आचार्य कहते हैं कि तूं अप्रतिबुद्ध है नयविभागका जानने वाला नहीं है।

जाकै देह दुतिसौं दसौं दिसा पवित्र भई.
जाकै तेज आगै सब तेजवंत रुकै हैं।
जाकौ रूप निरखि थकित महारूपवंत,
जाकी वपुवाससौं सुवास और लुकै हैं॥
जाकी दिव्य धुनी सुनि श्रवनकौं सुख होत,
जाकै तन लच्छन अनेक आइ ढुकै हैं।
तेई जिनराज जाकै कहै विवहार गुन,
निहचै निरखि सुद्ध चेतनसौं चुकै हैं॥२४॥

नय विभाग कैसा है सो गाथामें वतलाते हैं—

विवहारणओ भासदि जीवो देहो य हवइ खलु इक्को।
ण उ णिच्छयस्स जीवो देहो य कया वि एकट्ठो॥२७॥

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेक।
नतु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः॥२७॥

अर्थः— व्यवहारनय तो देह और जीवको एकही कहता है परन्तु निश्चयकी दृष्टिमें जीव और देह कभी भी एक पदार्थ नहीं हैं। मतलब ये हैं कि आत्मा और शरीर व्यवहारनयसे एक हैं निश्चयनयसे दोनों भिन्न हैं इसलिये व्यवहारनयसे शरीरका स्तवन

ही आत्माका स्तवन मानना चाहिये। इसी बातको आगे गाथामें कहते हैं—

इममण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणितु मुणी।
मण्णइ हु संथुदो वंदिदो मए केवली भगवं ॥२८॥

इममन्यं जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः।
मन्यते खलु संस्तुतो वन्दितो मया केवली भगवान् ॥२८॥

अर्थ—जीवसे भिन्न इस पुद्गलमयी देहकी स्तुति करके साधु वास्तवमें ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवानकी स्तुति की और वंदना (नमस्कार) की।

प्रश्न— व्यवहार नय तो असत्यार्थ कहा और शरीर जड है सो व्यवहारके आश्रय जड शरीरकी स्तुतिका क्या फल है?

उत्तर— व्यवहार नय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है निश्चयको प्रधानकर असत्यार्थ कहा है। छद्मस्थको अपना पराया आत्मा साक्षात दीखता नहीं है, केवल शरीर दीखता है, शरीरकी शांतमुद्रा देखकर अपने भी शांत भाव होते हैं ऐसा उपकार जानकर शरीरके आश्रय भी स्तुति होती है तथा शांतमुद्रा देखकर अंतरंगमें वीतराग भावका निश्चय होता है। यह भी बडा उपकार है।

तं णिच्चये ण जुज्जदि
ण शरीर गुणा हि होंति केवलिणो
केवलिगुणा थुणादि जा
सो तच्चं केवलिं थुणादि ॥२८॥

तन्निश्चयेन युज्यते न शरीरगुणा हि भवंति केवलिनः।
केवलिगुणान्स्तौति यः सः तत्वं केवलिनं स्तौति ॥२९॥

अर्थ— निश्चयमें वह स्तवन ठीक नहीं है क्योंकि जो शरी-

रमें गुण हैं वह केवलीमें नहीं हैं जो केवलिके गुणोंकी स्तुति करना है वही परमार्थमें केवलीकी स्तुति कहलाती है।

प्रश्न—आत्मा तो शरीरके आधार है शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन निश्चयसे कैसे नहीं है? इसका उत्तर दृष्टांत सहित गाथा कहते -

णयरम्मि वण्णये जह ण वि रण्णो वण्णणा कया होई॥
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुया होंति ॥३०॥

नगरवर्णिते यथा नापि राज्ञा वर्णना कृता भवति।
देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवति ॥३०॥

अर्थ—नगरके वणन करनेसे जैसे उस नगरके राजाका वर्णन नहीं कहा जा सकता है उसी तरहसे देहके गुणोंके स्तवन करनेसे केवलिके गुणोंका स्तवन नहीं कहा जा सकता है।
इसी आशयका कलश रूप काव्य कहते हैं

प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम्।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥२५॥

अर्थ— कोटसे ग्रस लिया है आकाशको जिसने, तथा बागोंकी पंक्तिसे निगल लिया है भूमितलको जिसने, कोटके चौगिरद खाईके वलयसे मानों पातालको पी रहा हो ऐसे नगरके वर्णन करनेसे जो भी राजा इसके आधार है तोभी कोट बाग खाई आदि सहित राजा नहीं है इसलिये नगरका वर्णन राजाका वर्णन नहीं कहा जा सकता। उसी तरह शरीरके स्तवन करनेसे तीर्थंकरका स्तवन नहीं कहा जा सकता है।

सवैया इकतीसा—

ऊंचे ऊंचे गढ के कंगूरे यो विराजत हैं,
मानौ नभ लोक गिलिवे कों दांत दियो है।

सो है चहुं ओर उपवन की सघनताई,
घेरा करि मानौ भूमिलोक घेर लियौ है ॥
गहरी गंभीर खाई ताकी उपमा वताई,
नीचौ करि आनन पाताल जल पियौ है ।
ऐसौ है नगर यामें नृपको न अंग कोऊ,
यौही चिदानंद सौ शरीर भिन्न कियौ है ॥२५॥

पुनः काव्य—

नित्यमविकारसुस्थितसर्वाङ्गमपूर्वसहजलावण्यम् ।
अक्षोभ्यमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥२६॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रका सर्वोत्कृष्ट रूप हमेशा जयवंतको प्राप्त होवे । कैसा है वह रूप ? हमेशाके लिये अविकार है—जिसमें किसी प्रकारका विकार नहीं है और अच्छी तरह सुख रूप है सर्वांग जिसका, फिर कैसा है ? अपूर्व और स्वाभाविक है लावण्य जिसमें, फिर कैसा है ? समुद्रकी तरह क्षोभ रहित है, गंभीर है, चलाचल नहीं है । ऐसे शरीरका स्तवन करते हुए भी तीर्थंकर केवली पुरुष का शरीर अधिष्ठाता है तो भी सुस्थित सर्वांगपना और लावण्यपना आत्माके गुण नहीं हैं । इसलिये तीर्थंकर केवलि पुरुष रूप आत्माके इन गुणोंके अभावसे केवलीका स्तवन नहीं कहा जा सकता है ।

जामें वालपनौ तरुनपनो वृद्धपनौ नाहि,
आयु परजंत महारूप महावल है ।
विना ही जतन जाकै तनमें अनेक गुन,
अतिसै विराजमान काया निरमल है ॥
जैसे विजु पवन समुद्र अविचल रूप,
तैसें जाकौ मन अरु आसन अचल है ।

ऐसौ जिनराज जयवंत होहु जगत में,
जाकी सुभगति महा सुकृत का फल है ॥२६॥

अब जैसैं तीर्थंकर केवलिकी स्तुति हो सकती है वैसा कहते हैं—

जो इंदिये जिणत्ता णाणसहावाहिअं मुणइ अप्पं ।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्चया साहू ॥३१॥

य इन्द्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम् ।
तं खलु जितन्द्रियं ते भणंति ये निश्चिता साधवः ॥३१॥

अर्थ—जो इंद्रियोंको जीतकर ज्ञानस्वभावसे अन्य द्रव्य से अधिक आत्माको जानता है उसको नियमसे निश्चयनयमें स्थित साधु लोक जितन्द्री ऐसा कहते हैं।

आगे भाव्यभावक शंकर दोषका परिहार कर स्तुति करते हैं—

जो मो तु जिणित्ता णाणसहावाहियं मुणइ आयं ।
तं जियमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥३२॥

यो मोहं तु जित्वा ज्ञानस्वभावधिकं जानात्यात्मानम् ।
तं जित मोहं साधुं परमार्थविज्ञायका विंदन्ति ॥३२॥

अर्थ— जो मुनि मोहको जीतकर अपने आत्मको ज्ञान स्वभावके द्वारा अन्य द्रव्यसे विशेष जानता है उस मुनिको परमार्थके जानने वाले जितमोह ऐसा कहते हैं।

भावार्थ—जो मुनि फल देनेकी सामर्थ्यसे प्रकट उदय रूप और भावकपनेसे प्रकट होता हुवा जो मोहकर्म उसके अनुसार ही है प्रवृत्ति जिसकी, ऐसा जो अपना आत्मा भाव्य, उसको भेदज्ञान की सामर्थ्यसे, दूरहीसे न्याराकर, मोहको छोडकर तिस्कार करनेसे दूर हुआ है संपूर्ण भाव्य भावक संकर दोष जिसमें, उससे एकपना होनेपर, टंकोत्कीर्ण निश्चल एक अपने आत्माका अनुभव करता है सो जीता है मोह जिसने ऐसा मुनि जित मोह कहलाता है।

अब भाव्यभावकभावके अभावरूप निश्चय स्तुति करने के लिए गाथा–

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया दु खीणमोहो भण्णइ सो णिच्छयविदूहि ॥३३॥

जितमोहस्य तु यदा क्षीणमोहो भवेत् साधोः।
तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्भिः ॥३३॥

अर्थ – साधु पहिले अपने बलसे–उपशम भावसे मोहको जीतकर पीछे जिस समय अपनी बडी सामर्थ्यसे मोहका सत्तासे नाशकर ज्ञानस्वरूप परमात्मपनेको प्राप्त करता है तब निश्चयनयके जाननेवाले ज्ञानीजन उस साधुको क्षीणमोह जिन कहते हैं। यहां पर भी मोह शब्दको पलटकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन ये पद रखकर सोलह गाथा पढना। वैसा ही व्याख्यान करना, तथा दूसरी २ बातें भी विचारना। अब यहां निश्चय व्यवहार रूप स्तुति के लिए कलशरूप काव्य कहते हैं।

शार्दूलविक्रीडित छन्द–

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चयात्।
नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्त्वतः ॥
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्मांगयोः ॥ २७ ॥

अर्थ–शरीर और आत्माका एकपना निश्चयनय से एकपना नहीं है इसीसे शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन व्यवहार से हुआ कहना चाहिए निश्चयसे नहीं। निश्चयसे तो चैतन्यके स्तवन से ही चैतन्य का स्तवन हो सकता है, उस चैतन्यका स्तवन यहां जितेंद्रिय, जितमोह, क्षीणमोह इसतरह किया गया है सो ही है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि अज्ञानीने जो तीर्थंकर के

स्तवन का प्रश्न किया था उसका नयविभाग से उत्तर दिया जिससे आत्मा और शरीरके एकपना नहीं है यह निश्चयसे जाना जासके।

कवित्त--

तनु चेतन विवहार एकसे निहचै भिन्न भिन्न हैं दोइ
तनकी थुति विवहार जीवथुति नियतदृष्टि मिथ्याथुति सोइ।
जिन सो जीव जीव सो जिनवर तन जिन एक न मानै कोइ
ता कारन तनकी संस्तुतिसौ जिनवरकी संस्तुति नहिं होइ।२७।

इसी अर्थके जाननेसे भेदज्ञानकी सिद्धि होती है इस आशयका फिर कलशरूप काव्य कहते हैं—

मालिनी छंद—

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायाम्।
नयविभजनयुक्त्याऽत्यन्तमुच्छादितायाम्॥
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य।
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुरन्नेक एव॥२८॥

अर्थ—ऊपर निश्चय और व्यवहारनयसे आत्मा और परका अत्यंत भेद बतलाया सो इसको जानकर ऐसा कौन पुरुष है जिसके भेद ज्ञान न हो' होवे ही होवे। क्योंकि ज्ञान अपने स्वरससे अपने आप अपने स्वरूपको जानता है, तब अवश्य आप अलग ही अपने आत्माको जानता है। कोई दीर्घ संसारी ही होय जो अपने आत्माको न जान सके तो उसका कहना ही क्या है? इस प्रकार अप्रतिबुद्धने जो ऐसा कहा था कि "हमारे तो यह निश्चय है कि जो देह है वही आत्मा है" उसका निराकरण हुआ।

सवैया तेईसा--

ज्यौं चिरकाल गडी वसुधा महि, भूरि महानिधि अंतर गूझी।
कोउ उखारि धरै महि ऊपर जे दृगवंत तिन्हैं सब सूझी॥

त्यौं यह आतमकी अनुभूति पडी जडभाउ अनादि अरूझी।
नै जुगतागम साधि कही गुरु लच्छन वेदि विच्छन वूझी॥२८॥

प्रश्न--इस आत्माके अन्य द्रव्योंका त्याग होता है क्या? इस प्रश्नका उत्तर रूप गाथा—

सव्वे भावे जम्हा पचक्खाइ परेत्ति णाऊणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणयव्वं॥३४॥

सर्वान्भावान्यस्मात्प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा।
तस्मात्प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमात् ज्ञातव्यम्।३४।

अर्थ— आपको छोडकर बाकीके सारे पदार्थ पर पदार्थ हैं ऐसा जानकर उनका त्याग किया जाता है। इसलिये "ये पर हैं" ऐसा जानना ही प्रत्याख्यान है। अपने ज्ञानमें त्याग रूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, और कुछ नहीं है।

प्रश्न–ज्ञाताका प्रत्याख्यान ज्ञान है इसको कोई दृष्टांतसे समझाइये? उत्तररूप गाथा–

जह णाम को वि पुरिसो परदव्वमिणंत्ति जाणिदं चयइ
तह सव्वे परभावे णाउण विमुंचए णाणी॥३५॥

यथा नाम कोपि पुरुषः परद्रव्यमिति ज्ञात्वा त्यजति।
तथा सर्वान्परभावान् ज्ञात्वा विमुंचति ज्ञानी॥३५॥

अर्थ जैसे लोकमें कोई मनुष्य परवस्तुको ऐसा जाने कि यह वस्तु दूसरे की है" तब वह उसको त्याग देता है उसी तरह ज्ञानी आत्मा सम्पूर्ण परद्रव्योंके भावोंको "ये परद्रव्यके भाव हैं" ऐसा जानकर उनको त्याग देता है। सारांश यहहै कि जबतक भूल से परवस्तु को अपनी जानता है तभीतक उसमे ममत्वभाव रहता है जैसे ही परकी वस्तुको परकी जानलेता है तब दूसरेकी वस्तुसे ममत्व भाव क्यों रहेगा? फिरतो उसका त्याग ही करेगा। उसीतरह भेद

ज्ञानी आत्मा अपनी आत्मा से भिन्न वस्तुओंको पर समझकर उन का त्याग करदेता है।

इसी आशयका कलश रूप काव्य कहते हैं—

मालिनी छंद—

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यन्तवेगा-
दनवसपरभावत्याग दृष्टांतदृष्टिः।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्तः
स्वयमियमनुभुतिस्तावदाभिर्बभुव ॥ २९ ॥

अर्थ— यह परभावके त्यागके दृष्टान्तकी दृष्टि जिस तरह पुरानी न पडे उसी तरह अत्यंत वेगसे जब तक प्रवृत्तिको नहीं प्राप्त हो जाती उसके पहिले ही तत्काल संपूर्ण अन्य भावोंसे रहित आपही यह अनुभूति प्रगट हो गई।

सवैया इकतीसा—

जैसे कोऊ जन गयौ धोवीके सदन तित,
पहिऱ्यौ परायौ वस्त्र मेरौ मानि रह्यौ है।
धनी देखि कह्यो भैया यह तौ हमारौ वस्त्र
चीन्हैं पहिचानत ही त्याग भाव लह्यौ है॥
तैसैंही अनादि पुद्गलसौं संजोगी जीव
संगके ममत्वसौं विभावतामैं वह्यौ है।
भेदज्ञान भयौ जब आपा पर जान्यौ तब
न्यारौ परभावसौं सुभाव निज गह्यौ है ॥ २९ ॥

प्रश्न—इस प्रकारकी अनुभूतिसे परभावका भेदज्ञान किस प्रकार हुआ? ऐसे प्रश्नके उत्तरमें पहिले भावक-मोहकर्मके उदय रूप भावके भेदज्ञानके प्रकारको कहते हैं—

णत्थि मम को वि मोहो वुज्झइ उवओग एव अहमिको।
तं मोहणिम्मत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥ ३६॥

नास्ति मम कोपि मोहो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ।
तं मोहनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायकाः विंदन्ति ॥ ३६ ॥

अर्थ-- जो ऐसा जानना हो जाय कि मोह मेरा कोई संबंधी नहीं है, मैं तो एक उपयोग रूपही हूं, ऐसे जाननेको सिद्धांतके तथा अपने परके स्वरूपके जाननेवाले विद्वान् लोग मोहसे निर्ममत्व कहते हैं ।

भावार्थ—यह मोहकर्म है सो जड पुद्गल द्रव्य है इसका उदय कलुप मलिन भावरूप है, इसका भावभी पुद्गलकाही विकार है । सो यह भावकका भाव है सो जब यह चैतन्यके उपयोगके अनुभवमें आता है तब उपयोगभी विकारी होकर रागादि रूप मलिन दीखता है, जब इसका भेद ज्ञान होता है कि " चैतन्यकी शक्तिकी व्यक्ति तो ज्ञान दर्शनोपयोग मात्र है और यह कलुपता राग द्वेप मोह रूप है सो उस द्रव्य कर्म रूप जड पुद्गल द्रव्यकी है " ऐसा भेदज्ञान होनेपर भावक भाव जो द्रव्यकर्म रूप मोहके भाव उनसे भेदभाव क्यों न होय ? होवेही होवे । आतमा अपने चैतन्यके अनुभवमें ठहरेही ठहरे ऐसा जानना चाहिये । इसी अर्थका कलशरूप काव्य—

स्वागताछंद—

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम् ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०॥

अर्थ-मैं इस लोकमें अपने आप अपने एक आत्म स्वभावका अनुभव करता हूं । कैसा मेरा स्वरूप है ? सर्वांग रूपमें अपने चैतन्यके परिणमनसे पूर्ण भरा है भाव जिसमें, इसीसे यह मोह है सो मेरा कुछ भी नहीं लगता है । इसके साथ मेरा कोई नाता नहीं है । मैं तो शुद्ध चैतन्यका समूह रूप तेजः पुंज का खजाना हूं । ऐसा अनुभव भावक भावके भेदसे होता है ।

अडिल्ल छंद—

कहै विच्छन पुरुष सदा मैं एक हौं।
अपनै रंससौं भरयो आपनी टैक हौं॥
मोहकर्म मम नाहिं नाहिं भ्रमकूप है।
शुद्ध चेतना सिंधु हमारो रूप है॥ ३०॥

प्रश्न—ज्ञेयभावसे भेदज्ञान करनेका क्या उपाय है? उत्तर रूप गाथा है—

णत्थि मम धम्म आई वुज्झइ उवओग एव अहमिक्को
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति॥३७॥

छाया—नास्ति मम धर्मादिर्बुध्यते उपयोग एवाहमेकः।
तं धर्मनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका विन्दान्ति॥३७॥

अर्थ—ये धर्म आदिक द्रव्य भी मेरे कुछ लगते नहीं हैं। मै तो ऐसा जानता हू कि जो उपयोग है वही मैं हूं। ऐसा जानने से धर्मादि द्रव्योंसे निर्ममत्वपना समय-सिद्धांत तथा अपने परके स्वरुप रूप समयको जानने वाले पुरुष जानते हैं वा कहते हैं। इसी आशयका कलश रूप काव्य कहते हैं—

मालिनी छन्द—

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके।
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम्॥
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः।
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः॥३१॥

अर्थ—इस तरह पूर्वोक्त रीतिसे भावकभाव और ज्ञेयभावोंमें भेदज्ञान होने पर संपूर्ण जो अन्यभाव उनसे भिन्नता हुई तब यह उपयोग है सो आप ही अपने एक आत्मा ही को धारण करता हुआ प्रगट हुवा है परमार्थ जिनका, ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्क-

क्चारित्र के द्वारा की है परिणति जिसने, ऐसा होता हुआ अपने आत्मा रूपी बगीचेमें रमता है, दूसरी जगह नहीं जाता है।

सारांश-संपूर्ण पर द्रव्य तथा उनसे होने वाले संपूर्ण भावोंसे जब भेद ज्ञान हो जाता है तब उपयोगके रमनेको एक आत्मा ही रह जाता है, दूसरा ठिकाना नहीं रहता है। इस तरह सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्रसे एक रूप हुआ आत्मा आत्मामें ही रमण करता है ऐसा जानना चाहिये।

सवैया इकतीसा—

तत्व की प्रतीतिसौं लख्यौ है निज पर गुन,
दृग ज्ञान चरण त्रिविध परनयौ है।
विशद विवेक आयौ आछौ विसराम पायौ,
आपुही मैं आपनौ सहारौ सोधि लयौ है॥
कहत बनारसी गहत पुरुषारथकौं,
सहज सुभाव सौं विभाव मिटि गयौ है।
पन्नाके पकायें जैसे कचन विमल होत,
तैसैं शुद्ध चेतन प्रकाश रूप भयौ है॥२१॥

प्रश्न—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र रूप परिणमे हुए आत्माका चितवन कैसे होता है! यह बतलाते हुए आचार्य इस कथनको संकोचते हैं-

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सया रूवी।
णवि अत्थि मम किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि॥

अहमेकः खलु शुद्धो दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी।
नाप्यास्ति मम किंचिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि॥३८॥

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप परिणत आत्मा ऐसा जानता है कि मैं एक हूं, शुद्ध हूं, दर्शन ज्ञानमय हूं, अरूपी हूं, निश्चयसे मैं हमेशा

ऐसाही हूं, अन्य परद्रव्यका परमाणुमात्र भी मेरा कुछ नहीं है यह निश्चित है।

भावार्थ—आत्मा अनादिकालसे मोहकर्मके उदयसे अज्ञानी था सो श्रीगुरुके उपदेशसे अथवा काललब्धिके निमित्तसे ज्ञानी होता हुवा अपने स्वरूपको परमार्थसे ऐसा जानता है कि–मैं एक हूं, शुद्ध हूं, अरूपी हूं, ज्ञान दर्शनमय हूं। ऐसा जाननेसे मोहके समूहके नाश होनेसे भावक भाव और ज्ञेयभावका नाश हुआ तथा भेदज्ञान व्यक्त हुवा जिससे अपनी स्वरूप संपदा अनुभवमें आई। फिर मोह क्यों उत्पन्न होगा ? इसी आशयका आचार्य कलशरूप काव्य कहते हैं—

वसततिलका छंद—

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका।
आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः॥
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करणी भरेण।
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधुः॥३२॥

अर्थ—इस ज्ञानस्वरूप भगवान आत्माने विभ्रमरूप आडी चादरको मूलमेंही डुबाकर दूर करदी और आप सर्वांगसे प्रगट होगया। अब सारा लोक इसके शांति रसमें एककाल अतिशयकर मग्न होहु, जो शांतरस समस्त लोकमें झलक रहा है।

भावार्थ—यहां आचार्यने ऐसी प्रेरणा की है कि- जैसे समुद्र के आडा कोई द्रव्य आजानेसे उसका जल नहीं दीखता, जब आड दूर हो जाती है तब जलके साफ २ दीखने से प्रेरणाकी जाती है कि सारा लोक जलमें स्नान करो, उसी तरह यह आत्मा विभ्रमसे आच्छादित था इसलिये इसका रूप नहीं दीखता था, अब विभ्रम दूर होगया तो इस आत्माका यथार्थ रूप प्रगट होगया, इसलिये अब इसके शांतरसमें एकसाथ सब लोक मग्न होहु। अथवा ऐसाभी

अर्थ निकलता है कि जब आत्माका अज्ञान दूर होजाता है तब केवलज्ञान प्रगट होजाता है तभी लोकमें रहने वाले समस्त पदार्थ आत्मामें यथार्थ झलकने लगते है।

सवैया इकतीसा—

जैसैं कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरण
आवति अखारे निशि आडो पट करकैं।
दुहू और दीवटि संवारि पट दूर कीजे,
सकल सभाके लोग देखैं दृष्टि धरिकैं।
तैसैं ज्ञानसागर मिथ्याति ग्रंथ भेद करि,
उमग्यौ प्रगट रह्यौ तिहुं लोक भरिकैं।
ऐसौ उपदेश सुनि चाहिये जगत जीव,
सुद्धता सम्हारै जग जालसौं निकटि कैं ॥३२॥

दोहा—

नृत्य कूतूहल तत्वको मरियवि देखो धाय।
निजानंद रसको छकौ आन सबै छिटकाय ॥१।

इस प्रकार जीवाजीव अधिकार में पूर्व रंग समाप्त हुआ।

जीव तत्व अधिकार यह कह्यो प्रगट समुझाय,
अब अधिकार अजीवको सुनहु चतुर चितलाय।

आगे जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य ये दोनों एक साथ रंगभूमिमें प्रवेश करते हैं, शुरु २ में मंगलका आशय लेकर आचार्य ज्ञानकी महिमा कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द—

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदान्।
आसंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत् ॥
आत्मारामममनन्तधाममहसाऽध्यक्षेण नित्योदितम्।
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनोह्लादयत् ॥१॥

अर्थ— ज्ञान मनको आनन्दमय करता हुआ प्रगट होता है। कैसा है ज्ञान? जीव अजीवके स्वांगको देखनेवाले महान पुरुषोंको जीव अजीवके भेदको दिखानेवाली बडी उज्ज्वल निर्दोष दृष्टिसे भिन्न द्रव्यकी प्रतीति उपजाने वाला है, और अनादि संसारसे जिनका दृढ वन्धन वंध होरहा है ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके नाशसे विशुद्ध होकर स्फुरायमान हुआ है। जैसे फूलकी कली फूलती है उसीतरह विकाशरूप हुआ है। फिर कैसा है? जिसके रमनेका क्रीडावन आत्मा ही है, अर्थात् जिसमें अनन्त ज्ञेयों (पदार्थों) के आकार झलकते हैं तो भी आप अपने स्वरूपमें ही रमता है। जिस का प्रकाश अनन्त है, प्रत्यक्ष तेजसे नित्य उदय रूप है। फिर कैसा है? धीर है—उत्कृष्ट है, इसीसे अनाकुल है सब इच्छाओंसे रहित होनेसे निराकुल है। (यहां धीर, उदात्त, निराकुल ये तीन विशेषण शान्तरूप नृत्यके आभूषण हैं) ऐसा ज्ञान विलास करता है।

परम प्रतीति उपजाय गणधरकीसी।
अंतर अनादिकी विभावता विदारी है ॥
भेदज्ञान दृष्टिसौं विवेककी सकति साधि,

चेतन अचेतनकी दसा निरवारी है ॥
करमकौ नाश करि अनुभौ अभ्यास धरि
हियेमैं हरखि निज उद्धता सँभारी है।
अंतराय नास भयौ सुद्ध परकास भयौ
ग्यानकौ विलास ताकौं वंदना हमारी है ॥१॥

आगे जीव अजीवका एक रूप वर्णन करनेको गाथा कहतेहैं—

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवाइणो केई।
जीवमज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥३९॥
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति ॥४०॥
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभायमिच्छन्ति।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवइ जीवो ॥४१॥
जीवो कम्मं उभयं देण्णवि खलु केइ जीवमिच्छन्ति।
अवरे संजोगेणउ कम्माणं जीवमिच्छन्ति ॥४२॥
एवं विहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
तेण परमट्ठवाइहिं णिच्छयवाइहिं णिद्दिट्ठा ॥४३॥

छाया—आत्मानमजानन्तो मूढास्तु परात्मवादिनः केचित्।
जीवमध्यवसानं कर्म च तथा प्ररूपयन्ति ॥ ३९ ॥
अपरेऽध्यवसानेषु तीव्रमन्दानुभागगं जीवं।
मन्यन्ते तथा परे नोकर्म चापि जीव इति ॥ ४० ॥
कर्मण उदयं जीवमपरे कर्मानुभागमिच्छन्ति।
तीव्रत्वमन्दत्वगुणाभ्यां यः स भवति जीवः ॥ ४१ ॥
जीवकर्मोभयं द्वे अपि खलु केचिज्जीवमिच्छन्ति।

अवरे संयोगेन तु कर्मणां जीवमिच्छन्ति ॥ ४२ ॥
एवं विधा बहुविधा परमात्मनं वदन्ति दुर्मेधसः ।
तेन परमात्मवादिभिर्निश्चयवादिभिर्निर्दिष्टाः ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो आत्माको आत्मा न जानते हुए परको आत्मा माननेवाले मूढ मोही अज्ञानी हैं, वे कोई तो अध्यवसानको जीव कहते हैं, कोई कर्म को जीव कहते हैं, कोई अध्यवसानों में तीव्र मन्द अनुभागको जीव मानते हैं। दूसरे कोई नोकर्मको जीव कहते हैं। कोई कर्मके उदयको जीव कहते हैं, कोई कर्मके अनुभागको जीव कहते हैं। कैसे अनुभागको ? जो तीव्र मन्दरूप गुणसे भेदको प्राप्त होता है। कोई जीव और कर्म इन दोनोंके मेलको जीव कहते हैं। कोई २ कर्मोंके संयोग होनेको जीव कहते हैं। इस प्रकार तथा औरभी बहुत प्रकार दुर्बुद्धि मिथ्यादृष्टि जीव परको ही आत्मा कहते हैं। लेकिन वे सच्चे सत्यार्थवादी नहीं हैं। ऐसा निश्चयवादी–सत्यार्थवादी कहते हैं। यहां अपने आप उत्पन्न हुए राग द्वेषसे मैले आशयरूप विभाव परिणामको अध्यवसान कहते हैं।

तात्पर्य य है कि जीव अजीव ये दोनों आनादिकालसे एक क्षेत्रावगाह संयोग रूप मिल रहे हैं, और अनादि कालसे ही जीव और पुद्गलके संयोगसे अनेक प्रकारकी विकारी अवस्थाएं होती आई हैं, परंतु परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो जीव तो अपने चैतन्यपना आदि भावोंको नहीं छोडता है। और पुद्गल अपने मूर्तीक जडपनेको नहीं छोडता है। परंतु जो परमार्थको नहीं जानते हैं वे संयोगसे उत्पन्न भावोंको ही जीव कहते हैं। वास्तवमें सच्चा जीवका स्वरूप पुद्गलसे भिन्नही सर्वज्ञ देवने मालूम किया है। तथा सर्वज्ञकी परंपराके आगमसे ही जाना जाता है, लेकिन जिनके मतमें सर्वज्ञ नहीं है वे अपनी बुद्धिसे

अनेक प्रकारकी (ऊपर कहे अनुसार) कल्पना करके आत्माका निरूपण करते हैं। सो ऐसे कहनेवाले कभी सत्यार्थवादी नहीं है।

प्रश्न—ऐसा कहनेवाले सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं? उत्तर रूप गाथा—

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवोत्ति वुच्चंति ॥४४॥

ऐते सर्वे भावाः पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः।
केवलिजिनैर्भणिताः कथं ते जीव इत्युच्यंते ॥४४॥

अर्थ—ये पहिले कहे हुए अध्यवसानादिक भाव सभी पुद्गलके परिणामोंसे उत्पन्न हुए हैं ऐसा सर्वज्ञ देव केवली भगवानने कहा है फिर उनको जीव कैसे कहा जा सकता है? अर्थात् चैतन्य स्वभाव रूप जीव संपूर्ण परभावोंसे न्यारा भेदज्ञानियोंके अनुभव गोचर है इसलिये जैसा अज्ञानी मानते हैं वैसा नहीं है। इसी आशयका कलशरूप काव्य कहते हैं—

मालिनी छंद—

विरम किमपरेण कार्यकोलाहलेन।
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम् ॥
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो।
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः ॥२॥

अर्थ—हे भव्य तुझे विना कार्य निकम्मा कोलाहल करनेसे क्या साध्य है? इस कोलाहलको तूं छोड और एक चैतन्यमात्र वस्तूको आप निश्चल लीन होकर देख। ऐसा अभ्यास छह महिना तक कर। ऐसा करनेसे अपने हृदय सरोवरमें पुद्गलसे भिन्न प्रतापवाले आत्माकी प्राप्ति न होगी क्या? अवश्य होगी ऐसा नियम हैं।

सवैया एकतीस—

भैया जगवासी तूं उदासी ह्वै कैं जगतसौं,
एक छ महीना उपदेश मेरौ मानु रे।
और संकलप विकलपके विकार तजि,
बैठिकैं एकांत मन एक ठौरि आनु रे॥
तेरौ घट सर तामैं तूं ही ह्वै कमल ताकौ,
तू ही मधुकर ह्वै सुवास पहिचानु रे।
प्रापति न ह्वै है कछु ऐसौ तू विचारत है,
सही ह्वै है प्रापति सरूप यौंही जानु रे।

प्रश्न—ये अध्यवसानादिक भाव जीव नहीं हैं, क्योंकि जीव तो चैतन्य स्वभाववाला बतलाया हैं लेकिन अध्यवसानादि भाव भी तो चैतन्यही से अन्वयी प्रतिभाखते हैं, चैतन्य बिना जडके तो दीखते नहीं हैं इनको पुद्गलके स्वभाव कैसे कहा? इस प्रश्नके उत्तरमें गाथा कहते हैं—

अट्ठविहं पिं य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्यमाणस्स॥४५॥

अष्टविधमपि च कर्म, सर्वं पुद्गलमयं जिना विंदंति।
यस्य फलं तदुच्यते दुःखमिति विपच्यमानस्य॥४५॥

अर्थ-ज्ञानावरणादिक आठों ही कर्म पुद्गलमय हैं ऐसा सर्वज्ञ देव जिनेन्द्र भगवानने कहा है। और इनका फल दुख है-यह कर्म पचकर उदयमें आते हैं सो दुख रूप फल देते हैं। मतलब ये है कि ये आत्मा कर्मके उदय आने पर दुखरूप परिणमता है, दुखरूप भाव ही अध्यवसान है। इसलिये दुखरूप भावमें चेतनताका भ्रम उत्पन्न होता है। ऐसा जिनेन्द्र भगवानका वचन है।

प्रश्न—ये अध्यवसानादि भाव पुद्गलमय हैं तो आगममें इनको जीवके भावसे उत्पन्न कैसे कहा? इस प्रश्नका उत्तररूप गाथा—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिओ जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥४६॥

व्यवहारस्य दर्शनमुपदेशो वर्णितो जिनवरैः ।
जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः ॥४६॥

अर्थ— अध्यवसानादिक जीवके भाव हैं ऐसा जिनेन्द्र देवने अपने उपदेशमें वर्णन किया है सो ये व्यवहारनयसे कथन है। निश्चयनयसे जीव-शरीर तथा राग, द्वेष, मोहसे भिन्न है।

भाषा छंद—

व्यवहारनयसें यों कहा भगवानके उपदेशमें
सर्व अध्यवसान भावा जीव बिन होते नहीं ॥४६॥

प्रश्न—ये व्यवहारनय कौनसे दृष्टानसे प्रवर्ती है? इस प्रश्नका उत्तररूप गाथा—

राया हु णिग्गओ ति य एसो वलसमुदयस्स आएसो
ववहारेण दु उच्चइ तत्थेक्को णिग्गओ राया ॥४७॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणाइ अण्णभावाणं
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीओ ॥४८

राजा खलु निर्गत इत्येष वलसमुदयस्यादेशः ।
व्यवहारेण तूच्यते तत्रैको निर्गतो राजा ॥४७॥
एवमेव च व्यवहारोऽध्यवसानाद्यन्यभावानाम् ।
जीव इति कृतः सूत्रे तत्रैको निश्चितो जीवः ॥४८॥

अर्थ—जैसे कोई राजा सेना सहित निकलता है तब व्यवहारमें सेनाके समुदायको ऐसा कहा जाता है कि "राजा निकला" निश्चयसे विचारा जाय तो सेनामें राजा तो एक ही है। उसी प्रकार अध्यवसानादि जो अन्यभाव हैं उनको "जीव है" ऐसा सूत्र

में कहा है सो व्यवहारनयसे कहा है। निश्चयसे विचारने पर ऐसा निश्चय होता है कि उनमें जीव तो एक ही है।

प्रश्न–अध्यवसानादिक भाव जीव नही हैं तो जीव एक टंकोत्कीर्ण परमार्थ स्वरूप कैसे है? इसका लक्षण क्या है? इस प्रश्नका उत्तर रूप गाथा–

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥४९॥

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम्।
जानीह्यलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥४९॥

अर्थ–रस रहित, रूप रहित, दोनों प्रकारके गंधसे रहित, इद्रियोंके विषयसे रहित, चेतना गुण वाला शब्द रहित, किसी भी चिन्हसे जिसका ग्रहण न होता हो, जिसका कुछ भी आकार न कहा जा सकता हो, हे भव्य उसको तूं जीव जान॥ जीवमें रूप, रस, गध शब्द, व्यक्तपना और आकारपना नही हैं ये गुण तो पुद्गलमें ही पाये जाते हैं। इसीलिये आचार्यने निश्चयनयसे ऊपर जीवका लक्षण रूपादि रहित बतलाया है। इसही अर्थका कलशरुप काव्य कहकर इसके अनुभवनकी प्रेरणा करते हैं–

मालिनी छद–

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं।
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्॥
इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्।
कलयतु परमात्माऽऽत्मानमात्मन्यनन्तम्॥ २॥

अर्थ–जो भव्य आत्मा हैं वे अपने एक केवल आत्माका आत्मा ही में अभ्यास (अनुभव) करो जो आत्मा अनन्त–अविनाशी है तथा सकल चैतन्य शक्तिसे रीते जो अन्य भाव, उन सभीको मूलमें छोडकर और साफ २ अपने चिच्छक्ति मात्र भावका अवगाहन

कर समस्त पदार्थ समूह रूप जो लोक, उसके ऊपर प्रवर्तता हुआ है।

आचार्यका यहां यही साररूप उपदेश है कि यह आत्मा निश्चयसे सम्पूर्ण अन्य भावोंसे रहित, चैतन्य शक्ति मात्र है, उसके अनुभव करनेका अभ्यास करो। चिच्छक्ति से अन्य जो भाव हैं वे सब पुद्गल सम्बन्धी हैं, यही आगेके काव्यमें बतलाते हैं।

कवित्त

जब चेतन संभारि निज पौरुष निरखै निज दृगसों निज मर्म।
तब सुखरूप विमल अविनाशी जानै जगतशिरोमणि धर्म॥
अनुभव करे शुद्ध चेतनको रमै स्वभाव वमै सब कर्म
इह विधि सधै मुकतिको मारग अरु समीप आवै सिवसर्म॥३॥

अनुष्टुपछन्द—

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी॥ ४॥

अर्थ यह जीव चैतन्य शक्तिसे व्याप्त सर्वस्वसार वाला है। इस चिच्छक्तिसे रहित जितने भाव हैं वे सभी पुद्गलजन्य हैं अर्थात् पुद्गलके ही हैं। वे कौनसे भाव हैं उनका वर्णन आगे गाथाओं में करते हैं—

दोहा—चेतनवन्त अनन्तगुण, सहित जु आतमराम।
यातें अनमिल और सब पुद्गलके परिणाम॥ ४॥

जीवस्स णत्थि वंधो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो।
ण वि रूपं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं॥५०॥

जीवस्स णत्थि राओ ण वि दोसो णेव विज्जए मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि॥५१॥

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि॥५२॥

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥५३॥
णो ठियबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहीट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥५४॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण उ एए सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥५५॥

जीवस्य नास्ति वर्णो नापि गंधो नापि रसो नापि स्पर्शः ।
नापि रूपं न शरीरं नापि संस्थानं न संहननं ॥ ५० ॥
जीवस्य नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः ।
नो प्रत्यया न कर्म नोकर्म चापि तस्य नास्ति ॥ ५१ ॥
जीवस्य नास्ति वर्गो न वर्गणा नैव स्पर्धकानि कानिचित् ।
नो अध्यात्मस्थानानि नैव चानुभागस्थानानि ॥ ५२ ॥
जीवस्य न सन्ति कानिचिद्योगस्थानानि न वन्धस्थानानि वा
नैव चोदयस्थानानि न मार्गणास्थानानि कानिचित् ॥५३॥
नो स्थितिबन्धस्थानानि जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा ।
नैव विशुद्धिस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा ॥ ५४ ॥
नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा संति जीवस्य ।
ये त्वेते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जीवके वर्ण नहीं है, गंध नहीं है, रस भी नहीं है, स्पर्श भी नहीं है, रूप भी नहीं है, शरीर भी नहीं है, संस्थान भी नहीं है, संहनन भी नहीं है, जीवके राग भी नहीं है, द्वेष भी विद्यमान नहीं है, मोह भी नहीं है, प्रत्यय याने आस्रव भी नहीं है, कर्म भी नहीं हैं, नोकर्म भी नहीं हैं, वर्ग नहीं हैं, वर्गणा नहीं हैं, स्पर्धक नहीं हैं, अध्यात्मस्थान भी नहीं हैं, अनुभागस्थान भी नहीं हैं, योगस्थान भी नहीं हैं, बंधस्थान भी नहीं हैं, उदयस्थान

भी नहीं हैं, मार्गणास्थान भी नहीं हैं, जीवके जो स्थितिबंधस्थान होते हैं वे भी नहीं हैं, संक्लेशस्थान भी नहीं हैं, विशुद्धिस्थान भी नहीं हैं, संयमस्थान भी नहीं हैं, जीवके जीवस्थान भी नहीं हैं, गुणस्थान भी नहीं हैं। क्योंकि ये सभी परिणाम पुद्गलके हैं। जीव तो परमार्थसे चैतन्य शक्तिरूप है।

जीव कैसा है इस प्रश्नके उत्तरमें कलश रूप काव्य कहते हैं—

मालिनी छन्द—

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा, भिन्ना भावा सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवान्तस्तत्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥५॥

अर्थ—वर्णादि वा रागादि जितने भाव कहे गये हैं वे सब पुरुष जो आत्मा उससे भिन्न ही हैं। इसलिये अन्तर्दृष्टिसे देखने वालेको ये सब भाव दीखते ही नहीं हैं। केवल एक चैतन्य भाव रूप पुरुष (आत्मा) दीखता है।

सारांश ये है कि परमार्थ नय अभेदरूप ही है, उससे देखने पर भेद नहीं दीखता है, उसमें तो केवल चैतन्य मात्र पुरुष ही दीखता है, इसलिये वे सब वर्णादिक वा रागादिक भाव पुरुषसे भिन्न ही दीखते हैं।

वरनादिक रागादि यह रूप हमारो नाहिं।
एक ब्रह्म नहिं दूसरो दीसै अनुभवमाहिं ॥५॥

प्रश्न—आपने कहा कि वर्णादिक भाव जीवके नहीं हैं लेकिन अन्य सिद्धांतमें ये जीवके हैं ऐसा कैसे कहा है? उसका उत्तर रूप गाथा कहते हैं—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमाईया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥५६॥

व्यवहारेण त्वेते जीवस्य भवंति वर्णाद्याः।
गुणस्थानान्ता भावा न तु केचिन्निश्चयनयस्य ॥५६॥

अर्थ—वर्णको आदि लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो भाव कहे गये हैं वे व्यवहार नयसे जीवके कहे गये हैं। निश्चयनयसे इन मेंका एक भी भाव जीवका नहीं है।

प्रश्न—ये वर्णादि भाव निश्चयनयसे जीवके क्यों नहीं हैं ? इसका कारण बतलाओ ? इस प्रश्नका उत्तररूप गाथा कहते हैं—

एदेहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेयव्वो।
ण हि हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाहिओ जम्हा॥५७

एतैश्च सम्बन्धो यथैव क्षीरोदकं ज्ञातव्यः।
न च भवंति तस्य तानि तूपयोगगुणाधिको यस्मात् ॥५७॥

अर्थ—जिसप्रकार दूध और जलका एक क्षेत्रावगाह संयोग सम्बन्ध है उसीतरह वर्णादि भावोंके साथ जीवका एक क्षेत्राव-गाही संयोग सम्बन्ध है। लेकिन वे वर्णादि भाव जीवके नहीं हैं क्योंकि जीव तो उपयोग गुणसे इनसे अधिक है। उपयोग गुणसे ही यह अलग समझा जाता है।

भावार्थ—जैसे जल से मिले हुए दूधका जलके साथ परस्पर अवगाह गुण है लक्षण जिसका ऐसा संयोग सम्बन्ध होते हुए भी दूध अपना स्वलक्षणभूत दूधपना गुण है व्याप्य जिसका उससे जलसे अधिक रूपसे प्रतीयमान होता है, फिर भी उसके साथ दूधका तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है जैसे अग्नि और उष्णका तादात्म्य-सम्बन्ध है उसप्रकारका जल और दूधका तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है। इसलिए निश्चयनयसे दूधमें जल नहीं है ऐसा जाना जाता है। उसीप्रकार वर्णादिक पुद्गल द्रव्यके परिणामोंसे मिश्रित जो आत्मा उसका पुद्गलद्रव्य सहित परस्पर अवगाह लक्षण सम्बन्ध होते हुए भी अपने उपयोग रूप व्याप्य लक्षणसे सम्पूर्ण द्रव्यसे भिन्न ही प्रतीयमान है अतएव जैसे अग्नि और उष्णका तादात्म्यसम्बन्ध है उसीप्रकार उपयोग और जीवका तादात्म्यसम्बन्ध है इसलिये

निश्चयनय से वर्णादिके साथ जीवका तादात्म्यसम्बन्ध न होनेसे वे जीवके नहीं हैं किन्तु पुद्गल के हैं ऐसा जानना चाहिये।

प्रश्न–ऐसा वर्णन करनेसे तो व्यवहारनय और निश्चयनय में विरोध आया? अविरोध कैसे कहा जासकता है? इसका समाधान तीन गाथाओं से दृष्टान्त पूर्वक कहते हैं—

पंथे मुस्संतं पस्सिऊण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सइ एसो पंथो ण य पंथा मुस्सदे कोई ॥५८॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिऊ वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तं ॥५९॥
एवं गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥६०॥

पथि मुष्यमाणं दृष्ट्वा लोका भणन्ति व्यवहारिणः।
मुष्यते एष पन्था न च पन्था मुष्यते कश्चित् ॥ ५८ ॥
तथा जीवे कर्मणां नोकर्मणां च दृष्ट्वा वर्णम्।
जीवस्यैष वर्णो जिनैर्व्यवहारतः उक्तः ॥ ५९ ॥
एवं गन्धरसस्पर्शवर्णानि देहः संस्थानादयो ये च।
सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयदृष्टारो व्यपदिशन्ति ॥ ६० ॥

अर्थ— जैसे मार्गमें चलनेवालेको लुटता देखकर व्यवहारी लोग ऐसा कहने लगते हैं 'ये मार्ग लुटता है' वास्तविक विचार किया जाय तो मार्ग तो लुटता नहीं है, चलने वाले ही लुटते हैं। उसी प्रकार जीवमें कर्मों तथा नोकर्मोंका वर्ण देखकर जिनेन्द्र देव व्यहारनयकी अपेक्षा ऐसा कहते हैं कि यह वर्ण जीवका है। ऐसे ही गंध, रस, स्पर्श, रूप, देह, संस्थान, आदि भी जीवके व्यवहार नयसे कहे जाते हैं, निश्चयसे जीवमें ये कोई भी गुण नहीं हैं। वह

तो अमूर्त स्वभाव है और उपयोग लक्षणका धारी होनेसे अन्य द्रव्योंसे भिन्न है। इसलिये वर्णादिक भावोंका जीवके साथ तादात्म्य लक्षण संवंधका अभाव है।

प्रश्न—वर्णादिके साथ जीवका तादात्म्य संबंध क्यों नहीं है? इस प्रश्नका उत्तररूप गाथा—

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णाई।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥६१॥

तत्र भवे जीवानां संसारस्थानां भवंति वर्णादयः।
संसारप्रमुक्ताना न संति खलु वर्णादयः केचित् ॥६१॥

अर्थ—वर्णादि जितने हैं वे सब संसारमें रहनेवाले संसारी जीवोंमें पाये जाते हैं लेकिन जो हमेशाके लिये संसारसे छूट गये हैं अर्थात् मुक्त होगये हैं, उनके साथ वर्णादिकोंमेंसे कोई भी गुण नहीं होता। इसीसे जीवके साथ वर्णादिकोंका तादात्म्य सबध नहीं हैं ऐसा कहा गया है।

भावार्थ—जिनका तादात्म्य संबध होता है वे कभीभी अलग अलग नहीं हो सकते हैं जैसे अग्निकी गर्मी अग्निसे कभी अलग नहीं हो सकती। अतएव ऐसी व्याप्ति बन जाती है कि जहां २ अग्नि होती है वहां २ गर्मी जरूर होती है। वर्णादिके साथ जीवकी ये व्याप्ति नहीं बनती है, क्योंकि वर्णादिका संबंध जीवके साथ कथंचित् संसार अवस्थामें पाया जा सकता है, परंतु मुक्तावस्थामें तो सर्वथा नहीं पाया जाता है। इसलिये जो एक अवस्था में रहे और दूसरी अवस्थामें न पाया जाय उसका संयोग संबंधही होता है। तादात्म्य संबंध तो उन्हींका होता है जो निश्चयसे संपूर्ण अवस्थाओंमें तत्स्वरूपसे व्याप्त हों और उस स्वरूपकी व्याप्तिसे रहित न हों। यदि जीव सभी अवस्थाओंमें वर्णादि स्वरूपसे व्याप्त

होता, तो कभी भी वर्णादिकी व्याप्तिसे शून्य न होता, और वर्णादि भावोंका जीवके साथ तादात्म्य संबंध होता ही होता। इसलिये वर्णादिका तादात्म्य संबंध पुद्गलके साथ है क्योंकि वर्णादिसे पुद्गल सर्व अवस्थाओंमें व्यापक है। जीवके साथ किसीप्रकार भी तादात्म्य संबंध नहीं है किंतु संयोगसंबंधही है।

प्रश्न—जीवके साथ वर्णादिका तादात्म्य संबंध है ऐसा कोई असत्य अभिप्राय करै तो उसमें क्या दोष है? उत्तर—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावत्ति मण्णसे जइ हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥६२॥

जीवश्चैव ह्येते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि।
जीवस्याजीवस्य च नास्ति विशेषस्तु ते कश्चित् ॥६२॥

अर्थ—वर्णादिके साथ जीवका तादात्म्य संबंध मानने वालें को कहते हैं कि मिथ्या अभिप्रायी तूं जो ऐसा मानता कि ये वर्णादि भाव सभी जीव हैं तो तेरे मतमें जीव अजीवमें कोई विशेषताही न रही। जैसे वर्णादिका पुद्गल द्रव्यके साथ तादात्म्य संबंध है वैसा ही संबंध यदि जीवके साथ भी पाया जाय तो जीव और पुद्गलमें कोई फरक नहीं हो सकता है? दूसरे जीवका अभाव ही हो जायगा यही एक बडा दोष हो जायगा।

प्रश्न—यदि ऐसा मानां जाय कि संसारावस्थामें ही जीवका वर्णादिसे तादात्म्य संबंध है, तो क्या दोष है? उत्तर रूप गाथा—

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णाई।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥ ६३ ॥
एवं पुग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमई।
णिव्वाणमुवगओ वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो ॥६४॥

अथ संसारस्थानां जीवानां तव भवन्ति वर्णादयः
तस्मात्संसारस्था जीवा रूपित्वमापन्नाः ॥ ६३ ॥
एवं पुद्गलद्रव्यं जीवस्तथा लक्षणेन मूढमते ।
निर्वाणमुपगतोऽपि च जीवत्वं पुद्गलः प्राप्तः ॥६४॥

अर्थ-- यदि संसारमें रहने वाले जीवोंके साथ तेरे मतमें वर्णादिका तादात्म्य संबंध माना जायगा तो संसारमें रहने वाले जीव रूपीपनको प्राप्त हो जावेंगे। इस तरह पुद्गल द्रव्य ही जीव ठहर जायगा क्योंकि जो पुद्गलका लक्षण है वही जीवका लक्षण हुवा । ऐसा होनेपर हे मूढबुद्धि निर्वाणको पानेवालाभी पुद्गलही हुवा? क्योंकि तुम्हारे सिद्धांतसे तो पुद्गल ही जीवपनेको प्राप्त हुवा ?

भावार्थ जो कोई वर्णादि भावोंका जीवके साथ संसारावस्थामें तादात्म्य संबंध मानता है उसके मतमें जीवका अभाव ही आता है क्योंकि वर्णादिक तो मूर्तीक (पुद्गल) द्रव्यके लक्षण हैं । यदि वही वर्णादिक जीवके भी लक्षण मान लिये जायंगे तो जीव भी पुद्गल ही कहलावेगा जब जीवका मोक्ष होगा तब वहां पर वह जीव पुद्गल ही कहलायेगा, पुद्गलसे अलग जीव नहीं ठहरेगा, इस प्रकार जीवका अभाव ही आवेगा, इसलिये ये निश्चय हुवा कि वर्णादिकका जीवके साथ तादात्म्य संबंध नहीं हैं ।

आगे के गाथामें इसी अर्थको विशेष रूपसे कहते हैं—

एकं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पच इन्दिया जीवा।
वादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥ ६५ ॥
एदेहिं य णिव्वुत्ता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं ।
पयडीहिं पुग्गलमइहिं ताहिं कह भण्णदे जीवो ॥६६॥

एकं वा द्वे त्रीणि च चात्वारि च पंचेन्द्रियाणि जीवाः
वादरपर्याप्तेतराः प्रकृतयो नामकर्मणः ॥ ६५ ॥

एताभिश्च निवृत्तानि जीवस्थानानि करणभूताभिः।

प्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीवः ॥ ६६ ॥

अर्थ–एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तथा वादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त जीव हैं वे सब नामकर्मकी प्रकृति हैं। करण रूप इन्हीं प्रकृतियोंसे जीवसमास वनाये गये हैं। ये प्रकृतियां तो पुद्गलरूप हैं। सो इनके द्वारा वनने वालेको जीव कैसे कहा जा सकता है ?

भावार्थ— निश्चयनयसे कर्म और करण अभेदभाव हैं। इस न्यायसे जो जिससे किया जाय वह वह ही है। जैसे सुवर्णका पत्र सुवर्णसे वनाया हुआ सुवर्ण ही होता है दूसरा कुछ नहीं उसी तरह ये जीवस्थान वादरसूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त आदि पुद्गलमई नामकर्मकी प्रकृति हैं, वे करणरूप हैं, उनसेही किये गये हैं, इसलिये पुद्गलही हैं। जीव नहीं हैं। नामकर्म की प्रकृतियां पुद्गलमई हैं ऐसा आगममें प्रसिद्ध है। प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि शरीर आदि मूर्तिमद्-भाव पुद्गल कर्मप्रकृतियोंके ही कार्य हैं। इसलिये जीवसमास पुद्गलमयही जानना चाहिये। इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं–

उपजाति छंद—

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित् तदेव तत्स्यान्न कथं च नान्यत्।

रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यन्ति रुक्मं न कथं च नासिम् ॥६॥

अर्थ जिस वस्तुसे जो भाव बनता है। वह भाव वही वस्तु है, कछु अन्यभाव नहीं है। जैसे रूपे सोने से बनाये हुए खड्ग [तलवार] को लोक रूपा (चांदी) अथवा सोना ही देखते हैं उसको खड्ग तो किसी तरह नहीं देखते हैं। सारांश ये है कि वर्णादिक पुद्गलसे बने हैं इसलिये पुद्गल ही हैं वे, जीव नहीं हो सकते।

खांडो कहिये कनकको कनक-म्यान-सयोग ।
न्यारौ निरखत म्यानसौ लौह कहैं सब कोय ॥६॥

पुनः कलशरूप काव्य—

वर्णादिसामग्न्यमिद विदन्तु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोऽस्त्विद पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥७॥

अर्थ—अहो ज्ञानीजन हो ये वर्णादिक गुणस्थान पर्यंत जितने भाव हैं वे सभी एक पुद्गलसे रचे हुए हैं उन्हें तुम पुद्गलही जानो वे आत्मा नही हैं क्योंकि आत्मा तो विज्ञानघन है ज्ञानसे लबालब भरा हुआ है, अतएव इन वर्णादिसे अन्य ही है ऐसा मानो ।

वर्णादिक पद्गल दसा धरे जीव बहु रूप ।
वस्तु विचारत करमसौ भिन्न एक चिद्रूप ॥७॥

आगे कहते हैं—इस ज्ञानघन आत्माको छोड कर बाकीको जीव कहना व्यवहार मात्र है—

पज्जत्तापज्जत्तय जे सुहुमा वायराय जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥६७॥

पर्याप्तापर्याप्ता ये सूक्ष्मा वादराश्च ये चैव ।
देहस्य जीवसंज्ञा सूत्रे व्यवहारत उक्ता ॥६७॥

अर्थ—सूक्ष्म, वादर, पर्याप्त, अपर्याप्त आदि जितनी देह हैं उनको जीव संज्ञा सूत्रमें व्यवहार नयसे कही गई है । इसी आशयका कलशरूप काव्य कहते हैं—

अनुष्टूप छंद—

घृतकुंभाभिधानेऽपि कुंभो घृतमयो न चेत् ।
जीवो वर्णादिमज्जीवो जल्पनेऽपि न तन्मयः ॥ ८ ॥

अर्थ—ये घडा घीका है ऐसा कहने पर भी घडा घृतमय नही है घडा तो मिट्टीका ही है । उसी तरह जीव है सो "वर्णादि मान है" ऐसा कहने पर भी वर्णादिमान नहीं है

किन्तु जीव तो ज्ञानघन ही है।

सारांश—पहिले घटको मिट्टीका नहीं जाना, किंतु घटमें घीके रखनेसे लोकके द्वारा घटको घीका घडा कहते सुना गया तब यही जाना कि घडा घृतहीका कहा जाता है। उसको समझानेके लिये घट मिट्टीका है ऐसा जानने वाला भी पुरुष घृतका घडा कहकर समझाता है। उसी प्रकार ज्ञानरूप आत्माको जिसने नहीं जाना किंतु वर्णादिके संबंधरूप ही जीवको जिसने जाना उसको समझानेके लिये सूत्रमें कहा है कि वर्णादिमान जीव है परन्तु ऐसा कहना व्यवहार है। निश्चयसे वर्णादिमान पुद्गल है जीव नहीं है। जीव तो ज्ञानघन है ऐसा जानना चाहिये।

दोहा-ज्यों घट कहिये घीवको घटको रूप न घीव।

त्यों वरणादि नामसौं जडता लहै न जीव॥ ८॥

आगे कहते हैं कि जैसे वर्णादि जीव नहीं है उसीतरह रागादिक भी जीव नहीं है—

मोहणकम्मस्सुदयादु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा ये णिच्चमचेयणा उत्ता॥ ६८॥

मोहनकर्मणउदयात्तु वर्णितानि यानीमानि गुणस्थानानि।
तानि कथं भवन्ति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि॥ ६८॥

अर्थ—गुणस्थान मोह कर्मके उदयसे होते हैं ऐसा सर्वज्ञदेव के आगममें वर्णन किया गया है, फिर वे जीव कैसे हो सकते हैं? क्योंकि गुणस्थान तो नित्य अचेतन कहे गये हैं।

भावार्थ—पुद्गलकर्मके उदयके निमित्तसे जो चेतनके विकार होते हैं वे भी पुद्गल द्रव्य ही हैं, क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें तो चेतन अभेद है और इसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान, दर्शनरूप हैं। इसलिये जो परद्रव्यके निमित्तसे विकार

होतेहैं वे चेतन सरीखे दीखतेहैं। फिरभी चेतनकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में व्यापी नहीं है। इसलिए चैतन्यसे शून्य जड ही हैं, इसतरह जो जड हैं सो पुद्गल ही हैं अन्य कुछ नहीं ऐसा निश्चित जानो।

प्रश्न–वर्णादि और रागादि दोनों जीव नहीं हैं तो फिर जीव क्या हैं? इसप्रकारके प्रश्नका उत्तररूप कलश काव्य कहते हैं–

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते॥ ९॥

अर्थ–जीव है सो चैतन्यरूप है यह तो अपने आप अतिशय चमत्काररूप प्रकाशमान है। कैसा है? अनादि है किसी समयभी नवीन उत्पन्न नहीं हुआ है। फिर अनन्त है–जिसका किसी समय नाश नहीं है। अचल हैं–अपने चेतनपने से कभी चलायमान नहीं होता है। स्वसंवेद्य है–अपने आपके द्वारा ही जाना जाता है स्फुट है प्रगट है छिपा हुआ नहीं है।

दोहा–निरावाध चेतन अलख जानै सहज स्वकीव।
अचल अनादि अनन्त नित प्रगट जगतमें जीव॥ ९॥

आगे फिर दूसरे लक्षणके अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोष दूर करनेको काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द

वर्णाद्यैस्सहितस्तथा विरहितो द्वेधाऽस्त्यजीवो यतो।
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्वं ततः॥
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा।
व्यक्तं व्यञ्जितजीवतत्वमतुलं चैतन्यमालम्ब्यताम्॥ १०॥

अर्थ–जो जीवका लक्षण अमूर्तीक कहाजाय तो अजीव पदार्थ दो प्रकारके होते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये तो वर्णादि भावोंसे रहित हैं और पुद्गल वर्णादि भावोंसे सहित हैं इसलिये अमूर्तीकपने को ग्रहणकर लोक जीवके स्वरूपको यथार्थ नहीं देख सकते इसमें

अतिव्याप्ति दूषण आता है और वर्णादिमें तो रागादि भी आजाते हैं, वे रागादि यदि जीवके लक्षण कहे जांय तो उनकी व्याप्ति तो पुद्गल ही में है, क्योंकि वे रागादि जीवकी सब अवस्थाओंमें तो पाये नहीं जाते इसलिये अव्याप्ति दोष आता है। इस प्रकार भेद-ज्ञानियोंने आलोचना कर-परीक्षा कर अतिव्याप्ति अव्याप्ति दूषणसे रहित जीवका लक्षण चेतनपना कहा है यही ठीक लक्षण बनता है, क्योंकि इसी लक्षणने जीवके स्वरूपको यथार्थ व्यक्त किया है, ये लक्षण जीवसे कभी चलायमान नहीं होता सदा पाया जाता है सो इसी लक्षणका अवलम्बन करो यही जीवका यथार्थ लक्षण ठहरता है।

सवैया इकतीसा—

रूप रसवत मूरतीक एक पुदगल, रूप विनु और यौ अजीव दर्व दुधा है।
चारि हैं अमूर्तीक जीव भी अमूर्तीक, याही तैं अमूर्तीक वस्तु ध्यान मुधा है॥
औरसौं न कबहूं प्रगट आप आपही सौं, ऐसौ थिर चेतन सुभाव सुद्ध सुधा है।
चेतनको अनुभौ आराधैं जग तेई जीव, जिन्हकौं अखंड रस चाखिवेकी छुधा है॥१०

प्रश्न—यदि चैतन्य या उपयोग लक्षणसे जीव प्रगट होता है तो फिर अज्ञानियोंको ये अज्ञात क्यों रहता है? इसका उत्तर आचार्य वडे आश्चर्यसे खेद जाहिर करते हुए देते हैं—

वसततिलका छंद—

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं।
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तम्॥
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं।
मोहस्तु तत्कथमहो वत नानटीति॥१०॥

अर्थ—इस प्रकार ऊपर कहे हुए लक्षणसे जीवसे अजीव भिन्न हैं इसका साफ २ अनुभव तो ज्ञानीजन ही करते हैं, फिर भी अज्ञानी जनकें यह अमर्यादरूप मोह अज्ञान प्रगट फैलता हुआ कैसा अतिशयसे नृत्य करता है इस वातका हमको वडा आश्चर्य है।

तथा खेद भी है। फिर इसके प्रतिषेध करनेको कहते हैं कि मोह नृत्य करता है तो करो तथापि ऐसा है कि—

(११)-सवैया तेईसा—

चेतन जीव अजीव अचेतन लच्छन भेद उभै पद न्यारे।
सम्यग्दृष्टि उद्योग विचच्छन भिन्न लखै लखिकैं निरवारै॥
जे जग माहिं अनादि अखंडित मोह महामदके मतवारै।
ते जड चेतन एक कहैं तिन्हकी फिरि टेक टरै नहिं टारै॥११॥

वसंततिलका छंद—

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये।
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः॥
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः॥ १२॥

अर्थ—यह अनादि कालका वडा भारी अविवेकका नृत्य है, उसमें वर्णादिमान पुद्गल ही नृत्य करता है अन्य कोई दूसरा नहीं, अभेदज्ञानमें पुद्गल ही अनेक प्रकार दीखता है, जीव तो अनेक प्रकार है नहीं। यह जीव है सो तो रागादिरूप पुद्गलसे होनेवाले विकारोंसे विरुद्ध विलक्षण शुद्ध चैतन्यमय मूर्ति है।

विशेषार्थ—रागादि चिद्विकारको देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना कि ये भी चैतन्य ही हैं। क्योंकि चैतन्यकी सब अवस्थाओं में व्यापे तो चैतन्यके कहे जा सकते हैं, सो ऐसा है नहीं, मोक्ष अवस्थामें तो इनका अभाव ही है। इनका अनुभव आकुलता मय दुःखरूप है, चैतन्यका अनुभव निराकुल है, यही जीवका स्वभाव है, ऐसा जानना चाहिये।

या घटमैं भ्रमरूप अनादि विलास महा अविवेक अखारौ।
तामहिं और स्वरूप न दीखत पुदगल नृत्य करै अति भारौ॥
फेरत भेख दिखावत कौतुक सौंजि लिये वरनादि पसारौ।

मोहसौं भिन्न जुदौ जडसौं चिनमूरति नाटक देखनहारौ ॥१२॥

आगे कहते हैं कि भेदज्ञानी यह ज्ञाता द्रव्य ज्ञानकी प्रवृति पूर्वक आप प्रगट होता है ऐसी महिमा कहकर अधिकार पूर्ण करते हैं-

मन्दाक्रान्ताछद-

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा।
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः॥
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या।
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥१३॥

अर्थ-इस प्रकार ज्ञानरूपी करोंतकी कलनाका वारंवार अभ्यास करके उसको नचाकर जीव और अजीव दोनों प्रगट रूपसे जबतक अलग २ न हो जाते तबतक यह ज्ञातृद्रव्य आत्मा समस्त पदार्थोंमें व्यापकर प्रगट विकासरूप व्यक्त होता हुआ चैतन्यमात्र शक्तिसे आप अत्यंत वेगसे अतिशय रूप प्रगट हो गया।

सारांश-जीव और अजीव (कर्म) दोनों अनादि कालसे मिले हुए हैं, अज्ञानतासे दोनों एक मालूम होते हैं, सो भेदज्ञानके अभ्यास से जबतक प्रगटरूपसे न्यारे न हुए, अर्थात् जीव कर्मोंसे छूटकर मोक्षके प्राप्त न हुवा, तबतक ज्ञातृद्रव्य आत्मा अपनी ज्ञानशक्तिसे सब वस्तुओंको जानकर अतिवेगसे आपही प्रगट हो गया। अर्थात् सम्यग्दृष्टि हुए बाद जबतक केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हो जाता तबतक सर्वज्ञ के आगमसे उत्पन्न श्रुतज्ञानसे प्रत्यक्ष परोक्ष रूप संक्षेप और विस्तार से सब वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है और उसज्ञान रूप आत्माका अनुभव होने लगना यही इसका प्रगट होना है, जब घातिया कर्मोंका नाशहोकर केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब संपूर्ण वस्तुओंका साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माका साक्षात् अनुभव करना सो ही इसका प्रगट होना है ऐसा मोक्षमय आत्मा पहिलेही प्रकाशमान होता है, यह भी जीव अजीवके न्यारे होने

का प्रकार है ।

सवैया इकतीसा—

जैसै करवत एक काठबीचि खंड करै, जैसै राजहंस निरवारै दूध जलकी ।
तैसै भेदज्ञान निज भेदक सकति सेति, भिन्न भिन्न करै चिदानंद पुदगलकौं ॥
अवधिकौं धावै मनपरययकी अवस्था पावै, उमगिकै आवै परमावधिकै थलकौं ।
याही भांति पूरन स्वरूपको उदोत धरै करै प्रतिबिंबित पदारथ सकलकौं ॥१॥

सवैया तेईसा

जीव अजीव अनादि संयोग मिले लखि मूढ न आतम पावै ।
सम्यक् भेदविज्ञान भयो तव भिन्न गहे निजभाव सुदावै ॥
श्रीगुरुके उपदेश सुनै रु भले दिन पाय अज्ञान गमावै ।
ते जगमाहि महंत कहाय वसै शिव जाय सुखी नित पावै ॥

इस प्रकार समयसारमें निजानंदमार्तंडका
प्रथम अधिकार संपूर्ण हुआ ।

अथ कर्तृकर्माधिकार प्रारभ्यते—

कर्ताकर्म विभावको मेंटि ज्ञानमय होय।
कर्म नाश शिवमें वसे तिन्हे नमू मंद खोय ॥१॥

मन्दाक्रान्ता छंद

एक कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी।
इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिम् ॥
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यंतधीरं ।
साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्यनिभासि विश्वम् ॥१॥

अर्थ—अज्ञानी जीवोंके ऐसी कर्ता कर्मकी प्रवृति होरही है कि इस लोकमें मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा तो एक कर्ता हूं और ये क्रोधादिक भाव मेरे कर्म हैं, सो ऐसी कर्तृकर्मकी प्रवृतिको साक्षात् यह ज्ञान शमन कर देता है, मेंट देता है, जो ज्ञान उत्कृष्ट है, उदात्त-किसीके आधीन नहीं है, अत्यंत धीर है, किसी प्रकार भी अकुलता रूप नहीं है। दूसरे की सहायताके विना सब द्रव्योंको अलग २ प्रकाशमें लाता है इसीसे संपूर्ण लोकालोकको साक्षात् प्रत्यक्ष जानता है।

सवैया इकतीसा—

प्रथम अज्ञानी जीव कहै मैं सदीव एक,
दूसरौन और मैं ही करता करमकौ।
अंतर विवेक आयौ अपापर भेद पायौ,
भयौ बोध गयौ मिटि भारत भरमकौ ॥
भासै छहौं दरबके गुन परजाय सब,
नासे दुख लख्यौ मुख पूरन परमकौ।
करमको करतार मान्यौ पुदगल पिंड,
आप करतार भयौ अतम धरमकौ ॥१॥

आगे यह बतलाया जाता है कि यह जीव जबतक आस्रव

और आत्माके विशेषको नहीं जानता तभीतक अज्ञानी रहता और आस्रवोंमें लीन होकर कर्मोंका बंध करता है—

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदाऽऽस्रवाण दोह्नं पि
अण्णाणी तावदु सो कोहाइ सु वट्टए जीवा ॥१॥
कोहाइसु वट्टतस्स तस्स कम्मस्स संचऊ होइ ।
जीवस्सेवं बंधो भणिऊ खलु सव्वदरसीहिं ॥२॥

यावन्न वेत्ति विशेषान्तरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि ।
अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्तते जीवः ॥१॥
क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य कर्मण संचयो भवति ।
जीवस्यैवं बंधो भणित खलु सर्वदर्शिभिः ॥२॥

अर्थ—यह जीव जब तक आत्मा और कर्मके विशेष अंतर को नहीं जानता है, दोनोंके भिन्न २ लक्षणको नहीं जानता है, तभी तक अज्ञानी होता हुआ क्रोधादि आस्रवोंमें प्रवृत्ति करता है और क्रोधादि रूप वर्तनेसे नवीन कर्मोंका संचय करता है । इस प्रकार इस जीवके साथ कर्मोंका बंध सर्वज्ञदेवने बतलाया है। मतलब ये है कि यह आत्मा जिस प्रकार अपने ज्ञानरूप परिणमता है उसी प्रकार क्रोधादि रूपभी परिणमता है। ज्ञान और क्रोधादिमें कोई भेद नहीं जानता है जबतक ऐसा है तभी तक इसके कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति रहती है, जिस समय क्रोधादि रूप परिणमता है, उस समय आप तो कर्ता है और वे क्रोधादि इसके कर्म हो जाते हैं, ऐसी कर्ता कर्मकी प्रवृत्ति अनादिकालसे चली आ रही है उसीसे कर्मोंका बंध होता है।

प्रश्न—जीवके कर्तृकर्मकी प्रवृत्तिका अभाव कौन समय हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर रूप गाथा—

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।
णायं होइ विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥३॥

यदानेन जीवेनात्मन आस्रवाणां च तथैव ।
ज्ञात भवति विशेषान्तरं तु तदा न बंधस्तस्य ॥३॥

अर्थ—जिस समय यह जीव-आतमा और आस्रवके लक्षणको भिन्न २ जान लेता है उसी समय फिर इसके बंध नहीं होता है । जब इस जीवको ऐसा अनुभव होने लगता है कि ज्ञानमें क्रोधादि नहीं और क्रोधादिमें ज्ञान नहीं हैं तभी इनके एकपनेका अज्ञान दूर हो जाता है फिर कर्मका नवीन बंध नहीं होता है, इस तरह ज्ञान ही से बंधका निरोध होता है ।

प्रश्न—ज्ञानमात्रसे बंधका निरोध कैसे होता है ? इस प्रश्नका उत्तर रूप गाथा—

णाऊण आसवाणं असुइत्तं च विवरीयभावं च ।
दुक्खस्स कारणंति य तदो णियत्तिं कुणइ जीवो ॥४॥

ज्ञात्वास्रवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च ।
दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः ॥४॥

अर्थ—आस्रवोंका अशुचित्व तथा विपरीतपना तथा ये दुख के कारण हैं, ऐसा जान कर यह जीव उनसे निवृति करता है ।

मतलब ये है कि आस्रव अशुचि हैं, जड हैं, दुखके कारण हैं, आतमा पवित्र है, ज्ञाता है, सुख स्वरूप है । इस प्रकार दोनोंको लक्षणके भेदसे भिन्न २ जान कर आत्मा आस्रवोंसे अलग हो जाता है । तब फिर आत्माके साथ कर्मबंध नहीं होता है । यदि ऐसा जान कर भी निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ज्ञान नहीं अज्ञान है।

प्रश्न—अविरत सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी संबंधी प्रकृतियोंका तो आस्रव नहीं होता परन्तु दूसरी २ प्रकृतियोंका तो आस्रव बंध होता है ? इसको ज्ञानी कहना कि अज्ञानी ?

उत्तर—अविरत सम्यग्दृष्टिके जो प्रकृतियोंका बंध होता है वह इसके अभिप्राय पूर्वक नहीं होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि हुए

पीछे परद्रव्यका स्वामित्व इसके नहीं रहता है इसलिये जबतक चरित्र मोहका उदय है, तबतक उसके उदयानुसार आस्रव बंध होते रहते हैं परन्तु उसका स्वामित्व इसके नहीं है। क्योंकि अभिप्रायमें तो इससे निवृत्त ही होना चाहता है। इसलिये इसको ज्ञानीही कहना चाहिये। इसी आशयको समर्थन करने वाला कलश रूप काव्य—

मालिनीछद—

परपरिणतिमुज्झत् खण्डयद्भेदवादा-
निदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः ॥
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबंधः ॥२॥

अर्थ—यह ज्ञान है सो प्रत्यक्ष उदयको प्राप्त हुआ है। कैसा हुआ ? अखंडं—जिसमें ज्ञेयके निमित्तसे तथा क्षयोपशमके विशेषसे अनेक खंडरूप आकार प्रतिभासमें आते थे उनसे रहित ज्ञानमात्र आकार अनुभवमें आया। फिर कैसा है ज्ञान ? भेदवादान् खंडयत् मतिज्ञानादि अनेक भेदोंको दूरकरता हुआ उदयको प्राप्त हुआ। फिर कैसा है ? परपरिणतिमुज्झत् परके निमित्तसे जो रागादि रूप परिणमता था उस परिणतिको छोडता हुआ उदय हुआ। फिर कैसा है ? उच्चैः उच्चंडं—अत्यन्त प्रचण्ड है परके निमित्तसे रागादिरूप नहीं परिणमता है। यहां आचार्य कहते हैं अहो ऐसे ज्ञानमें परद्रव्यके कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अवकाश कैसे हो सकता है ? तथा पौद्गलिक कर्मबन्ध कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

जाही समै जीव देह बुद्धिकौ विकार तजै,
वेदत सरूप निज भेदत भरमकौं।
महा परचड मति मंडन अखडरस,
अनुभौ अभ्यासि परगासत परमकौं ॥

ताही समै घटमैं न रहै विपरीत भाव,
जैसैं तम नासै भानु प्रगटि भरमकौं।
ऐसी दसा आवै जब साधक कहावै तब,
करता है कैसै करै पुदगल करमकौं ॥२॥

प्रश्न—कौनसे विधानसे आस्रवोंसे परांमुखता होती है?
इस प्रश्नका उत्तररूप गाथा—

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो
तम्हि ठियो तच्चित्तो सव्वे ए ए खयं णेमि ॥ ७३ ॥

अहमेकः खलु शुद्धो निर्ममतो ज्ञानदर्शनसमग्रः।
तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः सर्वानेतान् क्षयं नयामि ॥ ७३ ॥

अर्थ—ज्ञानी विचार करता है कि निश्चयसे मैं एक हूं, शुद्ध हूं, निर्ममत्व-ममता रहित हूं और ज्ञान दर्शनसे पूर्ण हूं। ऐसे स्वभावमें स्थित हुआ उस चैतन्यके अनुभवमें लीन होता हुआ क्रोधादिक आश्रवोंका क्षय करता हूं।

विशेषार्थ—शुद्ध नय से ज्ञानीने आत्माका ऐसा निश्चय किया कि मैं एक हूं, शुद्ध हूं, परद्रव्यसे ममता रहित हूं और ज्ञान दर्शनसे पूर्ण वस्तु हूं जब इसप्रकार अपने स्वरूपमें रहता हुवा उसी का अनुभव कररहा हो तब आश्रवके कारण क्रोधादिका क्षय हो जाता है।

प्रश्न—ज्ञान होना और आश्रवका रुकना इनका समकाल कैसे है? उत्तररूप गाथा—

जीवणिबद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफलात्ति य णाऊण णिवत्तए तेहिं ॥७४॥

जीवनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च।
दुःखानि दुःखफला इति च ज्ञात्वा निवर्तते तेभ्यः ॥ ७४ ॥

अर्थ—ये आश्रव जीव सहित निबद्ध हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण तथा दुःखरूप हैं और दुःख ही इनका फल है ज्ञानी ऐसा जानकर उनसे निवृत्ति प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—आश्रवों और जीवका जिसप्रकार भेद बतलाया है उस प्रकारके भेदके ज्ञानसे ही जीवका जितना अंश आश्रवोंसे निवृत्त होता है, उतना अंश विज्ञान घन स्वभाव होता जाता है जब संपूर्ण आश्रवोंसे निवृत्त होजाता है तब आत्मा पूर्ण ज्ञानघन स्वभाव बन जाता है। इसप्रकार आश्रवकी निवृत्ति और ज्ञानका होना एक काल होता है ऐसा जानना।

यहां विज्ञान धन स्वभाव कहा सो जबतक मिथ्यात्व रहता है तबतक तो ज्ञानको अज्ञान ही कहा जाता है, मिथ्यात्व गये पीछे अज्ञान नहीं कहा जाता है, फिरतो ज्ञान ही कहाजाता है। कर्म क्षय और उपशम क्षयोपशमकी अपेक्षा ही ज्ञानकी हीनाधिकता कही जाती है ज्यों २ आश्रवोंकी निवृत्ति होती है त्यों २ ज्ञान बढता जाता है इसीको विज्ञान घन कहा जाता है। इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं।

शार्दूलविक्रीडितछन्द—

इत्येवं विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां।
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम् ॥
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयम्।
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥२

अर्थ—यहांसे आगे पुराणपुरुष आत्मा जगतका साक्षीभूत ज्ञाता दृष्टा अपने आप ही ज्ञानी होता हुआ प्रकाशमान होता है। सो पहिले क्या करके कैसा होता हुवा प्रकाशमान होता है? सो कहते हैं कि पहिले कहे हुए विधानसे परद्रव्यसे सब प्रकार निवृत्त होकर और विज्ञानघन स्वभाव जो केवल अपना आत्मा उसको निःशंक

आस्तिक्य भाव रूप स्थिरीभूत करता हुवा अज्ञानतासे जो कर्तृकर्म की प्रवृत्ति हुई थी उसके अभ्याससे जो क्लेश हुवाथा उससे अलग होता हुवा प्रकाशमान होता है।

जगमें अनादिको अज्ञानी कहै मेरौ कर्म,
करता मैं याकौ किरियाकौ प्रतिपारवी है।
अंतर सुमति भासी जोगसौं भयौ उदासी,
ममता मिटाइ परजाइ बुद्धि नाखी है॥
निरभै सुभाव लीनौ अनुभौके रस भीनौ,
कीनौ विवहार दृष्टि निहचैमैं राखी है।
भरम की डोरी तोरी धरमकौ भयौ धोरी,
परमसौ प्रीति जोरी करमकौ साखी है॥३॥

प्रश्न—ऐसे ज्ञानी आत्मकी पहिचान कैसे हो? उसके चिन्ह कहिये? इस प्रश्नका उत्तररूप गाथा—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेई एयमादा, जो जाणदि सो हवदि णाणी॥७५

कर्मणश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामं।
न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी॥७५॥

अर्थ--जो जीव इस कर्म और नोकर्मके परिणामको जानता हुवा उसको नहीं करता है वही ज्ञानी है। जो भाव निश्चयसे मोह, राग, द्वेष, सुख, दुख आदि रूपसे अंतरंगमें उपजता है सो तो कर्मका परिणाम है। और स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, बंध, संस्थान, स्थौल्य, सूक्ष्म आदि रूपसे बाहरमें उपजता है सो नोकर्मका परिणाम है। सो ये संपूर्ण ही परिणाम परमार्थसे पुद्गलके परिणाम हैं जैसे घट और मृतिकाके व्याप्य व्यापक भावके सद्भावसे कर्तृ कर्मपना है" उसी तरह पुद्गल द्रव्य स्वतन्त्र व्यापक होता हुआ कर्ता है और वे आप अंतरगमें व्याप्य रूपसे व्यापे है इसलिये

पुद्गलके कर्म हैं। पुद्गल परिणामों और आत्माका घट और कुम्हार जैसा व्याप्यव्यापक भाव नहीं है, इनमें तो व्याप्यव्यापकपनेका अभाव है इसलिये इनमें कर्तृ कर्मपना नहीं बन सकता है। अतः आत्मा में कर्म नोकर्मके कर्तृत्वका अभाव है।

इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छंद—

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि।
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ॥
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिंदंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥४॥

अर्थ—व्याप्य व्यापकपना उन्हींमें होता है जो तत्स्वरूप होते हैं जो नत्स्वरूप नहीं होते उनमें व्याप्य व्यापकपना भी नहीं होता है। जब व्याप्य व्यापकपनेका संभव नहीं है तो कर्तृकर्मपनाभी कैसे संभव हो सकता है। ऐसा उदार विवक रूप, और सबको ग्रासीभत करनेका जिसका स्वभाव हो, ऐसा ज्ञानरूप तेज-प्रकाश अपने भारसे अज्ञान रूप अंधकारको भेद कर यह आत्मा ज्ञानी होता है उस समय कर्तृपनेस रहित ही शोभा पाता है।

विशेष—जो सभी अवस्थाओंमें व्यापे सो तो व्यापक, और जो अवस्थाके विशेष हैं वे व्याप्य हैं इस लक्षणके अनुसार द्रव्य तो व्यापक है, और पर्याय व्याप्य है। जो द्रव्यका आत्मा होता है वही पर्यायका आत्मा होता है सो ऐसा व्याप्य व्यापक भाव तो जो तत्स्वरूप होता है उसीमें होता है, अतत्स्वरूपमें नहीं होता। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि व्याप्यव्यापकभाव विना कर्तृकर्मपना भी नहीं हो सकता, ऐसा जो जानता है वह पुद्गल और आत्माके कर्तृकर्मपनेको कभी नहीं स्वीकार करता है, तभी ज्ञानी कहलाता है।

जैसो जो दरव ताकौ तैसो गुन परजाय,
ताही सौं मिलत पै मिलै न काहू आन सौं ।
जीव वस्तु चेतन करम जड जाति भेद,
अमिल मिलाप ज्यौं नितंब जुरै कानसौं ॥
ऐसौ सुविवेक जाके हिरदै प्रगट भयौ,
ताकौ भ्रम गयौ ज्यों तिमिर भागै भान सौं ।
सोई जीव करमकौ करता सौ दीसै पै,
अकरता कह्यौ है सुद्धता के परमान सौं ॥ ॥

प्रश्न—जो जीव पुद्गलको जानता है उसको पुद्गलसहित कर्तृकर्मभाव है कि नहीं ? इस प्रश्नका उत्तर रूप गाथा—

ण वि परिणमइ ण गिण्हइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाये
णाणी जाणंतो विहु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥७६॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्माण्यनेकविधम् ॥७६॥

अर्थ-- ज्ञानी अनेक प्रकार पुद्गलद्रव्यके पर्याय रूप कर्मोंको जानता है तो भी निश्चयसे परद्रव्यके पर्यायोंमें उन रूप नहीं परिणमता है, और न उनको ग्रहण करता है, और न उनमें उपजता ही है ।

मतलब ये है कि जीव पुद्गलकर्मोंको जानता है, तो भी उसका पुद्गलोंके साथ कर्तृकर्म भाव नहीं है । क्योंकि कर्मों का कार्य तीनही प्रकार हो सकता है । या तो उस पर्याय रूप आप परिणमै सो परिणाम है, अथवा आप किसीको ग्रहण करे सो वस्तु है । या किसी को आप उत्पन्न करे । ऐसे तीन प्रकार से जीव अपनेसे अलग जो पुद्गल द्रव्य उस रूप वास्तवमें परिणमता नहीं, क्योंकि जीव तो चेतन है, पुद्गल जड है । चेतन जडरूप कभी हो नहीं सकता । परमार्थमें जीव पुद्गलको ग्रहण भी नहीं

करता है, क्योंकि पुद्गल मूर्तीक है, आप अमूर्तीक है। और आप (जीव) पुद्गलको उत्पन्न भी नहीं करता है, क्योंकि चेतन जडको कैसे उत्पन्न कर सकता है? इस तरह पुद्गल जीवका कर्म नहीं है और न जीवही इसका कर्ता है।

प्रश्न—अपने परिणामोंको जानते हुवे जीवका पुद्गल सहित कर्तृकर्मभाव है कि नहीं? उत्तर रूप गाथा—

ण वि परिणमइ ण गिह्णइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाये
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ॥ ७७॥

नापि परिणमति न गृह्णाति उत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधम् ॥ ७७ ॥

अर्थ-ज्ञानी अपने परिणामोंके अनेक प्रकारोंको जानता है तो भी परके पर्यायों में नहीं परिणमता है, उनको गृहण भी नहीं करता है, और न उनमें उत्पन्न होता है इसलिए पुद्गल सहित कर्तृकर्मभाव नहीं है। इसका तात्पर्य भी ऊपर कहे हुए गाथा के अनुसार ही जानना सिर्फ इतनी विशेषता है कि अपने परिणामको जानते हुए को भी ज्ञानी कहा है।

प्रश्न-पुद्गल कर्मके फलको जानते हुए जीवके पुद्गल सहित कर्तृकर्म भाव हैं कि नहीं? उत्तररूप गाथा-

ण वि परिणमइ ण गिह्णइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं ॥ ७८ ॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमनन्तम् ॥ ७८ ॥

अर्थ--ज्ञानी पुद्गल कर्मोंके अनन्त फलोंको जानता हुआ भी परमार्थसे परद्रव्यके पर्यायोंमें परिणमन नहीं करता है, उनमेंसे कुछ गृहण भी नहीं करता है, तथा उनमें उत्पन्न भी नहीं होता है

इसतरह उनमें इसका कर्तृकर्मभाव नहीं है। पहिले गाथाके अनुसार ही भाव समझना चाहिये।

प्रश्न--जीवके परिणामको तथा अपने परिणामको और अपने परिणामके फलको नहीं जानेनवाला पुद्गल द्रव्यके जीव सहित कर्तृकर्मभाव है कि नहीं है ? ऐसे प्रश्नका उत्तररूप गाथा-

ण वि परिणमइ ण गिह्णइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं ॥ ७९ ॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
पुद्गलद्रव्यमपि तथा परिणमति स्वकैर्भावैः ॥ ७९ ॥

अर्थ-पुद्गलद्रव्य भी उसीतरहसे परद्रव्यके पर्यायोंमें परिणमन नहीं करता है, तथा उसको ग्रहण भी नहीं करता और न उनमें उत्पन्न ही होता है। क्योंकि वह तो अपने ही भावोंमें परिणमन करता है।

विशेष-कोई जानेगा कि पुद्गल जड है इसलिए किसीको जानता नहीं है उसके जीव सहित कर्तृभाव होगा सो ऐसा नहीं है। क्योंकि वास्तवमें देखा जाय तो परद्रव्यके साथ किसीके भी कर्तृकर्मभाव नहीं है। इसही अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं-

स्रग्धराछन्द-

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्।
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यंतभेदात् ॥
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्।
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥ ५ ॥

अर्थ—ज्ञानी जीवही अपनी और परकी दोनोंकी परिणतिको जानता है। पुद्गल द्रव्य न तो अपनी परिणतिको जानता है और न दूसरेकी परिणतिको जानता है। फिर भी वे दोनों परस्पर

में अंतरंग रूपसे व्याप्य व्यापक भावको कैसे प्राप्त हो सकते हैं? क्योंकि दोनों द्रव्य भिन्न भिन्न हैं। इसलिये हमेशाही उनमें अत्यंत भेद है। ऐसा होते हुए इनमे कर्तृकर्मभाव मानना भ्रम बुद्धि है। ये भी जबतक इन दोनोंमें करोंतकी तरह निर्दय होकर तत्काल भेदको उत्पन्न करके भेदज्ञान है ज्वालाप्रकाश जिसका ऐसा ज्ञानप्रकाश न हो जाय तबतकही है। भेद ज्ञान होने बाद पुद्गल और जीवके कर्तृकर्मभावकी बुद्धी नहीं रहती है। क्यों कि जबतक भेदज्ञान नहीं होता है तभीतक अज्ञानतासे कर्तृकर्मभाव की बुद्धि रहती है ॥ ५॥

जीव ज्ञान गुन सहित आप गुन पर गुन ज्ञायक।
आपा परगुन लखै नाहि पुद्गल इहि लायक॥
जीव दरब चिद्रूप सहज पुदगल अचेत जड।
जीव अमूरति मूरतीक पुदगल अंतर बड॥
जब लग न होय अनुभव प्रगट तब लग मिथ्यामति लसै।
करतार जीव जड करमको सुबुधि विकास यहु भ्रम नसै॥५॥

आगे कहते हैं कि जीवके परिणाम और पुद्गलके परिणामों में परस्पर निमित्त मात्रपना है तो भी उन दोनोंमें कर्तृ-कर्मभाव नहीं है—

जीव परिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो बि परिणमई ॥८०॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥८१
एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८२॥

जीव परिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमन्ति।
पुद्गलकर्मनिमित्तं तथैव जीवोपि परिणमति ॥८०॥
नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान्।
अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि ॥ ८१ ॥
एतेन कारणेन तु कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन।
पुद्गलकर्मकृतानां न तु सर्वभावानाम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—जीवके परिणामके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप परिणमते है। उसीतरह जीव भी पुद्गल कर्मके निमित्तसे कर्मरूप परिणमते हैं। जीव कर्मोंके गुणोंको नहीं करते हैं तथा कर्म भी जीवके गुणोंको नहीं करते हैं। इन दोनोंका परस्परके निमित्तसे परिणमन होता है। इसी कारणसे आत्माको कर्ता कहा गया है। सो भी अपने ही भावों से है। और जो पुद्गल कर्मोंके द्वारा भाव किये जाते हैं उनका तो सर्वथा ही कर्ता नहीं है। तात्पर्य ये है कि जीव पुद्गल में परस्पर निमित्तमात्र पना है तो भी परस्परमें कर्तृकर्मभाव नहीं है। जो परके निमित्तसे अपने भाव होते हैं उनका अज्ञान दशामें कदाचित कर्ता कहा भी जा सकता है परन्तु परभावका कर्ता तो कभीभी नहीं कह सकते।

आगे कहते हैं कि इस हेतुसे तो यही ठहरा— कि जीवके अपने परिणमोंही से कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्यभाव है—गाथा—

णिच्चयणयस्स एवं आदा अत्ताणमेव हि करेई।
वेएइ पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अप्पाणं ॥८३॥

निश्चयनयस्यैवमात्माऽऽत्मानमेव करोति।
वेदयते पुनस्तं चैव जानीह्यात्मा त्वात्मानम् ॥८३॥

अर्थ—निश्चयनयसे तो आत्मा अपने आपका ही कर्ता है तथा अपने आपको ही वेदने वाला है अन्यका नही। अर्थात् परिणामों

का भोक्ता है अन्यका नहीं। हे शिष्य तू यही सिद्धांत चित्तमें धारण कर।

भावार्थ–संसारी है, मुक्त है, जीवकी ऐसी अवस्थाएं परद्रव्य रुप पुद्गल कर्मके निमित्तसे होती हैं, इन अवस्था रूप जीव खुद परिणमता है, इससे आप आपका ही कर्ता वा भोक्ता है, पुद्गल कर्म तो निमित्त मात्र है, उसका कर्ता भोक्ता नहीं हैं।

आगे व्यवहारनयको दिखाते हैं–गाथा–

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेइ णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥८४॥

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधम्।
तदेव पुनर्वेदयते पुद्गलकर्मानेकविधम् ॥ ८४ ॥

अर्थ–व्यवहारनयका यह मत है कि आत्मा अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मोंका कर्ता है और उन्हीं अनेक प्रकारके पुद्गल कर्मोंका वेदने वाला है–भोगता है।

तात्पर्य–निश्चयसे पुद्गल कर्मका कर्ता पुद्गल कर्म ही है, पुद्गल कर्मके उदयानुसार जीव अपने रागादि परिणामोंका करता है। इन (पुद्गल कर्म और रागादि भाव) के निमित्तनैमित्तिक भावको देख कर अज्ञानीको ऐसा भ्रम है कि पुद्गल कर्मका कर्ता जीव है ऐसा भ्रम अनादि कालके अज्ञान से है। जब तक जीव और पुद्गलका भेद ज्ञान नहीं है तभी तक दोनोंकी प्रवृति एकसी दीखती है। भेद ज्ञान होने पर ऐसी प्रवृति मिट जाती है।

आगे व्यवहारका दूषण दिखाते हैं—

जइ पुग्गलकम्ममिणं कुव्वइ तं चेव वेयई आदा।
दो किरियाविदिरित्तो पसज्जए सो जिणावमयं ॥८५॥

यदि पुद्गलकर्मेदं करोति तथैव वेदयते आत्मा।
द्विक्रियाव्यतिरिक्तः प्रसजति स जिनावमतं ॥८५॥

अर्थ—यदि आत्मा पुद्गल कर्मका कर्ता है और उसीका वेदने वाला है-भोगता है तो वह आत्मा दो क्रियाओंसे अभिन्न ठहरता है ऐसा ही प्रसंग आता है सो ऐसा जिनदेवका मत नहीं है।

प्रश्न—एक पुरुष दो क्रियाओंका अनुभव करने वाला होने से मिथ्यादृष्टि कैसे हो सकता है? इसका समाधान-

जम्हा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छाइट्ठी दोकिरियावाइणा हुंति ॥८६॥

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गलभावं च द्वावपि कुर्वंति।
तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रियावादिनो भवंति ॥८६॥

अर्थ—क्योंकि आत्माके भावका और पुद्गलके भावका [दोनों का] आत्मा करता है उसीसे दोनों क्रियायें एक ही की हैं ऐसा कहने वाले द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि हैं।

मतलब ये है कि 'आत्मा अपने ही भावोंको करता हुआ प्रतिभासमान होता है' इसीसे आत्मा और पुद्गल की क्रियाओंका एक आत्मा ही कर्ता है ऐसा मानने वालेको मिथ्यादृष्टि कहा है। यदि जड और चेतन की एक ही क्रिया हो जावे तो पलटने वाले सब द्रव्योंका लोप हो जाय, यही एक बडा दोष पैदा हो जाय। इसी अर्थके समर्थन करनेको कलश रूप काव्य कहते हैं-

आर्या छंद—

यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा, त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥६॥

अर्थ—जो परिणमता है वह कर्ता है, जो परिणमा है वह कर्म है, जो परिणति है-परिणमन रूप है वही क्रिया है, ये तीनों वस्तुत्व

दृष्टिसे भिन्न भिन्न नहीं हैं।

विशेष—द्रव्यदृष्टिसे परिणाम और परिणामीमें कुछ भी भेद नही है, किन्तु पर्यायदृष्टिसे भेद है, और भेद दृष्टिसे ही कर्ता कर्म, क्रिया, तीन कहे जाते हैं। यहां अभेददृष्टिको परमार्थ कहा गया, कर्ता कर्म, क्रिया तीनोंही एक द्रव्यकी भिन्न २ अवस्थाएं हैं, प्रदेश भेद रूप अलग वस्तु नहीं हैं।

दोहा—करता परिनामी दरव करम रूप परिनाम।
किरिया परजयकी फिरन वस्तु एक त्रय नाम ॥६॥

फिर कहते हैं—

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥ ७ ॥

अर्थ-वस्तु एकही सदा परिणमती है, और एकही के सदा परिणाम उत्पन्न होते हैं, अर्थात् एक अवस्था दूसरी अवस्था रूप हो जाती है। एकही की परिणति-परिगमन क्रिया होती है। जो भी अनेक रूप हो जाता है तो भी वह है एकही वस्तु, उसमें भेद नहीं है।

करता करम क्रिया करै, क्रिया करम करतार।
नाम भेद बहु विधि भयौ, वस्तु एक निरधार ॥७॥

फिर इसी सिद्धांतको कहते हैं—

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥८॥

अर्थ-दो द्रव्य एक रूप होकर नहीं परिणमते हैं, न दो द्रव्योंका एक परिणाम ही होता है, न दो द्रव्योंकी एक परिणति रूप क्रिया होती है। क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं वे तो अनेक ही हैं, कभी एक हो नहीं सकते हैं।

मतलब ये है कि दो वस्तुएं सर्वथा भिन्नही हैं प्रदेशोंसे

भी भिन्न २ ही हैं, दोनों एक रूप होकर कभी परिणम नहीं सकतीं–एक परिणामको उत्पन्न नहीं कर सकतीं। ऐसा नियम है कि दो द्रव्य एक रूप यदि परिणम जॉय तो सब द्रव्योंका लोप हो जाय।

एक करम करतव्यता, करै न करता दोई।
दुधा दरव सत्ता सुधी, एक भाव क्यों होइ ॥८॥

फिर इसी अर्थके दृढ करनेको काव्य कहते हैं–

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणि न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥ ९ ॥

अर्थ—एक द्रव्यके दो कर्ता नहीं होते, न एक द्रव्यके दो कर्म होते हैं, तथा एक द्रव्यकी दो क्रियाएं भी नहीं होती हैं। क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्य रूप नहीं हो सकता। शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे ऐसा ही जानना चाहिये।

सवैया इकतीसा—

एक परिनामके न करता दरव दोइ,
दोइ परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोइ दर्व कबहुं न करै,
दोइ करतूति एक दर्व न करतु है॥
जीव पुदगल एक खेत अवगाही दोउ,
अपनें अपनें रूप कोउ न टरतु है।
जड परिनामनिकौ करता है पुदगल,
चिदानंद चेतन सुभाउ आचरतु है ॥ १ ॥

आगे कहते हैं कि आत्माके अनादिकालसे परदव्यके कर्तृ कर्मपनेका अज्ञान है, यदि वह परमार्थनयको ग्रहण कर एकवार भी विलय हो जाय तो फिर न होने पावे–

शार्दुलविक्रीडित छंद–

आससारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकैः ।
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः ॥
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत् ।
तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥१०॥

अर्थ–इस संसारमें मोही (अज्ञानी) जीवोंका 'मैं परद्रव्यका करता हूं' ऐसा परद्रव्यका कर्तृत्वका अहंकार रूप आज्ञानांधकार अनादि संसारसे चला आ रहा है। कैसा है अज्ञानांधकार? जो अत्यंत दुर्वार है--किसी भी तरह निवारा नहीं जा सकता है। इसलिये आचार्य कहते हैं–कि शुद्ध द्रव्यार्थिक नयही पारमार्थिक है, सत्यार्थ है, उसको ग्रहण करके जो एकबार भी वह अज्ञानांधकार नाश हो जाय तो यह जीव जो ज्ञानघन है उसका वह यथार्थ ज्ञान कहां चला जायगा? कहीं भी नहीं जायगा। यदि ज्ञान नहीं गया तो फिर अज्ञानतासे होनेवाला बंध होवेगा क्या? कभीभी नहीं होवेगा।

यहां तात्पर्य ऐसा है कि अज्ञान तो अनादि कालका है, परंतु दर्शनमोह (मिथ्यात्व) का नाशकर एकबार यथार्थ ज्ञान होकर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हो जावे तो फिर मिथ्यात्व गये पीछे संसारका बंधन क्यों होवेगा? मोक्षही प्राप्त होगा ऐसा जानना चाहिये।

महाधीट दुःखको वसीट परदर्वरूप,
अंधकूप काहूपै निवार्‍यौ नाहि गयौ है।
ऐसौ मिथ्याभाव लग्यौ जीवकौं अनादि ही कौ,
याही अहंबुद्धि लिये नानाभांति भयौ है॥
काहू समै काहूकौ मिथ्यात अंधकार भेदि,
ममता उछेदि सुद्धभाव परिनयौ है।

तिनहि विवेक धारि बंधको विलास डारि,
आतम सकति सौं जगत जीत लयौ है ॥१०॥

फिर विशेष रूपसे कहते हैं—

अनुष्टुप् छंद—

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥ ११ ॥

अर्थ—आत्मा अपने भावोंका करता है, परद्रव्य अपने भावोंके कर्ता हैं। क्योंकि अपने भाव तो आप खुदही है और परभाव हैं सो परही हैं यह नियम है।

सुद्धभाव चेतन असुद्ध भाव चेतन,
दुहुकौ करतार जीव और नहिं मानिये।
कर्म पिंडकौ विलास वर्न रस गंध फास,
करता दुहूंकौ पुदगल परमानिये ॥
तातैं वरनादि गुन ज्ञानावरनादि कर्म,
नाना परकार पुदगल रूप जानिये।
समल विमल परिनाम जे जे चेतनके,
ते ते सब अलख पुरुष यौं वखानिये ॥११॥

प्रश्न—यह मिथ्यात्वादि-भाव क्या वस्तु हैं यदि ऐसा कहा जाय कि ये जीवके परिणाम हैं तो पहिले कह चुके हैं कि रागादि भाव पुद्गलके हैं उससे विरोध आवेगा यदि पुद्गलके परिणाम कहे जांय तो जीवको तो इससें कोई प्रयोजन नहीं फिर इसका फल जीव क्यों पावेगा ?

इस प्रश्नके उत्तरमें गाथा कहते हैं पुनश्च—

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं ।
अविरइ जोगो मोहो कोहाईया इमे भावा ॥८७॥

मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानम्।
अविरतिर्योगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः ॥ ८७ ॥

अर्थ—ऊपरक गाथामें दो क्रियावादीको मिथ्यादृष्टि कहा है उसीके जोडके लिए पुनः शद्ध कहता है कि मिथ्यात्व दो प्रकार का होता है (१) जीव मिथ्यात्व (२) अजीव मिथ्यात्व। उसी प्रकार अज्ञान भी दो प्रकारका है (१) जीव अज्ञान (२) अजीव अज्ञान। उसी तरह अविरति, योग, मोह, क्रोधादि कषाय जीव अजीवके भेदसे दो दो प्रकारके होते हैं।

विशेषार्थ—कर्मके उदयसे जीव विभावरूप परिणमता है और वे विभाव चेतनके विकार हैं, वे भी जीव ही हैं। जो पुद्गल मिथ्यात्वादि कर्मरूप परिणमते हैं वे पुद्गलके परमाणु हैं, जिनका उदय रूप विपाक होता है वे मिथ्यात्वादि अजीव हैं। इस तरह मिथ्यात्वादि भाव जीव अजीवके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। यहां ऐसा जानना कि जो मिथ्यात्वादि कर्मकी प्रकृति हैं वे पुद्गल द्रव्यके परमाणु हैं। उनका जब उदय होता है तब जीव जो उपयोग रूप है उसके उपयोगकी ऐसी स्वच्छता है कि जिसके उदयका स्वाद आता है उसीके आकार हो जाता है। उस समय उनसे उसका भेद ज्ञान होता नहीं है उस स्वादको ही अपना भाव जानता है। यदि ऐसा भेदज्ञान होजाये जिससे जीव भावको जीव जाने और अजीव भावको अजीव जाने तब मिथ्यात्वका अभाव होजाय और उसके अभाव होनेसे सम्यग्ज्ञान हो जाय।

प्रश्न—ऊपर मिथ्यात्वादिको जीव अजीव कहा है सो वे कौन हैं? इस प्रश्नका उत्तर रूप गाथा—

पुग्गलकम्मं मिच्छं योओ अविरइ अणाणमज्जीवं।

उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो दु ॥८८॥

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमजीवः।
उपयोग ज्ञानामितिमिथ्यात्व च जीवस्तु ॥८८॥

अर्थ–जो मिथ्यात्व, योग, अविरति, अज्ञान अजीव हैं वे तो पुद्गल फर्म हैं। और जो अज्ञान, अविरति मिथ्यात्व जीव हैं सो उपयोग रूप हैं। तात्पर्य ये है कि निश्चयसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि अजीव हैं सो तो अमूर्तिक जो चैतन्यका परिणाम उससे भिन्न मूर्तीक होनेसे पुद्गलकर्म हैं। और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जीव हैं सो मूर्तीक जो पुद्गल कर्म उससे भिन्न हैं चैतन्य परिणाम के ही विकार है।

प्रश्न– मिथ्यात्वादि चैतन्य परिणामके ही विकार कौन कारण से हैं ? इसका उत्तर कहते है–

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरइ भावो य णायव्वो ॥८९॥

उपयोगस्यानादयः परिणामास्त्रयो मोहयुक्तस्य ।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्च ज्ञातव्यः ॥ ८९ ॥

अर्थ— अनादिकालसे मोहसहित उपयोगके तीन परिणाम हैं मिथ्यात्व, अज्ञान, और अविरतिभाव। ये तीनोंही भाव मोहसेही उत्पन्न होते हैं।

विशेष—आत्माके उपयोगमें ये तीन प्रकारके परिणाम विकार अनादिकालसे कर्मके निमित्तसे होते आये हैं। ऐसा नहीं है कि जीव पहिले शुद्ध था बादमें ये नवीन विकार पैदा हुए। यदि शुद्धों में भी नवीन विकार पैदा होने लग जांय तो सिद्धोंके भी हो जाने चाहिये। सो ऐसा होता नहीं है।

प्रश्न — ऐसे तो आत्माके इन परिणामविकारोंका कर्तापना सिद्ध होता है ? उत्तररूप गाथा—

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो ।
जं सो करेइ भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥९०॥

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरंजनो भावः ।
यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्ता ॥ ९० ॥

अर्थ— अनादि कालसे आत्माका उपयोग शुद्धनयसे एक रूप है, शुद्ध है, निरंजन है, तो भी कर्मके संबंधसे होने वाले मिथ्यादर्शन अविरति, अज्ञान ऐसे तीन प्रकारके परिणामोंसे जिस भावको आत्मा करता है उसीका कर्ता हो जाता है ।

आगे कहते हैं कि आत्माको तीन प्रकारके परिणामोंके विकार का कर्तृत्व होते हुए पुद्गलद्रव्य अपने आप कर्मरूप परिणमता है इस सिद्धांतके बतलानेके लिये गाथा कहते हैं—

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होई तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमए तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं ॥९१॥

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य भावस्य ।
कर्मत्वं परिणमते तस्मिन्स्वयं पुद्गलद्रव्यम् ॥ ९१ ॥

अर्थ— आत्मा जिस भावको करता है उसका कर्ता आप हो जाता है । उसके कर्ता होते ही पुद्गलद्रव्य अपने आप कर्मरूप परिणम जाता है ।

मतलब ऐसा है कि आत्मा अज्ञानरूप परिणमता है सो कभी रागरूप होता है, तो कभी द्वेषरूप होता है, इन भावोंका आपही कर्ता है । लेकिन उसका निमित्तमात्र होने वाला पुद्गलद्रव्य आप अपने परिणमनसे कर्मरूप परिणम जाता है । इन दोनोंका परस्पर-

में निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। परंतु दोनों द्रव्य अपने २ भावोंके कर्ता हैं।

आगे कहते है कि कर्म तो अज्ञानतासे ही होते है—

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करंतो सो।
अण्णाणमऊ जीऊ कम्माणं कारऊ होई ॥९२॥

परमात्मानं कुर्वन्नात्मानमपि च परं कुर्वन् सः।
अज्ञानमयो जीवः कर्मणः कारको भवति ॥९२॥

अर्थ—जीव आप ही अज्ञान रूप होता हुआ परका कर्ता बनता है आपका परको कर्ता बनाता है इससे कर्मोंका कर्ता होता है। मतलब ये है कि राग द्वेष सुख दुःखादि अवस्था पुद्गलकर्म के उदयका स्वाद है सो ये पुद्गल कर्मसे अभिन्न हैं, आत्मासे अत्यंत भिन्न हैं, जिस तरह शीत उष्णपना भिन्न २ हैं। आत्मा के अज्ञानी होनेसे इसका भेदज्ञान नहीं होता है। क्योंकि आत्मा ऐसा जानता है कि यह स्वाद मेरा ही है, क्योंकि ज्ञानकी स्वच्छता ऐसी ही है, कि राग द्वेषका स्वाद शीत उष्णकी तरह ज्ञान में प्रतिबिंबित होता है तब ऐसा मालूम होता है कि ये ज्ञान ही हैं। ऐसे अज्ञानसे अज्ञानी जीवके इनका कर्तापना आता है। क्यों कि जीवकी ऐसी मान्यता होती है कि मैं रागी हूं, मैं द्वेषी हूं, क्रोधी हूं, मानी हूं इत्यादि।

आगे कहते हैं कि ज्ञानसे कर्म नहीं होते हैं—

परमप्पणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वन्तो।
सो णाणमऊ जीवो कम्माणमकारओ जीवो ॥९३॥

परमात्मानमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन्।
स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति ॥९३॥

अर्थ—जो जीव आत्माको पर नहीं करता है और परको

आत्मा नही करता है वही जीव ज्ञानी है, वह कर्मोंका कर्ता कदापि नही है।

भाव ये है कि जब जीव राग, द्वेष, सुख, दुख अवस्थाको ज्ञानसे भिन्न जानता है 'जैसे पुद्गलकी शीत उष्ण अवस्था है उसी प्रकार ये राग द्वेषादि हैं' ऐसा भेदज्ञान होता है तब आपको केवल उनका ज्ञाता ही निश्चय कर्ता है पुद्गलको रागादिरूप जानता है। ऐसे होते हुए आत्मा इनका कर्ता कदापि नही होता है। किन्तु ज्ञाता ही रहता है।

प्रश्न— अज्ञानसे कर्म कैसे उत्पन्न होते हैं? उत्तर रूप गाथा कहते हैं—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ कोहो हं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥९४॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति क्रोधोऽहम्।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥९४॥

अर्थ—यह उपयोग मिथ्यादर्शन, अज्ञान अविरति रूपसे तीन प्रकारके विकल्प करता है कि 'मैं क्रोधस्वरूप हूं' सो इस तरह यह जीव अपने उपयोग भावका कर्ता होता है।

विशेषार्थ— मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति ऐसे तीन प्रकारके विकार सहित चैतन्यका परिणाम है सो स्वपरका भेद न जान कर ऐसा मानता है कि मैं क्रोधी हूं, मैं मानी हूं इत्यादि ऐसा माननेसे अपने विकार सहित चैतन्य परिणामका यह अज्ञानी जीव कर्ता बनता है। जब ये कर्ता हो जाता है तो वे आज्ञानादि भाव कर्मरूप हो जाते हैं। इसतरह अज्ञानसे ही कर्म होते हैं।

आगे कहते हैं कि यह अज्ञानी जीव इसी तरह धर्मादि अन्य

अन्य द्रव्योंमें भी आत्म विकल्प करता है—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ धम्माई।
कत्ता तस्सुवओगस्स होई सो अत्तभावस्स ॥९५॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति धर्मादिकम्।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥ ९५ ॥

अर्थ—यह उपयोग तीन प्रकार होता हुवा धर्म आदिक द्रव्यरूप आत्म विकल्प करता है—उन्हें अपना मानता है, तब उस उपयोग रूप अपने भावका कर्ता होता है।

प्रश्न—पुद्गल और जीव तो प्रवृत्तिमें दीखते हैं उनमें तो अज्ञानतासे आपा मानना समझमें आता है लेकिन धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य ये तो दीखते नहीं इनमें ममत्व कैसे हो सकता है ?

उत्तर—धर्मादि द्रव्यका लक्षणभी अनुभव करनेमें आता है, उनमेंसे धर्म अधर्मका तो गति हेतुपना और स्थिति हेतुपना लक्षण है। जीव पुद्गलका गमन करना, ठहरना जिनसे होता है उसमें ममत्व बुद्धि होती है। और आकाशके अवगाह रूप क्षेत्र में गमन होता है, और कालके समय, मुहूर्त आदिमें मरना, जिन्दा रहना आदि कार्य होते हैं उनमें भी ममत्व बुद्धि होती है इसमें ममत्व होता है ऐसा जानना।

प्रश्न इस हेतुसे तो कर्तापनेका मूल अज्ञान ठहरता है ? उत्तर रूप गाथा—

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणइ मंदबुद्धिउ।
अप्पाणं पि य परं करेइ अण्णाणभावेण ॥९६॥

एवं पराणि द्रव्याण्यात्मानं करोति मंदबुद्धिस्तु।
आत्मानमपि च परं करोत्यज्ञानभावेन ॥ ९५ ॥

अर्थ— इस प्रकार पहिले कहे हुए प्रकारसे मंदबुद्धि अज्ञानी अपने अज्ञान भावसे परद्रव्योंको अपना मानता है और आपको पर द्रव्य रूप मानता है।

आगे कहते हैं कि इससे तो यह ठहरा कि ज्ञानसे कर्तापनाका नाश होता है ?—

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ॥

एतेन तु स कर्ताऽऽत्मा निश्चयविद्भिः परिकथितः ।
एव खलु यो जानाति स मुञ्चति सर्वकर्तृत्वम् ॥ ९७ ॥

अर्थ इस पूर्वोक्त कारणसे निश्चयनयके जाननेवाले ज्ञानियोंने उस आत्माको पूर्वोक्त प्रकार कर्ता कहा, उसको जो जानता है वही ज्ञानी है, और वह ज्ञानी संपूर्ण कर्तापनेको छोड देता हैं।

भावार्थ–जिस कारण से यह आत्मा अज्ञानतासे परमें और आत्मामें 'ये दोनों एक हैं' ऐसा विकल्प करता है उसी कारण निश्चयसे "कर्ता है" ऐसा माननेवाला संपूर्ण कर्तापनको छोडकर अकर्ता होजाता है। जो पर द्रव्यको और परद्रव्योंके भावोंका "मैं करता हूं ' इस प्रकार जब अपने कर्तापनेको अज्ञान जानता है तो आप कर्ता कैसे बन सकता है ? अज्ञानी रहना होय तो परद्रव्यका कर्ता बने। इसलिये ज्ञान हुए बाद परद्रव्यका कर्तापन नहीं रह सकता है। इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं-

वसंततिलका छंद—

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी ।
ज्ञान स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः ॥
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या ।
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम् ॥ १२ ॥

अर्थ–जो पुरुष निश्चयसे आप ज्ञानस्वरूप होता हुआ भी अज्ञानतासे तृणसे मिले हुए अन्नादिके सुन्दर आहरको खानेवाले हाथी आदि तिर्थंचोंकी तरह प्रसन्न होता है, सो क्या करता है? उसको दृष्टान्तसे वतलाते है– जैसे कोई मनुष्य शिखरिणीको पीकर उसके दही और मीठेके मिले हुए खट्ट मीठ रसकी अत्यंत चाहनासे उसके रसभेदको न जानकर ' मैंने गौदूध पिया ' ऐसा मानकर दूधके लिये गऊको दुहता है। भाव ये है कि कोई पुरुषने शिखरणी पीकर उसके स्वादकी अति चाहनासे रसके ज्ञानके विना ऐसा जाना कि ये स्वाद गऊके दूधका है सो अत्यत लुब्ध होकर गायको दूहता है। उसी तरह अज्ञानी मनुष्य आपापरके भेदको न जानकर विषयोंमें स्वाद मानकर, अत्यंत लुब्ध होकर, पुद्गल कर्मको ग्रहण करता है, क्योंकि ऐसा जीव अपने ज्ञानका और पुद्गलकर्मके स्वादका अलग २ अनुभव नहीं करता है। तिर्यंचकी तरह अन्नको घास में मिलाकर एकरूपही स्वाद लेता है। ऐसी अज्ञानतासे पुद्गलकर्मका कर्ता होता है।

जैसे गजराज नाज घासके गरास करि, भच्छत सुभाव नहि भिन्न-रस लियौ है।
जैसे मतवारौ नहि जानै सिखरणि स्वाद, जुंगमे मगन कहै गऊ दूध पियौ है
तैसे मिथ्यादृष्टिजीव ज्ञानरूपी है सदीव, पग्यौ पाप पुन्य सौं सहज सुन्य हियौ है।
चेतन अचेतन दुहुको मिश्र पिंड लखि. एकमेक मानै न विवेक कछु कियौ है १२

इसी अभिप्राय को फिर कहते हैं–

शार्दूल विक्रीडित छंद—

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातु मृगाः।
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनः॥
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत्।
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः॥१३॥

अर्थ–लोकके जन निश्चयसे 'एक शुद्ध ज्ञानमय हैं' तो भी आप अज्ञानतासे व्याकुल होकर परद्रव्यके कर्ता बनते हैं। जैसे वायुसे उत्पन्न लहरोंके द्वारा समुद्र चंचल होता है, उसी तरह नाना विकल्पोंके द्वारा परपदार्थोंके करता बनते हैं। देखो मृग अज्ञानताहीसे भाडली को जल जानकर जल पीनेको दौडता है। एवं अज्ञानतामेही लोक अंधकारमें पडी हुई रस्सीको सांप समझकर भयसे भागते है। मतलब ये है कि अज्ञानसे क्या २ नहीं होता हैं?

जैसे महाधूपकी तपतिमैं तिसायौ मृग, भरम मौं मिथ्याजल पीवनैको धायौ है।
जैसे अन्धकार माहिं जेवरी निरख नर, भरमसौं डरपि सरप मानि आयौ है।
अपने सुभाव जैसे सागर सुथिर सदा, पवन संजोगसौं उछरि अकुलायौ है।
तैसैं जीव जड सौं अव्यापक सहज रूप, भरमसौं करमकौ करता कहायौ है १३

वसंततिलका छंद—

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषम्।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो,
जानीत एव हि करोति न किंचनापि ॥१४॥

अर्थ—जो पुरुष ज्ञानसे और विवेकी भेदज्ञानसे पर और आत्मामें विशेष रूपसे भेद जानता हैं 'जैसे हंस मिले हुए दूध जलमें से दूधको ही ग्रहण करता है, उसी तरह वह पुरुष चैतन्य धातुमय मूर्ति अचल आत्माको सदा आश्रय करता हुआ उसको जानता ही हैं, इससे अपने स्वरूपका ज्ञाता ही है, कुछ कर्ता नही है। कहनेका मतलब इतना ही है कि जो आपा परका भेद जानता है वह ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं है।

जैसे राजहंस के वदनके सपरसत, देखिये प्रगट न्यारो छीर न्यारो नीर है।
तैसें समकितीकी सुदृष्टि मे सहज रूप, न्यारो जीव न्यारोकर्म न्यारोही सरीर है॥

जब सुद्ध चेतनको अनुभौ अभ्यासै तब, भासै आपु अचल न दूजौ और सीर है।
पूरब करम उदै आइके दिखाई देइ, करता न होय तिनको तमासगीर है ॥१४

आगे कहते हैं कि जो कुछ जाना जाता है वह ज्ञानसे ही जाना जाता है—

मन्दाक्रान्ता छंद—

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्णशैत्यव्यवस्था ।
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ॥
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः ।
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दति कर्तृभावम् ॥१५॥

अर्थ—अग्नि उष्ण है और जल शीत है ऐसी व्यवस्था ज्ञान से ही जानी जाती है। एवं नमक और व्यञ्जनके स्वादके भेद भी ज्ञानसेही जाना जाता है। अपने रससे विकासरूप होता हुआ नित्य चैतन्य धातु, और क्रोधादि भावका, भेद भी ज्ञानहीसे जाना जाता है, जो भेद कर्तापनेके भावको भेदरूप करता हुवा प्रगट होता है।

जैसे उसनोदकमैं उदक सुभाव सीरो, आगकी उसनता फरस ज्ञान लखिये।
जैसे स्वाद व्यजन मे दीसत विविध रूप, लोनको सुवाद खारौ जीभ ज्ञान चखिये॥
जैसे घट पिंडमैं विभावता अज्ञानरूप, ज्ञानरूप जीव भेदज्ञान सौं परखिये।
भरमसौं करमको करता है चिदानद, दरब विचार करतार नाम नखिये॥१५॥

अब कहते हैं कि आत्मा कर्ता है सो भी अपने ही भावका

अनुष्टुप् छंद

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमञ्जसा ।
स्यात्कर्ताऽऽत्माऽऽत्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥१६॥

अर्थ— इस प्रकार अज्ञानरूप तथा ज्ञानरूप आत्मा ही को करता हुवा आत्मा प्रगटरूपसे अपने ही भावोंका कर्ता है। परभा

वोंका कर्ता तो किसी प्रकार भी नहीं है।

दोहा—ज्ञानभाव ज्ञानी करै अज्ञानी अज्ञान।
दर्वकर्म पुद्गल करै यह निहचै परवान ॥ १६ ॥

आगे अगली गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं—

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्ताऽऽत्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥१७॥

अर्थ— आत्मा ज्ञानरूप है, सो आप ज्ञान ही है, जब ज्ञान स्वरूप है तो ज्ञानसे भिन्न किसको करेगा ? किसीको भी नहीं। "आत्मा परभावका कर्ता है" ऐसा मानना वा कहना यह व्यवहारी जीवोंका मोह वा अज्ञान है ॥१७॥

दोहा—ज्ञान सरूपी आत्मा करै ज्ञान नहि और।
दरब करम चेतन करै यह विवहारी दौर ॥ १७ ॥

आगे कहते हैं कि व्यवहारीजन ऐसा कहते हैं—

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥९८

व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरथान् द्रव्याणि।
करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि ॥९८॥

अर्थः—आत्मा व्यवहारसे घट, पट, रथ आदि इन वस्तुओंका करता है और इंद्रियादि करण पदार्थोंका भी करता है, तथा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और क्रोधादि भावकर्मोंका भी करता है, एवं शरीरादि अनेक प्रकारके नोकर्मोंका भी करता है। मतलब ये है कि परद्रव्यका आपको कर्ता मानना ये व्यवहार है। सो परमार्थ दृष्टिमें ऐसा मानना अज्ञान है।

आगे कहते हैं ऐसा व्यवहारका मानना परमार्थ दृष्टिमें सत्य नहीं है—

जइ सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मऊ होज्ज
तम्हा ण तम्मऊ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥९९॥

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत्।
यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता ॥९९॥

अर्थ—यदि आत्मा पर द्रव्योंका करने वाला होवे तो आत्मा उन द्रव्योंके साथ तन्मय हो जाना चाहिये लेकिन तन्मय होता नहीं है इसीसे उनका कर्ता भी नहीं है।

भावार्थ—अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्य कर्ता होवे तो न्यारे न्यारे द्रव्य क्यों होवें ? क्योंकि ऐसा मानने पर दूसरे द्रव्यका तो नाश ही हो जायगा। इसलिये एक द्रव्यको किसी दूसरे द्रव्यका कर्ता कहना ठीक नही है।

प्रश्न—यदि व्याप्यव्यापकभावसे कर्ता नही है तो निमित्त-नैमित्तिक भावसे तो कर्ता हो सकता हैं ? उसको कहते हैं कि निमित्तनैमित्तिकभावसे भी कर्ता नही है—

जीवो ण करेइ घडं णव पडं णेव सेसग दव्वं।
जोगुवउग्गा उप्पादगा य तेसिं हवइ कत्ता ॥१००॥

जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि
योगोपयोगावुत्पादकौ च तयोर्भवति कर्ता ॥१००॥

अर्थ—जीव न तो घटका कर्ता है, और न पटका कर्ता है बाकीके और भी जितने द्रव्य हैं उनका भी कर्ता नहीं है। जीवके जो योग और उपयोग हैं वे ही उन घटादिकोंके उत्पन्न कराने में निमित्त हैं। जीव अपन उपयोगोंका कर्ता है। यहां तात्पर्य ऐसा है कि द्रव्यदृष्टिसे तो कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं है। पर्यायदृष्टिसे किसी द्रव्यकी पर्याय किसी समय किसी अन्य द्रव्यकी पर्यायको निमित्त कारण हो जाती

है। इस अपेक्षा अन्यके परिणाम अन्यके परिणामका निमित्त कारण कहा जा सकता है। वास्तवमें द्रव्य अपनेही परिणाम का कर्ता है। दूसरे द्रव्यके परिणामका कर्ता नहीं है।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञानहीका कर्ता है—

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा हुंति णाणमावरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणई सो हवइ णाणी

ये पुद्गलद्रव्याणां परिणामा भवंति ज्ञानावरणानि।
न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥१०१॥

अर्थ—ज्ञानावरणादिक पुद्गलके परिणाम हैं। उनका कर्ता आत्मा नहीं है ऐसा जो जानता है सो ज्ञानी है—

आगे कहते हैं कि जो अज्ञानी है वह भी परद्रव्यके भाव का कर्ता नहीं है—

जं भावं सुहमसुहं करेइ अप्पा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होइ कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०२

यं भावं शुभमशुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता।
तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा ॥१०२॥

अर्थ— आत्मा अपने जिस शुभाशुभ भावको करता है उसी भावका वह निश्चयसे कर्त्ता है। वह भाव उसका कर्म है, और वही आत्मा उस भावरूप कर्मका वेदक-भोक्ता है। तात्पर्य ऐसा है कि अज्ञानी भी अपने अज्ञान भावरूप शुभाशुभ भावोंका ही कर्ता है अपनी अज्ञानावस्थामें होते हुए भी दूसरे द्रव्यके भावका कर्ता तो कभी भी नहीं है।

आगे बतलाते हैं कि परभाव तो किसीके द्वारा नही किया जा सकता है—

जो जह्मि गुणे दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमादि दव्वे।

सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१०३

यो यस्मिन्गुणे द्रव्ये सोऽन्यस्मिंस्तु न संक्रामति द्रव्ये ।
सो अन्यद संक्रांतः कथं तत्परिणमयति द्रव्यम् ॥ १०३ ॥

अर्थ - जो द्रव्य अपने जिस द्रव्यस्वभावमें तथा निज गुण में रहता है वह द्रव्य अन्य द्रव्यमें तथा गुणमें संक्रमण रूप नहीं करता है-पलटकर दूसरे द्रव्यरूप नहीं हो जाता है। वह द्रव्य जब अन्य द्रव्यमें नहीं मिलता है तो उस अन्यको कैसे परिणमा सकता है ? कभी नहीं परिणमा सकता है। कहनेका भाव ऐसा है कि जो द्रव्यका स्वभाव है उसको कोई भी पलट नहीं सकता है, ऐसी वस्तु की मर्यादा है।

आगे कहते है कि अब यह बात ठहरी कि इस कारणसे आत्मा निश्चयसे पुद्गल कर्मोंका कर्ता नहीं है—

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयम्हि कम्मह्मि
तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता ॥१०४॥

द्रव्यगुणस्य चात्मा न करोति पुद्गलमये कर्मणि ।
तदुभयमकुर्वंस्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता ॥१०४॥

अर्थ— आत्मा पुद्गल मय कर्ममें द्रव्य तथा गुणको नहीं करता है, उन दोनोंको नहीं करता हुआ उनका कर्ता कैसे हो सकता है ?

विशेषार्थ- पुद्गल मय ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गल द्रव्य और पुद्गलके गुणोंमें अपने रससे ही वर्तमान हैं, उनमें आत्मा अपने द्रव्य स्वभावको और अपने गुणको निश्चयसे नहीं कर सकता है, इसलिये अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यमें एवं अन्य द्रव्यके गुणमें संक्रमण नहीं हो सकता है। जब अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्य में संक्रमण नही हो सकता तब अन्य द्रव्यको अन्य द्रव्य रूप

कैसे परिणमा सकता है? इसलिये आत्मा पुद्गल कर्मोंका कर्ता कदापि नहीं हो सकता है।

आगे कहते हैं इस सिवाय अन्य निमित्तनैमित्तिकादि भावों को देखकर और कुछ कहना उपचार है—

जीवह्मि हेदुभूदे बंधस्स दु पास्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमित्तेण ॥१०५॥

जीवे हेतुभूते बंधस्य तु दृष्ट्वा परिणामम्।
जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण ॥१०५॥

जीवके निमित्त होने पर कर्मबंधका परिणाम होता है, उसको देखकर कहते हैं कि 'जीव कर्मका कर्त्ता है' सो ऐसा कहना उपचार मात्र है, क्योंकि कभी २ होनेवाले निमित्तनैमित्तिक भावोंमें कर्तृकर्म कहना यही उपचार है।

प्रश्न——ये उपचार कैसे हैं? कोई दृष्टान्तसे समझाइये!— उत्तर रूप गाथा—

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कयति जंपए लोऊ।
ववहारेण तह कयं णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥

योधैः कृते युद्धे राज्ञा कृतमिति जल्पते लोकः।
व्यवहारेण तथा कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन ॥१०६॥

जैसे योद्धा युद्ध करता है, परन्तु लोकमें ऐसा कहा जाता है कि राजा युद्ध करता, सो ऐसा कहना जैसे व्यवहार रूप है, उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मोंका कर्ता जीव है ऐसा कहना भी व्यवहार मात्र है।

इससे तो ऐसा निश्चय हुवा कि—

उप्पादेदि करोदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य
आदा पुग्गल दव्वं ववहारणयस्स वतव्वं ॥१०७॥

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च
आत्मा पुद्गल द्रव्यं व्यवहारनयस्य वक्तव्यम् ॥ १०७ ॥

अर्थ-आत्मा पुद्गल द्रव्यको उत्पन्न करता है, पुद्गल द्रव्यका बंध करता है, उसको परिणमाता है, ग्रहण करता है, ऐसा कहनाही व्यवहारनयका वचनहै। व्याप्य और व्यापक भावके विना कर्मका कर्ता कहना उपचार ही है।

प्रश्न—यह उपचार कैसे है ? दृष्टान्त पूर्वक उत्तर रूप गाथा-

जह राजा ववहारा दोसगुणप्पादगोत्ति आलविदो
तह जीवो ववहारा दव्वगुणप्पादगो भणिउ ॥१०८॥

यथा राजा व्यवहाराद्दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः।
तथा जीवो व्यवहाराद्द्रव्य गुणोत्पादको भणितः ॥१०८॥

अर्थ- जैसे प्रजामें राजा दोष और गुणोंका उत्पादक कहा जाता है उसीतरह जीवको व्यवहारमे पुद्गल द्रव्यमें द्रव्य गुणका उत्पादक कहा जाताहै।

भावार्थ- जैसे लोकमें कहा जाता है कि जैसा राजा वैसी प्रजा होती है ऐसा कहकर लोग गुण दोषका कर्ता राजाको कहते हैं उसी प्रकार पुद्गल द्रव्यके गुण दोपका कर्त्ता जीवको कहते हैं। परमार्थ दृष्टिसे विचारा जाय तो ऐसा कहना उपचारही है। परमार्थ नहीं है।

प्रश्न- पुद्गलकर्मका कर्ता जीव नहीं है तो कौन है ? ऐसे प्रश्नका काव्य -

वसंततिलका छन्द-

जीवः करोति यदि पुद्गल कर्म नैव।
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव ॥

एर्ताहि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय ।
सङ्कीर्त्यते श्रृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥१८॥

अर्थ- यदि पुद्गल द्रव्यको जीव नही करताहै तो फिर कौन करताहै ? ऐसी आशंका करके इस कर्ता कर्मके अतिवेग रूप मोह-जन्य अज्ञानके दूर करनेकेलिये पुद्गल कर्मका कर्ता कौन है उसको बतलाते हैं सो हे ज्ञानके इच्छुक पुरुष हो तुम सुनो ॥८॥

सवैया तेईसा

पुद्गल कर्म करै नहि जीव कही तुम मैं समुझी नहि तैसी ।
कौंन करै यह रूप कहौ अब को करता करनी कहु कैसी ॥
आपुहि आप मिलै बिछुरै जड क्योंकर मो मन संसय ऐसी ।
शिष्य संदेह निवारन कारन बात कहैं गुरु है कछु जैसी ॥१८॥

सामण्णपच्चया खलु चउरो भणंति बंधकत्तारो ।
मिच्छंतं अविरमणं कसायजोगाय बोद्धव्वा १०९
तेसिं पुणो वि य इमो भणिऊ भेऊं दु तेरसवियप्पो ।
मिच्छाइट्ठी आई जाव सजोइस्स चरमंतं ॥११०॥
एदे अचेयणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जह्मा ।
ते जदि करंति कम्मं ण वि तेसिं वेदगो आदा ॥१११
गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा ।
तह्मा जीवो कत्ता गुणाय कुव्वंति कम्माणि॥११२॥

सामान्यप्रत्ययाः खलु चत्वारो भण्यन्ते बंधकर्तारः ।
मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च बोद्धव्याः ॥ १०९ ॥
तेषां पुनरपि चायं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पाः ।
मिथ्यादृष्ट्यादिर्यावत्सयोगिनश्चरमान्तः ॥ ११० ॥
एते अचेतनाः खलु पुद्गलकर्मोदयसंभवा यस्मात् ।

ते यदि कुर्वन्ति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा ॥ १११ ॥
गुणसंज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वन्ति प्रत्यया यस्मात् ।
तस्माज्जीवो कर्ता गुणाश्च कुर्वन्ति कर्माणि ॥ ११२ ॥

अर्थ— कर्म बन्धके कारण आस्रव हैं, वे सामान्य रूपसे चार प्रकारके होते हैं मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योग. ये ही चारों बन्धके कारण हैं। इन्हींके तेरह भेद होतेहैं, सो मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर सयोगकेवली पर्यंत तेरह गुणस्थानोंमें पाये जाते हैं । निश्चयदृष्टिसे ये तेरहों गुणस्थान पुद्गलकर्मके उदयसे होते हैं इसलिये अचेतन हैं । यदि ये कर्मको करते हैं, इनका वेदक-भोगने वाला आत्मा नहीं हो सकताहै। इन प्रत्ययोंकी गुण ऐसी संज्ञा है, सो ये प्रत्यय ही बन्ध कराते हैं, अतएव जीव तोकर्म का कर्ता नहीं है । ये प्रत्ययरूप गुण कर्मको करते हैं

विशेषार्थ–पुद्गलद्रव्यमयी जो सामान्य चार प्रत्यय होतेहैं इन्हीके विशेष भेद तेरह प्रत्यय, गुण शब्दसे कहे गये गुणस्थान कहलातेहैं, ये ही केवल कर्मोंके कर्ता हैं। इसलिये जीव तो पुद्गलकर्मों का अकर्ता ही है । क्योंकि वे गुणस्थानादि पुद्गल द्रव्यके ही हैं। इसलिये यह निश्चित हुआ कि पुद्गल द्रव्यका कर्ता पुद्गल द्रव्य ही है जीव नहीं है ।

आगे कहते हैं कि जीव और प्रत्ययोंमें भी एकत्व नहीं हैं—

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जइ अणण्णो ।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥११३॥
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहा जीवो ।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥११४॥
अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवइ चेदा ।
जह कोहो तह पच्चयकम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥११५॥

छाया—

यथा जीवस्यानन्य उपयोगः क्रोधोऽपि तथा यद्यनन्यः ।
जीवस्याजीवस्य चैवमनन्यत्वमापन्नम् ॥११३॥
एवमिह यस्तु जीवः स चैव तु नियमस्तथाजीवः ।
अयमेकत्वे दोषः प्रत्ययनोकर्मकर्मणाम् ॥ ११४ ॥
अथ ते अन्यः क्रोधोऽन्यः उपयोगात्मको भवति चेतयिता ।
यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः कर्मनोकर्माप्यन्यत् ॥११५॥

अर्थ— जैसे जीव और उपयोग एकरूप हैं उसी तरह क्रोधभीं एक रूप अनन्य है ऐसा माननेपर जीव और अजीव में भी अनन्यपना-एकपना आताहै ऐसी हालतमें इस लोकमें जो जीव है वही नियमसे अजीव हुआ इसप्रकार दोनोंमें एकत्व होने पर यह दोष आता है। इसीप्रकार प्रत्यय कर्म नोकर्म इनमें भी यही दोप आया जानना चाहिये। अथवा इस दोषके भयसे तेरे मतमें क्रोध तो अन्य है और उपयोगरूप चेतयिता आत्मा अन्य है। तो क्रोध की तरह प्रत्यय नोकर्म कर्म ये भी आत्मासे भिन्न ही है ऐसा जानना चाहिये।

आगे सांख्यमतके अनुसार शिष्यके प्रति पुद्गल द्रव्यका परिणाम स्वभाव साधते हैं। सांख्यमती प्रकृति और पुरुषको अपरिणामी मानते हैं उनको समझाने को कहते हैं कि—

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि॥११६॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥११७॥
जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयम परिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा॥११८॥

अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा॥११९॥
णियमा कम्मपरिणदं कंम चिय होदि पुग्गलं दव्वं।
तह तं णाणावरणाइ परिणदं मुणहु तच्चेव ॥१२०॥

छाया—जीवे न स्वयं बद्धं न स्वयं परिणयमते कर्मभावेन।
यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामि तदा भवति ॥११६॥
कार्मणवर्गणासु वाऽपरिणम मानासु कर्मभावेन।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥११७॥
जीवः परिणमयति पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन।
तानि स्वयमपरिणममानानि कथं नु परिणमयति चेतायिता ॥११८॥
अथ स्वयमेव हि परिणमते कर्मभावेन पुद्गलद्रव्यं।
जीवः परिणमयति कर्म कर्मत्वमिति मिथ्या ॥११९॥
नियमात्कर्मपरिणतं कर्म चैव भवति पुद्गलं द्रव्यम्।
तथा तज्ज्ञानावरणादि परिणतं जानीत तच्चैव ॥१२०॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्य आप स्वयं जीवमें नहीं बंधता है और न आप कर्मरूपसे परिणमता है, ऐसा माना जाय तो यह पुद्गल द्रव्य परिणामी नहीं ठहरता है। अथवा कार्माण वर्गणाए आप कर्म भावसे नहीं परिणमती है ऐसा माना जायगा तो संसारका अभाव आवेगा। अथवा सांख्यमतका प्रसंग आवेगा। जीव भी पुद्गल द्रव्योंको कर्म भावोंसे परिणमाता है ऐसा माना जाय तो जो पुद्गल द्रव्य आप नहीं परिणमता है उसको चेतन जीव कैसे परिणमाता है? यह शंका होती है। यदि ऐसा कहा जाय कि पुद्गल द्रव्य आप ही कर्मरूपसे परिणमता है तो जीव ही पुद्गल द्रव्यको कर्म भावसे परिणमाता है, ये कहना मिथ्या सिद्ध होवेगा! इसलिए यह सिद्ध हुआ कि पुद्गल द्रव्य ही कर्मरूप परिणमा हुआ नियमसे कर्मरूप हो जाता है। ऐसा होने

पर पुद्गल द्रव्य ही ज्ञानावरणादिरूप परिणमता है, ऐसा जानना चाहिये।

सारांश—पुद्गल द्रव्य जीवमें अपने आप नहीं बंधता हुआ कर्म भावसे नहीं परिणमता है। इससे तो पुद्गल द्रव्य अपरिणामी ही ठहरता है और अपरिणामी होने से जीवकी संसारदशाका अभाव आता है क्योंकि जब कर्म सहित नहीं होता है तब कर्मरहित ठहरता है फिर संसार कैसा?

प्रश्न—जीव ही पुद्गल द्रव्यको कर्मरूप परिणमाता है फिर संसारका अभाव कैसे हो सकता है?

उत्तर—यहां दो पक्ष हो सकते हैं--जीव पुद्गलको कर्म रूप परिणमाता है सो अपरिणमतेको परिणमाता है या परिणमते को परिणमाता है? यदि अपरिणमतेको परिणमाता है तो जो स्वयं नहीं परिणमता है उसको दूसरा कोई भी पदार्थ कैसे परिणमा सकता है? जो स्वय नहीं परिणमता है वह दूसरेको भी नहीं परिणमा सकता है, क्योंकि जिसमें स्वत: परिणमनेकी शक्ति न हो उसमें दूसरेके द्वारा शक्ति नहीं हो सकती है। यदि दूसरा पक्ष लेकर कहा जाय कि स्वयं परिणमते हुए पुद्गल द्रव्यको जीव कर्मभावसे परिणमाता है। तो ये भी कहना ठीक नहीं बनता है, क्योंकि जो खुद परिणमने वाला है वह दूसरेकी अपेक्षा क्यों करेगा? इसलिये ऐसा जानना चाहिए कि पुद्गल द्रव्य स्वयमेव परिणामस्वभाव है। ऐसा होनेपर जैसे कलशरूप होती हुई मिट्टी आप कलश हो जाती हैं। उसी तरह जड-स्वभाव ज्ञानावरणादि रूप परिणमता पुद्गल द्रव्य ही ज्ञानावरणादि कर्म रूप हो जाता है इस प्रकार पुद्गल द्रव्यका ही परिणमन रूप स्वभाव सिद्ध होता है।

इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं:—

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भाव यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता॥१९॥

अर्थ–इस तरह ऊपर कहे अनुसार पुद्गल द्रव्यकी परिणाम शक्ति स्वभावभूत निर्विघ्न सिद्ध हुई। इसको उस तरहकी सिद्ध होने पर पुद्गल द्रव्य जिस भावको करता है उसका आप ही कर्ता होता है। क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्योंमें परिणमन स्वभाव स्वतः सिद्ध है इसलिये अपने २ भावका कर्ता वही द्रव्य होना चाहिये दूसरा नहीं। इस नियमसे पुद्गल भी जिस भावको करता है, उस भावका खुद ही कर्ता है, ऐसा निश्चय करना चाहिये।

दोहा—

पुद्गल परिनामी दरव सदा परिणवै सोय।
यातैं पुद्गल कर्मको पुद्गल करता होय ॥१९॥

अब यह बात सिद्ध करते हैं कि जीवद्रव्यभी परिणामी है–

णं सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदी॥१२१॥
अपरिणमंतंहि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहिं।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२२॥
पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामसदि कोहो॥१२३॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥१२४॥
कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवइ लोहो ॥१२५॥

न स्वयं बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः।
यद्येष तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति ॥१२१॥

अपरिणममाने स्वयं जीवे क्रोधादिभिर्भावैः।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥ १२२॥
पुद्गलकर्म क्रोधो जीवं परिणमयति क्रोधत्वं।
तं स्वयमपरिणममानं कथं नु परिणामयति क्रोधः ॥१२३॥
अथ स्वयमात्मा परिणमते क्रोधभावेन एषा ते बुद्धिः।
क्रोधः परिणमयति जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या ॥१२४॥
क्रोधोपयुक्त क्रोधो मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा।
मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः ॥१२५॥

अर्थ–सांख्य मतके अनुसरण करनेवाले शिष्यको आचार्य कहते हैं कि हे भाई जो तेरी बुद्धिमें ऐसा आया है कि यह जीव कर्मके साथ आप स्वयं नहीं बंधा है न क्रोधादि भावोंसे आप स्वयं परिणमता है इसलिये जीव अपरिणामी है। ऐसी हालत में जब जीव स्वयं क्रोधादि भावरूप नहीं परिणमता है तब जीवके संसारका अभाव होना चाहिये, इसमें तो सांख्यमतका प्रसंग आवेगा ? यदि तूं ऐसा कहेगा कि पुद्गलकर्म क्रोध है जो जीव को क्रोधभाव रूप परिणमाता है तो आप स्वयं नहि परिणमता जो जीव उसको क्रोध कैसे परिणमाता है ? अगर तेरी ऐसी बुद्धि है कि आत्मा अपने आप क्रोध भावसे परिणमता है, तो जीवका क्रोधही कोध भाव रूप परिणमाता है ऐसा कहना झूठ ठहरता है। इसलिये ये सिद्ध हुवा कि यह आत्मा जब क्रोधसे उपयुक्त होता है क्रोधाकार परिणमता है तब तो क्रोध रूपही है। जब मान भावसे उपयुक्त होता है तब मानरूप ही है। जब मायासे उपयुक्त होता है तब मायारूप ही है। जब लोभसे उपयुक्त होता है तब लोभरूप ही हैं।

मतलब ये है कि जीव भी परिणामी स्वभाव है, जब अपना उपयोग क्रोधादि रूप परिणमाता है तब आप क्रोधादि रूप हो जाता है। ऐसा जानना चाहिये, इसी अर्थका कलश रूप काव्य

कहते हैं—

उपजाति छन्द—

स्थितेति जीवस्य निरन्तरा या स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत् स कर्ता ॥२०॥

अर्थ—जीवमें परिणाम शक्ति अपने स्वभावसे ही है सो पहिले कहे अनुसार निर्विघ्न ठहरती है। उसको वैसा होने पर जीव आपका जैसा भाव करता है उसी भावका कर्ता हो जाता हैं। तात्पर्य ये है कि जीव भी परिणामी है सो आप जिस भाव रूप परिणमता है, उसीका कर्ता हो जाता है।

जीव चेतना संजुगत सदा पूरन सब ठौर।
तातैं चेतन भावको करता जीव न और ॥२०॥

आगे इसी अर्थको ले कर भावोंका विशेष रूपसे कर्ता कहते हैं—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स॥१२६

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य कर्मणः।
ज्ञानिनः स ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः ॥१२६॥

अर्थ—आत्मा जिस भावको करता है उसी भावका कर्ता हो जाता है, सो ज्ञानीके तो वह भाव ज्ञानमय ही है और अज्ञानीकें वह भाव अज्ञानमय है।

भावार्थ—ज्ञानीको तो आप परका भेद विज्ञान हो गया, इसलिय वह ज्ञानमय भावका ही कर्ता होता है और अज्ञानीकें आपापरका भेद ज्ञान नहीं है, इसलिय अज्ञानमय भावका ही कर्ता है।

प्रश्न—ज्ञानमय भावसे क्या होता है और अज्ञानमय भाव से क्या होता है? उत्तर रूप गाथा—

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणइ तेण कम्माणि।

णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि॥१२७

छाया—अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिनः करोति तेन कर्माणि ।

ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि ॥१२७॥

अर्थ—अज्ञानीके अज्ञानमय भाव हैं इससे अज्ञानी अपने अज्ञानसे ही कर्मोका कर्ता है ? ज्ञानीके भाव ज्ञानमय हैं इसलिये ज्ञानी कर्मोका कर्ता नहीं है ।

विशेषार्थ इस आत्माके जब क्रोधादि मोह कर्मकी प्रकृतिका उदय आता है तब उसका अपने उपयोगमें राग-द्वेष रूप कलुष मलिन स्वाद आता है । उसके भेदज्ञान विना अज्ञानी होकर ऐसा मानता है कि जो यह राग द्वेषमय मलीन उपयोग है वही मेरा स्वरूप है । यह ही मैं हूं । इस प्रकार अहंकार रूप अज्ञानता सहित होता हुआ कर्मोका बन्ध करता है । एवं अज्ञानमय भावसे कर्म बंध होता है । जब ऐसा मानता है कि शुद्ध उपयोग है सो मेरा स्वरूप है, वही मैं हूं, और राग द्वेष आदि कर्मके रस हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं । ऐसा भेद ज्ञान होने पर ज्ञानी हो जाता है, ऐसी दशामें अपने भावको राग द्वेष रूप नहीं करता है, केवल उनका ज्ञाता ही रहता है । फिर कर्मोको क्यों बांधेगा ?

अब आगेकी गाथाके अर्थका सूचक काव्य कहते हैं—

आर्या छन्द—

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेज्ज्ञानिनो न पुनरन्यः ।

अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः ॥२१॥

अर्थ ज्ञानीके भाव ज्ञानमय ही होते, सो ऐसा क्यों ? और अज्ञानीके सारे भाव अज्ञानमय ही होते हैं, दूसरे नहीं, सो ऐसा क्यों ? इन्हीं प्रश्नोंका उत्तररूप गाथा—

२१. अढिल छद—

'ज्ञानवंत का भोग निरजरा हेतु है ।

अज्ञानी कौ भोग बंध फल देतु है ॥
यह अचरज की बात हिये नहिं आवही ।
पूंछै कोऊ शिष्य गुरू समुझावही ॥ २१ ॥

णाणमया भावाऊ णाणमओ चेव जायदे भावो ।
जह्मा तह्मा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ॥१२८
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो ।
जह्मा तह्मा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स॥१२९॥

ज्ञानमयाद्भावाज्ज्ञानमयश्चैव जायते भावः
यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः ॥१२८॥
अज्ञानमयाद्भावादज्ञानमयश्चैव जायते भावः ।
यस्मात्तस्माद्भावादज्ञानमया अज्ञानिनः ॥१२९॥

अर्थ—ज्ञानमय भावसे जो भाव होते हैं वे ज्ञानपने को न छोडते हुए ज्ञानमय ही होते हैं। इसलिये ज्ञानीके सम्पूर्ण भाव ज्ञानमय ही होते हैं। और अज्ञानमय भावसे जो कुछ भाव होते हैं सो सभी अज्ञानपनेको नहीं छोडते हुए अज्ञानमय ही होते हैं, इसलिये अज्ञानीके जो कुछ भाव होते हैं, वे सब अज्ञानमय ही होते हैं। इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

अनुष्टुप् छन्द—

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥२२॥

अर्थ—ज्ञानीके सब ही भाव ज्ञानसे ही उत्पन्न होते हैं तथा अज्ञानीके सभी भाव अज्ञानसे उत्पन्न होते हैं।

२२—सवैया इकतीसा

दया दान पूजादिक विषय कषायादिक, दोऊ कर्मबंध पै दुहूकौ एक खेतु है ।
ज्ञानी मूढ करम करत दीसै एकसे पै, परिनाम भेद न्यारौ न्यारौ फल लेतु है ॥
ज्ञानवत करनी करै पै उदासीनरूप, ममता न धरै तातैं निरजरा को हेतु है ।

वहै करतूति मूढ करै पै मगन रूप, अंध भयौ ममता सौ बध फल लेतु है॥२२॥

आगे इसी अर्थको दृष्टांत रूप कहते हैं—

कणयमया भावादो जायन्ते कुण्डलादयो भावा।
अयमयया भावादो जह जायन्ते तु कडयादि ॥१३०॥
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायन्ते
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति॥१३१॥

छाया—कनकमयाद्भावाज्जायन्ते कुण्डलादयो भावाः।
अयोमयकाद्भावाद्यथा जायन्ते तु कटकादयः ॥१३०॥
अज्ञानमयाद्भावादज्ञानिनो बहुविधा अपि जायन्ते।
ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयाः सर्वे भावास्तथा भवन्ति ॥१३१॥

अर्थ—जैसे सुवर्णमय भावसे सुवर्णमय कुण्डलादि भाव होते हैं और लोहमय भावसे लोहमय कडा इत्यादिक भाव होते हैं। उसी प्रकार अज्ञानीके अज्ञानमय भावसे अनेक प्रकारके अज्ञानमय भाव होते हैं। और ज्ञानीके सर्व ज्ञानमय भावसे सर्व ही ज्ञानमय भाव होते हैं। मतलब यह है कि जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है—इस न्यायसे जैसे सोनेसे सुवर्णमय गहने बनते हैं, लोहेसे लोहमय बनते हैं। उसी तरह अज्ञानीके अज्ञानमय भावोंसे अज्ञानमय भाव होते हैं और ज्ञानीके ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय भाव होते हैं। अज्ञानभाव क्रोधादि कहलाते हैं और ज्ञानभाव क्षमादि कहलाते हैं।

यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टिकें चारित्र मोहके उदयसे क्रोधादिक भाव होते हैं, तो भी उनमें उसकी आत्म-बुद्धि नहीं होती है। पर-निमित्तसे होनेसे उनको उपाधि रूप मानता है। आगामी ऐसा वन्ध नहीं करता है जिससे ससारका भ्रमण बढे, आप उद्यमी होकर उन रूप परिणमता नहीं है, केवल उदयकी वरजोरीसे वहां भी ज्ञान ही में अपना स्वामित्व माननेसे उन क्रोधादि भाव

का भी अन्य ज्ञेयोंके समान ज्ञाता ही है कर्ता नहीं है। इस प्रकार वहां भी ज्ञानीपनेसे ज्ञानभावका ही होना जानना चाहिए। इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

अनुष्टुप् छन्द—

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम्।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ॥२३॥

अर्थ—अज्ञानी जीव अज्ञानमय अपने भावोंकी भूमिकाको व्याप्यकर आगामी द्रव्य कर्मके कारणभूत जो अज्ञानादिक भाव हैं उनके हेतुपनेको प्राप्त होते हैं।

छप्पय छन्द—

ज्यों माटीमैं कलश होनकी सकति रहे ध्रुव।
दण्ड चक्र चीवर कुलाल बाहिज निमित्त हुव॥
त्यों पुदगल परमानु पुंज वरगना भेस धरि।
ज्ञानावरनादिक स्वरूप विचरंत विविध परि॥
बाहिज निमित्त बहिरातमा गहि संसै अज्ञानमति।
जग माहिं अहंकृत भावसौं करमरूप ह्वै परिनमति॥२३॥

इसी अर्थको पांच गाथाओंमें कहते हैं—

अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं दु अतच्चउवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥१३२॥
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवइ अविरमणं।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ॥१३३॥
तं जाण जोग उदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा॥१३४॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥१३५॥

त खलु जीवणिवद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया ।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥१३६॥

अज्ञानस्य स उदयो या जीवानामतत्वोपलब्धिः ।
मिथ्यात्वस्य तूदयो जीवस्याश्रद्धानत्वम् ॥१३२॥
उदयोऽसयमस्य तु तज्जीवानां भवदविरमणं ।
यस्तु कलुपोपयोगो जीवानां स कषायोदयः ॥१३३
तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तु चेष्टोत्साहः ।
शोभनोऽशोभनो वा कर्तव्यो विरतिभावो वा ॥१३४॥
एतेषु हेतुभूतेषु कार्मणवर्गणागतं यत् ।
परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानवरणादिभावैः ॥१३५॥
तत्खलु जीवनिवद्धं कार्मणवर्गणागतं यदा ।
तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणामभावानाम् ॥१३६॥

अर्थ—जीवोंके जो अतत्वकी उपलब्धि है–स्वरूपका अन्यथा जानपना है वह तो अज्ञानताका उदय है। और जो अतत्वका श्रद्धान है वह मिथ्यात्वके उदयसे है। जीवोंके जो अविरमण-अत्यागभाव है वह तो असंयमके उदयसे है और जो जीवोंके मलीन–जानपनेकी स्वच्छतासे रहित उपयोग है सो कषायके उदयसे है। और जीवोंकें जो शुभ तथा अशुभ रूप मन वचन कायकी चेष्टाको उत्साह करने योग्य, तथा न करने योग्य व्यापार है सो योगके उदयसे है। इनको कारणरूप होते हुए जो कार्मण जातिकी वर्गणाएं आठ प्रकार ज्ञानावरणादि भावोंसे परिणमती हैं सो निश्चयसे जिस समय कार्माण वर्गणारूप आकर जीवके साथ संवंधको प्राप्त होती हैं उस समय उन अज्ञानादि परिणामोंका कारण जीव होता है। मतलव ये हैं कि अज्ञान भावके भेदके भेद जो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग रूप परिणाम हैं वे पुद्गलके परिणाम हैं। वे आगामी ज्ञानावरणादि कर्म वंध होनेको

कारण हैं। जीव उन मिथ्यात्वादि भावोंके उदय होतेही अपने अज्ञान भावसे अतत्वश्रद्धानादि रूप परिणमता है। और अज्ञान रूप भावोंका कारण होता है।

आगे कहते हैं कि पुद्गलका परिणाम जीवसे अलगही है—

जइ जीवेण सह च्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।
एवं पुग्गलजीवा हु दो वि कंमत्तमावण्णा ॥१३७॥
एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहि विणा कम्मस्स परिणामो ॥१३८

यदि जीवेन सह चैव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामः।
एवं पुद्गलजीवौ खलु द्वावपि कर्मत्वमापन्नौ ॥१३७॥
एकस्य तु परिणामः पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन।
तज्जीवभावहेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः ॥ १३८ ॥

अर्थ—यदि ऐसा माना जाय कि जीव सहित ही पुद्गल द्रव्यका कर्मरूप परिणाम होता है तो जीव और पुद्गल दोनोंको ही कर्म रूप होना आता है। इसलिए जीव भाव निमित्त कारण है उनको छोडकर कर्मका परिणाम भिन्न ही है। वह तो एक पुद्गल द्रव्य ही का कर्म भावसे परिणाम है, ऐसा निश्चय जानना चाहिए।

भावार्थ-यदि पुद्गल द्रव्यका कर्म रूप परिणमन होना जीवके साथ ही माना जायगा तो दोनोंकें कर्म रूप परिणाम ठहरेगा, इसलिये जीवका अज्ञान रूप रागादि परिणाम कर्म होनेको निमित्त कारण है। इसीसे पुद्गलकर्मपरिणाम जीवसे भिन्न पुद्गल द्रव्यके ही हैं।

आगे बतलाते हैं कि जीवका परिणाम भी पुद्गल द्रव्यसें न्यारा ही है—

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्म च दो वि रागादिमावण्णा ॥१३९॥
एकस्सदू परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता क मोदयहेदूहि विणा जीवस्स परिणामो ॥१४०॥

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामा खलु भवन्ति रागादयः।
एवं जीवः कर्म च द्वे अपि रागादित्वमापन्ने ॥१३९॥
एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभिः।
तत्कर्मोदयहेतुभिर्विना जीवस्य परिणामः ॥१४०॥

अर्थ—यदि ऐसा माना जाय कि जीवके परिणाम रागादि रूप होते हैं और वे कर्म सहित ही होते हैं तो जीव और कर्म दोनों ही रागादि परिणामको प्राप्त होते हैं ऐसा आया, सो ऐसा नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि रागादि रूप एक जीवका ही परिणाम होता है। इन परिणामोंको कर्मका उदय निमित्त कारण है। उन निमित्तरूप कर्म परिणामोंसे भिन्न एक जीवहीका परिणाम है जो रागादि रूप होता है।

प्रश्न—आत्मामें जो कर्म हैं सो बद्धस्पष्ट हैं कि अबद्धस्पष्ट हैं? इस प्रश्नका नय विभागसे उत्तर देते हैं—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणय भणिदं।
सुद्धणयस्य दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४१॥

जीवे कर्म बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारनयभणितम्।
शुद्धनयस्य तु जीवे अबद्धस्पृष्टं भवति कर्म ॥१४१॥

अर्थ—जीवमें कर्म बद्ध है—जीवके प्रदेशोंमें बंधता है तथा स्पृष्ट माने स्पर्श करता है ऐसा व्यवहारनयका वचन है। जीवमें कर्म बंधता भी नहीं है स्पर्श भी नहीं करता है ऐसा निश्चयनय का वचन है।

प्रश्न—इन दोनों नयपक्षोंसे क्या होता है? उत्तरगाथा—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो॥१४२

कर्म बद्धमबद्धं जीव एवं तु जानीहि नयपक्षम्।
पक्षातिक्रान्तः पुनर्भण्यते यः स समयसारः॥१४२॥

अर्थ—जीवमें कर्म बधता है अथवा नहीं बधता है इस प्रकार ये दोनों नयपक्ष हैं जो पक्षसे अतिक्रान्त हैं दूरवर्ती हैं वही समयसार है-निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्व है।

तात्पर्य-जीव कर्मों से बंधा है, नहीं बंधा है ऐसा कहना नयपक्ष है। किसीने बंध पक्ष पकडा, किसीने अबंध पक्ष पकडा, और किसीने दोनों पक्ष कपडे, सो ये सब विकल्प हैं- इस प्रकार के विकल्पोंको छोडकर जो किसी भी पक्षको नहीं पकडता है वह शुद्ध पदार्थके स्वरूपको जान कर समयसार रूप शुद्ध आत्माको पा लेता है। नयोंका पक्ष पकडना राग है, सो समस्त नय पक्ष छोडकर वीतराग हो जाना समयसार है।

प्रश्न—नयपक्षके त्यागकी भावनाको कौन कराता है? इस प्रश्नका उत्तर रूप काव्य कहते हैं—

उपेन्द्रवज्रा छंद—

य एवमुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति॥२४

अर्थ—जो पुरुष नयके पक्षपातको छोडकर अपने स्वरूपमें गुप्त होकर निरंतर वसते हैं वे पुरुष तमाम विकल्पोंसे रहित हो शांत चित्त होकर साक्षात अमृतको पीते हैं, ऐसा भाव जानना चाहिये। जबतक पक्षपात रहता है तबतक चित्तका क्षोभ नहीं मिटता है, जब संपूर्ण नयोंका पक्षपात मिट जाता है तब वीत-राग दशा होकर स्वरूपकी निर्विकल्प दशा होती है, स्वरूप

में प्रवृत्ति होती है।

जे न करैं नय पक्ष विवाद धरैं न विषाद अलीक न भाखैं।
जे उद्वेग तजैं घट अंतर शीतल भाव निरंतर राखैं॥
जे न गुनीगुन भेद विचारत, आकुलता मनकी सब नाखैं।
ते जगमें धरि आतम ध्यान, अखंडित ग्यान सुधा रस चाखैं॥२४

अब नयपक्षको प्रगट रूपसे कहते हैं तथा उसको जो छोडता है वही तत्वज्ञानी है, वही अपने स्वरूपको पा लेता है ऐसे अर्थके कलश रूप वीस काव्य कहते हैं—

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥२५

अर्थ—यह चिन्मात्र जीव है सो एक नयके पक्षसे तो कर्मोंसे बद्ध है और दूसरे नयके पक्षसे बद्ध नहीं हैं। इन दोनों नयोंके दो पक्ष भिन्न २ हैं। इस प्रकार जिसको दोनों नयोंका पक्षपात है वह तत्ववेत्ता नहीं है। जो तत्ववेदी है तत्वका जानकार है वह पक्षपात रहित होता है, उस पुरुषका जो चिन्मात्र आत्मा है सो चिन्मात्रही है इसमें पक्षपात जन्य कोई प्रकार की कल्पना नहीं होती। यहां शुद्ध नयको प्रधान करके कथन किया है। जीव नामक पदार्थको शुद्ध नित्य अभेद चैतन्यमात्र स्थापकर कहते हैं-कि इस शुद्ध नयका भी जो पक्षपात करेगा वह भी उस स्वरूपके स्वादको नहीं पावेगा। अशुद्ध पक्षको तो गौणकर कहते आये हैं और कोई शुद्ध नयका भी जो पक्षपात करेगा तो पक्षका राग न मिटेगा तब वीतरागता न होगी। इसलिये पक्षपात को छोडकर चिन्मात्र स्वरूपमें लीन होनेपर समयसार-शुद्ध आत्म स्वरूपको पावेगा। चेतनके परिणाम परनिमित्तसे अनेक प्रकार के होते हैं उन सबको तो गौण कहते ही आये हैं। इससे सर्व पक्ष छोड शुद्ध स्वरूपका श्रद्धानकर पीछे स्वरूपमें प्रवृत्ति रूप

चारित्र होतेही वीतराग दशा करनी योग्य है।

सवैया-इकतीसा—

विवहार-दृष्टिसौं विलोकत बंध्यौसौ दीसै, निहचै निहारत न बंध्यौ यह्न किनहीं,
एक पच्छ बंध्यो एक पच्छसौं अबंध सदा दोऊ पच्छ अपने अनादि धरैं इनहीं।
कोऊ कहै समल विमलरूप कोऊ कहै, चिदानंद तैसोई वखान्यौ जैसौ जिनही,
बधौ मानै खुल्यौ मानै दौऊ नयकौ भेद जानै, सोई ग्यानवंत जीव तत्व पायौ तिनहीं

अव जिस प्रकार बद्ध अबद्ध पक्षको छुडाया उसी प्रकार अन्य पक्षोंको भी प्रगट कहकर छुडाते हैं—

एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्व वेदी च्युत पक्षपातस्तस्यास्ति नित्य खलु चिच्चिदेव ॥२६

अर्थ—जीव एक नयकी दृष्टिमें तो मूढ है मोही है दूसरे नयकी दृष्टिमें मोही नहीं है ऐसा पक्ष है। ऐसे ये दोनोंही चैतन्यमें पक्षपात है। जो तत्ववेदी है सो पक्षपात रहित है उसका चित तो चित्ही है मोही अमोही कुछ भी नहीं है।

एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ य०॥२७

अर्थ—एक नयकी पक्षसे यह जीव रक्त रागी है दूसरे नयकी पक्षसे रागी नही हैं ऐसा पक्षपात है सो ये दोनों ही चैतन्यमें नयके पक्षपात हैं जो तत्व वेदी है सो पक्षपात रहित है इत्यादि पूर्ववत जानना।

एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ। यस्तत्व.२८

अर्थ—एक नय के पक्ष से तो द्वेषी है दूसरे नय के पक्ष से द्वेपी नहीं है इस प्रकार चेतन्यमें दोनों नयोंके पक्षपात हैं।

एकस्य कर्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ यस्तत्व २९

अर्थ—एक नयके पक्षसे तो कर्ता है दूसरे नयके पक्षसे कर्ता नहीं है। इस प्रकार चेतन्यमें दोनों नयोंके दो पक्ष हैं।

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ यस्तत्व३०

अर्थ—एक नयके पक्षसे तो जीव भोक्ता है दूसरे नयके पक्षसे अभोक्ता है। इस प्रकार चैतन्यमें दोनों नयोंके दो पक्षपात हैं। इत्यादि।

एकस्य जीवो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ यस्तत्व. ३१

अर्थ—एक नयसे जीव है, दूसरे नयसे जीव नहीं है। चैतन्यमें दो नयोंके ऐसे दो पक्षपात हैं। इत्यादि

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ यस्तत्व ३२

अर्थ—एक नयसे सूक्ष्म है दूसरे नयसे सूक्ष्म नहीं है ऐसा चैतन्यमें दो नयोंका पक्षपात है।

एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ यस्तत्व॥३३॥

अर्थ—एक नयसे हेतु है दूसरे नयसे हेतु नहीं है। इत्यादि

एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति० ॥ यस्तत्व० ॥३४॥

अर्थ– एक नयसे कार्य है दूसरे नयसे कार्य नहीं है। इत्यादि०।

एकस्य भावो न तथा परस्य चिति०। यस्तत्व० ॥३५॥

अर्थ—एक नयसे भाव रूप है, दूसरे नयसे भावरूप नहीं है। इत्यादि।

एकस्य चैको न तथा परस्य चिति० ॥ यस्तत्व० ॥३६॥

अर्थ—एक नयसे एक रूप है, दूसरे नयसे एक रूप नहीं है। इत्यादि।

एकस्य सांतो न तथा परस्य चिति०। यस्तत्व० ॥ ३७ ॥

अर्थ–एक नयसे सांत है दूसरे नयसे सांत नहीं है। इत्यादि०।

एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति०। यस्तत्व० ॥३८॥

अर्थ—एक नयसे नित्य है, दूसरे नयसे नित्य नहीं। इत्यादि०।

एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति०। यस्तत्व० ॥३९॥

अर्थ—एक नयसे वाच्य है, दुसरे नयसे वाच्य नहीं है।

एकस्य नाना न तथा परस्य चिति० । यस्तत्व० ॥४०॥

अर्थ—एक नयकी अपेक्षा जीव नाना है दूसरे नयसे नाना नहीं है। इत्यादि ॥

एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चिति. । यस्तत्व. ॥४१॥

अर्थ—एक नयसे तो जानने योग्य है दूसरे नयसे जानने योग्य नहीं है। इत्यादि ।

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य । चिति. यस्तत्व ॥४२॥

अर्थ—एक नयकी अपेक्षा जीव देखने लायक है दुसरेसे नहीं। इत्यादि ।

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चिति. यस्तत्व ॥४३॥

अर्थ—एक नयसे जीव वेदने योग्य है दूसरेसे नहीं वेदने योग्य है। इत्यादि.

एकस्य भातो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥४४॥

अर्थ—एक नयकी अपेक्षा भात—वर्तमान में प्रत्यक्ष है परतु दूसरे नयकी अपेक्षा भात नहीं है। इस प्रकार दोनों नयोंके चैतन्यमें दो पक्षपात हैं जो तत्ववेदी हैं वे स्वरूपके यथार्थ अनुभवन करने वाले होते हैं उनका चिन्मात्र भाव है सो चिन् मात्र ही है पक्षपातसे रहित है।

भावार्थ—जीवके पर निमित्तसे अनेक जातिके परिणाम होते हैं और इनमें साधारण अनेक धर्म हैं तो भी चिन्मात्र स्वभाव असाधारण स्वभाव हैं वही सामान्य रूपसे शुद्धनयका विषय हैं। उसीका प्रधानतासे कथन है। सो इसके साक्षात अनुभव करनेके लिये ऐसा कहा है कि इसमें नयोंके अनेक पक्षपात उत्पन्न होते हैं। वद्ध, अवद्ध, मूढ, अमूढ, इत्यादि नयोंके पक्षपात हैं। लेकिन तत्वोंका अनुभव करने वाला पक्षपात नहीं करता है।

नयोंको यथोचित विवक्षासे साधता है। और चैतन्यको चैतन्य-मात्र ही अनुभव करता है। इस अर्थको संकोचते हुए काव्य कहते हैं–

वसंततिलका छंद–

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला—
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥४५॥

अर्थ– जो तत्वका जानने वाला पुरुप है सो पूर्वोक्त प्रकार अपने आप उठ रहे है बहुतसे विकल्पोंके जाल जिसमें ऐसा जो बडा नयपक्ष रूपी वन उसको उलंघकर और समरस जो वीतराग भाव वही है एकरस जिसमें ऐसा है स्वभाव जिसका ऐसा जो आत्माका भाव अपना स्वरूप अनुभूतिमात्र उसको प्राप्त होता है।

प्रथम नियत नय दूजी विवहार नय, दुहुकौ फलावत अनंत भेद फलै है,
ज्यौं ज्यौं नय फले त्यौं त्यौं मनके कल्लोल फलैं चंचल सुभाव लोकालोकलौं उछलै हैं
ऐसो नयकक्ष ताकौ पक्ष तजि ज्ञानी जीव, समरसि भए एकतासौं नाहिं टलै हैं,
महामोह नासि सुद्ध अनुभौ अभ्यासि निज, बल परगासि सुखरासि माहि रलै हैं।

फिर कहते हैं—

रथोद्धता छंद—

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥४६॥

अर्थ–तत्ववेदी ऐसा अनुभव करता है कि मैं चिन्मात्र मह-तेजका पुंज हूं जिसका स्फुरायमान होना ही बडी बडी उठती चंचल विकल्परूप लहरें उनसे उछलता इन नयोंके प्रवर्तन रूप इन्द्रजाल उसको उसी समय सबको दूर करता है।

सारांश–चैतन्यका अनुभवन ऐसा है कि इसके होते हुए संपूर्ण नयोंका विकल्परूप इन्द्रजाल तत्काल विलयमान होजाता है।

जैसै काहू बाजीगर चौहटै वजाई ढोल, नाना रूप धरिकैं भगल विद्या ठानी है,
तैसै मैं अनादि कौ मिथ्यात की तरंगनि सौं भरममें धाइ बहु काय निजमानी है,
अब ग्यानकला जागी भरमकी दृष्टि भागी अपनी पराई सब सौंज पहचानी है,
जाकै उदै होत परवान ऐसी भांति भई, निहचै हमारी जोति सोई हम जानी है

प्रश्न-जो पक्षसे दूरवर्ती है उसका क्या स्वरूप है ? इसका उत्तर स्वरूप गाथा—

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो१४३

द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः।
न तु नयपक्षं गृह्णाति किञ्चिदपि नयपक्षपरिहीनः ॥१४३॥

अर्थ—जो पुरुष समय-शुद्धात्मा से प्रतिबद्ध है—आत्मा को जानता है वह दोनों नयोंके कथनको केवल जानता है नयपक्षको जरा भी नहीं ग्रहण करता है पुरुष जो नयपक्षसे रहित है।

भावार्थ जिस तरह केवली भगवान सर्वज्ञ वीतराग होते हुए सम्पूर्ण पदार्थोंको साक्षात् करनेवाले ज्ञाता दृष्टा हैं। सो श्रुतज्ञानके अवयवभूत जो व्यवहार निश्चय नयके पक्ष रूप दो नय उनके स्वरूपको केवल जानते ही हैं, लेकिन किसी नयके पक्षको ग्रहण नहीं करते हैं। क्योंकि केवली भगवान निरन्तर जिसका उदय है ऐसे स्वाभाविक केवलज्ञान रूप ही हैं। इसलिए नित्य ही स्वयमेव विज्ञान घन स्वरूप हैं। इसीसे श्रुतज्ञानकी भूमिकासे अति क्रांत सम्पूर्ण नयपक्षके परिग्रहसे रहित—दूरवर्ती हैं। उसी तरह श्रुतज्ञानी भी जिस समय सम्पूर्ण नय पक्षसे रहित हो कर शुद्ध चैतन्यमात्र भावका अनुभव करते हैं वे उस समय नय पक्षके ज्ञाता ही हैं। कभी प्रयोजनके वशसे एक नयको प्रधान कर ग्रहण करें तो मिथ्यात्वविना चारित्रमोहके पक्षसे राग रहेगा और जब

नय पक्षको छोडकर वस्तु स्वरूपको केवल जानते ही हैं तब श्रुत-ज्ञानी भी केवलीकी तरह वीतराग सरीखे हो जाते हैं । इस अर्थ को हृदयगत करके तत्ववेदी ऐसा अनुभव करता है,-ऐसा अर्थ रूप काव्य कहते हैं —

स्वागता-छन्द—

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमेपारम् ॥४७॥

अर्थ—तत्वका जानने वाला मैं चैतन्य स्वभावके पुंजसे उत्पन्न हुए भाव अभाव रूप एक भाव मात्र परमार्थसे जो एक है, अपार है-जिसके केवल ज्ञानादि गुणोंका अन्त नहीं है । ऐसे समयसारका-शुद्ध आत्माका सम्पूर्ण बन्धकी परिपाटीको दुर करके अनुभव करता हूं ।

जैसे महारतनकी ज्योति मे लहर उठै जलकी तरग जैसें लीन होय जलमैं ।
तैसें सुद्ध आतम दरव परजाय करि उपजै विनसै थिर रहै निज थलमैं ॥
ऐसे अविकलपी अजलपी आनन्द रूपी,अनादि अनन्त गहि लीजे एक पलमैं ।
ताको अनुभव कीजे परम पियूष पीजैं बधको विलास डारि दीजे पुद्गलमैं॥४७॥

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदित्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो जो सो भणिदो समयसारो॥१४४

सम्यग्दर्शनज्ञानमेष लभत इति केवलं व्यपदेशम् ।
सर्वनयपक्षरहितो यः स भणितः समयसारः ॥१४४॥

अर्थ–सर्व नयोंके पक्षसे रहित ही वस्तु समयसार ऐसा नाम पाता हैं । यह समयसार ही केवल सम्यग्दर्शन ज्ञान इस नामको पाता है, सम्यग्दर्शन ज्ञान ये नाम उसी समयसारका ही है । दो वस्तु नहीं हैं। भाव ये है कि आत्माको पहिले आगमज्ञानसे ज्ञान-स्वरूप निश्चय करके पीछे इन्द्रिय बुद्धि रूप मतिज्ञानको भी ज्ञान मात्र हीमें मिला कर श्रुतज्ञान रूप नयोंके विकल्प मेट, श्रुतज्ञान

को भी निर्विकल्पकर एक ज्ञान मात्र अखण्ड प्रतिभासका अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान इस नामको पाता है इससे अन्य कोई दूसरी वस्तु नहीं है। इसी अर्थका कलश रूप काव्य—

शार्दूलविक्रीडित छन्द——

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना।
सारो यः समयः स भाति विभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्॥
विज्ञानैकरसः स एष भगवान् पुण्यः पुराणः पुमान्।
ज्ञानं दर्शनमप्यय किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम् ॥४८॥

अर्थ—निश्चित पुरुषोंके द्वारा स्वय आस्वाद्यमान, भगवान विज्ञान ही है एक रस जिसका ऐसा नयोंके पक्ष विना निर्विकल्प भावको प्राप्त होता हुवा निश्चल जैसे होय उस तरह समय माने आगम अथवा आत्माका सार रूप पवित्र पुराणपुरुष ही शोभाको प्राप्त होता है। इसी समयसारको ज्ञान कहो, दर्शन कहो अथवा किसी दूसरे नामसे कहो, जो कुछ है सो यही एक है इसीके नाना नाम हैं।

दरवकी नय परयाय नय दोऊ नय श्रुतज्ञानरूप श्रुतग्यान तौ परोख है।
सुद्ध परमातमाकौ अनुभौ प्रगट तातैं, अनुभौ विराजमान अनुभौ अदोख है।
अनुभौ प्रमान भगवान पुरुष पुरान, ग्यान औ विग्यान घन महा सुख पोख है।
परम पवित्र यौं अनन्त नाम अनुभौके, अनुभौ विना न कहूं और ठौर मोख है ४८

अब कहते हैं कि यह आत्मा ज्ञानसे च्युत हुवा था, सो ज्ञान हीसे आ मिला —

शार्दूलविक्रीडित छद—

दूरं भूरि विकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो।
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात्॥
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन्।
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥४९॥

अर्थ—जो विज्ञान रूपी रसके एक रसीले हैं उनको एक विज्ञान रस स्वरूप, तथा पहिले अपने विज्ञान घन स्वभावसे च्युत होता हुआ प्रचुर विकल्पोंके जालके गहन वनमें अतिशय कर भ्रमण कर रहा था उसको विवेक रूप नीचे मार्गके गमनसे जलकी तरह अपने विज्ञानघन स्वभावमें दूरसे आ मिलाया ऐसा आत्मा आत्मस्वभाव को अपनेमें ही समेटता हुवा जैसे वह गया था उसी तरह अपने स्वभावमें आ मिला।

भावार्थ-यहां जलका दृष्टांत दिया है-जैसे जल अपने निवास स्थानसे निकलकर किसी मार्गसे फिर ज्योंका त्यों अपने निवास स्थानमें आकर मिल जाता है उसी तरह आत्मा भी अपने विकल्पों के मार्गोंसे अपने स्वभाव से च्युत होकर भ्रमण करता हुवा कोई विवेक–भेदज्ञान रूपी नीचे मार्गसे अपने आपको खेंचता हुवा अपने स्वभाव विज्ञान घनमें आकर मिल जाता है।

जैसे एक जल नानारूप दरवानुजोग भयौ बहु भांति पहिचान्यौ न परतु है।
फिरि काल पाइ दरवानुयोग दूरि होत, अपनै सहज नीचै मारग ढरतु है॥
तैसैं यह चेतन पदारथ विभाव तासौं, गति जोनि भेस भव भांवरि भरतु है।
सम्यक सुभाइ पाइ अनुभौके पथ धाइ बंधकी जुगति मानि मुकति करतु है.४९॥

अब कर्तृकर्माधिकारको पूर्ण करते हुए कर्तृकर्मके संक्षप अर्थ के सूचक श्लोक कहते हैं–

अनुष्टुप् छंद–

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम्।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति॥५०॥

अर्थ—विकल्प करने वाला तो केवल कर्ता है। विकल्प केवल कर्म है। इनके सिवाय अन्य कोई कर्तृकर्म नहीं है इसलिये जो विकल्प सहित हैं उनका कर्तृकर्मपना कभी भी नष्ट नहीं हो सकता। मतलब ये है कि जहां तक विकल्प भाव हैं वहीं तक कर्तृकर्म भाव हैं। जिस समय विकल्पों का अभाव हो जाता है

उस समय कर्तृकर्मभाव का भी अभाव हो जाता है।

निसि दिन मिथ्याभाव बहु धरे मिथ्याती जीव।
तातैं भावित करमको करता कह्यो सदीव ॥५०॥

अब कहते हैं—कि जो करता है सो करता ही है और जो जानता है वह जानता ही है—

रथोद्धता छंद—

यः करोति स करोति केवल यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित्

अर्थ—जो करता है वह केवल करता ही है और जो जानता है वह केवल जानता ही है। जो करता है वह कुछ जानता नहीं है और जो जानता है वह कुछ भी करता नहीं है। कर्ता ज्ञाता नहीं और ज्ञाता कर्ता नहीं होता ये भाव हैं।

चौ-करै करम सोई करतारा जो जानै सो जानन हारा।
जो करता नहि जानै सोई,जानै सो करता नहिं होई ॥५१॥

इसी प्रकार करने रूप क्रिया और जानने रूपक्रिया भी भिन्न हैं-

इन्द्रवज्रा छन्द—

ज्ञप्ति करोतौ न हि भासतेऽन्यः ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्यः।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ५२॥

अर्थ—जो जानने रूप क्रिया है सो तो करने रूप क्रियाके अन्तरगमें नहीं भासनी है, और जो करने रूप क्रिया है, सो जानने रूप क्रियाके अन्तरंगमें नहीं भासती है। इसलिए ज्ञप्ति क्रिया और करोति क्रिया दोनों भिन्न २ हैं। इससे यह बात सिद्ध हुई कि जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं है।

विशेषार्थ--जिस समय इस प्रकार परिणमता है कि मैं पर द्रव्यको करता हूं उस समय तो परिणमन क्रियाका कर्ता ही है और जिस समय इस तरह परिणमता है कि मैं परद्रव्यको

जानता हूं उस समय उस जानना रूप क्रियाका ज्ञाता ही है।

ग्यान मिथ्या न एक नहि रागादिक ग्यान महि।
ग्यान करम अतिरेक ग्याता सो करता नहिं॥५२॥

प्रश्न—अविरत सम्यग्दृष्टि आदिकें जब तक चारित्र मोहनीयका उदय है, तब तक वह कषाय रूप परिणमता है। तब उन्हें कर्ता कहना कि नहीं ?

उत्तर—अविरत सम्यग्दृष्ट्यादिके श्रद्धान ज्ञानमें परद्रव्यके स्वामीपना रूप कर्तापनेका अभाव है, जो कषायरूप परिणमन है सो उदयकी वरजोरीसे है, उसका यह ज्ञाता है, इसलिये अज्ञान सम्बन्धी कर्तापना इसके नहीं होता है, और निमित्तकी वरजोरीके परिणमनका फल जो कुछ होता है वह भी संसारका कारण नहीं होता है। जिस प्रकार वृक्षकी जड कट जाने बाद कुछ समय रहे, या न रहे उसी तरह यहां समझना चाहिये।

शार्दूल विक्रीडित छन्द—

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि।
द्वन्द्व विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः॥
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि तदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति—
र्नेपथ्ये वत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किम्॥५३॥

अर्थ—निश्चयसे कर्ता तो कर्ममें नहीं है, और कर्म भी कर्ता में नहीं है। इस प्रकार परस्परमें दोनोंका विशेपता रूपसे प्रतिषेध है, तो कर्ताकी कर्ममें क्या स्थिति होवे ? अर्थात् नहीं होवे। वस्तुकी मर्यादा प्रगट रूपसे ऐसी ही है कि ज्ञाता तो सदा ज्ञानमें ही है, और कर्म सदा कर्ममें ही है। वह मोह–अज्ञान नैपथ्यमें कैसा नाच करता है ? सो यह वडा खेद है। नैपथ्य माने शान्त ललित उदात्त धीर इन चार आभरणों सहित तत्वोंके नृत्यमें यह मोह कैसा नृत्य करता है ? कर्ता कर्मपना तो नेपथ्यस्वरूप नृत्य का आभूषण नहीं है। इस प्रकार खेद पूर्वक आचार्यने वचन

कहा है। भाव ये हैं कि कर्म तो पुद्गल है। उसका कर्ता जीव को कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इन दोनोंमें बडा भेद है। जीव पुद्गलमें नहीं है और पुद्गल जीवमें नहीं है। ऐसी हालतमें इनमें कर्तृकर्मभाव कैसे बन सकता है? जीव तो ज्ञाता है सो ज्ञाता ही है। पुद्गलका कर्ता नहीं है। पुद्गल कर्म है सो कर्म ही है। यहां आचार्यने खेद पूर्वक कहा है कि ये दोनों द्रव्य साफ भिन्न २ हैं, तो भी अज्ञानीका यह मोह कैसा नृत्य कर रहा है? कि मैं तो कर्ता हूं और यह पुद्गल मेरा कर्म है। यह बडा अज्ञान है।

करम पिंड अरु राग भाव मिलि एक होंहि नहिं।
दोऊ भिन्न सरूप बसहिं दोऊ न जीव महिं।
करम पिंड पुद्गल विभाव रागादि मूढ भ्रम,
अलख एक पुग्गल अनन्त किमि धरहि प्रकृति सम॥
निज निज विलास जुत जगत महिं जथा सहज परिणमहि तिम।
करतार जीव जड करमको मोह विकल जन कहहि इम॥५३॥

अब कहते हैं कि मोह इस प्रकार नाचता है तो नाचो वस्तु स्वरूप तो जैसा है वैसा ही रहता है—

मन्दाक्रान्ता छन्द—

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव।
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गल पुद्गलोपि॥
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चै-।
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगंभीरमेतत्॥५४॥

अर्थ—यह ज्ञान ज्योतिः अन्तरंगमें अतिशयसे अपनी चैतन्य शक्तिके समूहके भारसे अत्यन्त गम्भीर—जिसकी थांह नहीं है, इस तरह निश्चल व्यक्त रूप (प्रगट) हुवा तब पहिले जैसा अज्ञान दशामें आत्मा कर्ता था वैसा अब कर्ता नहीं है। और इसके अज्ञानसे जो पुद्गल कर्मरूप होता था वह भी अब कर्म रूप नहीं होता है, किंतु ज्ञान तो ज्ञान रूप ही रहता है और पुद्गल-

पुद्गल रूप ही रहता है भाव ये है कि जब आत्मा ज्ञानी हो जाता है तब ज्ञान तो ज्ञान रूप ही परिणमता है, पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं बनता है। और पुद्गल पुद्गल रूप ही रहता है, कर्म रूप नहीं परिणमता है। इस प्रकार आत्मामें यथार्थ ज्ञान होने पर दोनों द्रव्योंके परिणामोंमें निमित्तनैमित्तिक भाव नहीं रहता है। इस प्रकारका ज्ञान सम्यग्दृष्टिको होता है।

जीव मिथ्यात न करै भाव नहिं धरै भरम मल,
ज्ञान ज्ञान रस रमै होई करमादिक पुदगल।
असंख्यात परदेश सकति जगमगै प्रगट अति,
चिदविलास गंभीर धीर थिर रहै विमल मति॥
जब लगि प्रबोध घट महिं उदित तब लगि अनय न पेखियै।
जिमि धरम राज वरतंत पुर जँह तंह नीति परेखियै॥५४॥

जीव अनादि अज्ञान वसाय विकार उपाय बनें करता सो।
ताकर बंधन आन तनूं फल ले सुख दुःख भवाश्रमवासो॥
ज्ञान भयें करता न बने तब बंधन होय खुले परपासो।
आतम मांहिं सदा सुविलास करै शिव पाय रहे नित थासो॥१॥
इस प्रकार निजानंदमार्तंडका द्वितीयाधिकार संपूर्ण हुआ।

अब पुण्यपापका अधिकार प्रारंभ करते हैं—

दोहा-पुण्य पाप दोऊ करम बंध रूप दुरमानि।
शुद्ध आत्मा जिन लह्यो नमूं चरण हित जानि ॥१॥

जो कर्म एक प्रकार है वही पुण्य पापके भेदसे दो प्रकार है, ऐसें सम्यग्दृष्टि जिस यथार्थ ज्ञानको पहिचानता है उसी ज्ञानकी महिमा आगे काव्यमें आचार्यने वर्णन की है—

द्रुतविलंबित छंद-

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन्।
ग्लपित निर्भरमोहरजा अयं स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लव ॥१॥

अर्थ—कर्ता कर्म अधिकारके बाद यह प्रत्यक्ष अनुभव गोचर सम्यग्ज्ञान रूपी चन्द्रमा अपने आप उदयको प्राप्त हुवा है। जो सम्यग्ज्ञानका उदय-सामान्य रूपसे एक प्रकारका है तो भी शुभाशुभ रूपसे दो प्रकारको प्राप्त हुवा है, उसीको एकपनेको प्राप्त करता हुआ उदय हुवा है। मतलब ये है कि जब तक अज्ञानता रही तभी तक एक प्रकारका कर्म दो प्रकारका दीखता था, सो सम्यग्ज्ञान रूपी चन्द्रमाके उदयने एक प्रकार ही दिखा दिया। कैसा है ज्ञान? जिसने मोह रूपी रजको अत्यन्त दूर कर दिया है, अर्थात् ज्ञानमें जो मोह रूपी रज लग रहा था, सो दूर कर दिया, तब ज्ञान यथार्थ ही होगया। जैसे चन्द्रमाके पटल पर पालाका पटल आडा आजाता है तब चन्द्रमाका यथार्थ प्रकाश नहीं होता है, आवरणके दूर होते ही यथार्थ प्रकाश होने लग जाता हैं उसी तरह मोहके दूर होते ही आत्माका ज्ञान प्रकाशमान हो जाता है।

जाके उदै होत घट अंतर विनसै मोह महातम-रोक।
सुभ अरु असुभ करमकी दुविधा मिटै सहज दीसै इक थोक॥

जाकी कला होत सपूरन प्रतिभासै सब लोक अलोक।
सो प्रबोध ससि निरखि बनारसी सीस नवाइ देत पग धोक

आगे पुण्यपापके स्वरूपको दृष्टांत रूपसे कहते हैं—

मन्दाक्रांता छंद—

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः।
शूद्रौ साक्षादथ चरतो जातिभेदभ्रमेण॥ २॥

अर्थ—किसी शूद्रा स्त्रीके उदरसे एक साथ एकही कालमें दो पुत्र जन्मे, उनमेंसे एक तो ब्राह्मणके घर पला सो उसको ब्राह्मण-पनका अभिमान हुआ कि मैं ब्राह्मण हूं, उसी अभिमानसे वह बालक मदिराको दूर से छोड देता है। स्पर्श भी नहीं करता है। दूसरा शूद्राके ही घर रहा सो "मैं खुद शूद्र हूं" ऐसा मानकर उस मदिरासे स्नान कर अपनेको पवित्र मानता है। परमार्थसे विचार किया जाय तो दोनोंही शूद्राके पुत्र हैं, क्योंकि दोनोंही शूद्राके उदरसे जन्मे हैं। इसलिये साक्षात् शूद्रहीं हैं। केवल जाति भेदके भ्रमसे उस उसरूप आचरण करते हैं। उसी तरह पाप पुण्य दोनों एकही कर्मसे उत्पन्न हुए हैं, आत्माकी विभाव परिणतिसे उत्पन्न हुए हैं, दोनोंही बंधरूप हैं, प्रवृत्ति भेदसे दो प्रकार दीखते हैं परमार्थ दृष्टिसे तो कर्मत्व रूपसे एकही हैं।

जैसे काहू चंडाली जुगल पुत्र जनै तिनि एक दियौ बामनकौं एक घर राख्यौ है।
बामन कहायौ तिन मद्य मांसत्याग कीनौ चंडाल कहायौ तिनि मद्यमांस चाख्यौ है॥
तैसे एक वेदनी करमके जुगल पुत्र एक पुन्य एक पाप नाम भिन्न भाख्यौ है।
दुहू मांहि दौर धूप दोऊ कर्मबधरूप यातैं ज्ञानवन्त नहि कोऊ अभिलाख्यौ है॥२॥

आगे शुभाशुभकर्मके स्वभाव वर्णन करनेको गाथा कहते हैं—

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।

कह तं होई सुसीलं जं संसारं पवेसेइ ॥१४५॥

कर्म अशुभं कुशीलं शुभ कर्म चापि जानीथ सुशीलम् ।
कथं तद्भवति सुशीलं यत्संसारं प्रवेशयति ॥१४०॥

अर्थ—अशुभ कर्म कुशील है, पाप स्वभाव है, बुरा है। शुभ कर्म सुशील है, पुण्य स्वभाव है, और भला है । ऐसा सब संसार जानता है । परमार्थसे विचारा जाय तो कर्म शुभ हों या अशुभ हों, जीवको संसारमें ही प्रवेश कराने वाले हैं, तब सुशील कैसे हो सकते हैं ? किसी प्रकारभी नहीं हो सकते हैं ।

उपजातिछंद—

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः ।
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः ॥३॥

अर्थ—हेतु, स्वभाव अनुभव और आश्रय इन चारोंके अभेदसे कर्मोंमें भेद नहीं है। इसलिए बन्धके मार्गका आश्रय कर कर्म एक ही प्रकार स्वीकार किया गया है । क्योंकि शुभ रूप तथा अशुभ रूप दोनों ही प्रकारका कर्म निश्चयसे बन्ध ही का कारण है।

कोऊ शिष्य कहै गुरु पाहीं पुण्य पाप दोऊ सम नाहीं ।
कारन रस सुभाव फल न्यारे एक अनिष्ट लगै इक प्यारे ॥

संकलेस परमानिसौ पाप बध होइ विसुद्धसौं पुन्य बन्ध हेतु भेद मानियै ।
पापकै उदै असाता ताकौ है कटुक स्वाद पुन्य उदै साता मिष्ट रस भेद जानियें ॥
पाप संकलेस रूप पुन्य है विसुद्ध रूप दुहुकौ सुभाव भिन्न भेद यौं बखानियें ।
पापसौं कुगति होइ पुन्यसौं सुगति होइ ऐसौ फल भेद परतच्छि परमानियै ॥३॥

पाप बध पुन्य बंध दुहूमैं मुकति नाहीं कटुक मधुर स्वाद पुग्गलकौ पेखिये ।
संकलेस विसुद्ध सहज दोऊ कर्म चाल कुगति सुगति जल जालमें विशेखिये ।
कारनादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात माहिं ऐसौ द्वैतभाव ज्ञानदृष्टि मैं न लेखिये ।
दोऊ महा अंधकूप दोऊ कर्म बंध रूप दुहूकौ विनाश मोख मारग मैं देखिये ॥

अब शुभ अशुभ दोनों ही कर्म बन्धके कारण हैं, यह बतलानेको गाथा कहते हैं —

सोव्वण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१४६॥

सौवर्णिकमपि निगलं बध्नाति कालायसमपि यथा पुरुषम्।
बध्नात्येव जीवं शुभमशुभं वा कृतं कर्म ॥२॥

अर्थ—जैसे सोनेकी बेडी पुरुषको बांधती है उसी तरह लोहेकी बेडी भी बांधती है। इस प्रकार चाहे कर्म शुभ हों या अशुभ हों, जीवको बांधने वाले ही होते हैं। इसलिए जैसे बांधने की अपेक्षा सोने और लोहेकी बेडीमें कोई भेद नहीं है। उसी प्रकार बंध करनेकी अपेक्षा कर्ममें कोई भेद नहीं है।

आगे शुभ अशुभ कर्मो का निषेध करते हैं।

तह्मा दु कुसीलेहिं य रायं मा कुणह मा व संसग्गं।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ॥१४७॥

तस्मात्तु कुशीलाभ्यां च रागं मा कुरुत मा वा संसर्गं।
स्वाधीनो हि विनाशः कुशीलसंसर्गरागेण ॥१४७॥

अर्थ—भो मुनिजन हो इसलिए [पूर्व कथित शुभ अशुभ कर्म हैं, वे कुशील हैं निंद्य स्वभाव हैं] उन दोनों कुशीलोंसे प्रीति मत करो सम्बन्ध भी मत करो, क्योंकि कुशीलके संसर्गसे तथा रागसे अपनी स्वाधीनता नष्ट होती है, अपना घात आपसे ही होता है।

अब दोनोंका प्रतिषेध दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता।
वज्जदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च ॥१४८॥
एमेव कम्मपयडी सीलसहावं च कुच्छिदं णाउं।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरया ॥१४९॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय ।
वर्जयति तेन समकं संसर्गं रागकरणं च ॥१४८॥
एवमेव कर्मप्रकृतिःशीलस्वभावं च कुत्सितं ज्ञात्वा ।
वर्जयन्ति परिहरंति च संसर्गं स्वभावरताः ॥ १४९ ॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष निंदित स्वभाववाले किसी पुरुषको जानकर उसके साथ संगति और रागभाव करना छोड देता है, इसी तरह ज्ञानी जीव कर्म प्रकृतियोंके शील स्वभावको निंदने योग्य खोटा जानकर उससे राग छोड देते हैं, तथा ऐसोंकी संगति भी छोड देते हैं। और बादमें अपने स्वभाव में लीन हो जाते हैं।

सारांश—जैसे हाथीको पकडनेवाला कोई पुरुष हाथीके पकडनेको कपटकी हथिनी दिखाता है, उससे हाथीकामांध होकर हथिनीसे राग संसर्गकरने खंदकमें पडकर पराधीन होजाता है और दुःख भोगता है। परंतु प्रवीण हाथी उससे राग संसर्ग नहीं करता है। उसी तरह कर्म प्रकृतिको भली जानकर अज्ञानी जीव उससे राग पूर्वक संसर्ग करता है, तब बंधमें पडकर संसारके दुख भोगता है, परंतु ज्ञानी उससे कदापि संसर्ग व राग नहीं करता है।

आगे-शुभ अशुभ दोनों तरहके कर्म बंधके कारण हैं इसलिये निषेध करने योग्य हैं ऐसा आगमसे सिद्ध करते हैं—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो[त्तो]
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते जीवो विरागसम्प्राप्तः ।
एष जिनोपदेशस्तस्मात्कर्मसु मा रज्यस्व ॥१५०॥

अर्थ—जो मनुष्य रागी होता है वह कर्मोंका अवश्य वन्ध करता है। जो विरक्त होता है वह कर्मसे छूट जाता है। ऐसा

शास्त्रका वचन है, अथवा जिनेन्द्र भगवानका उपदेश है। इसलिये हे भव्यजीव तूं कर्मोंमें राग–प्रीति मत कर। इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

स्वागता छंद—

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात्।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥ ४ ॥

अर्थ—सर्वज्ञ देवने संपूर्ण कर्मोंको चाहे वे शुभ रूप हों या अशुभ रूप हों बंध काही कारण कहा है इसीलिये सब कर्मोंका निषेध किया है। मोक्षका कारण एक ज्ञानहीको बतलाया है।

सील तप सजम विरति दान पूजादिक अथवा असजम कषाय विषै भोग है।
कोऊ सुभरूप कोऊ अशुभ स्वरूप मूल वस्तुके विचारत दुविध कर्मरोग है॥
ऐसी बध पद्धति बखानी वीतराग देव आतम धरम मैं करम त्याग जोग है।
भौजल तरैया राग द्वेष कौ हरैया महामोखको करैया एक सुद्ध उपयोग है॥४॥

अब कहते हैं कि कर्म सबही प्रतिषेध किये गये हैं तो मुनि कौनके आश्रय मुनिपद साधेंगे? इसके निर्वाह करनेको कलश रूप काव्य कहते हैं—

शिखरिणी छंद—

निषिद्धे सर्वस्मिन्सुकृतदुरिते कर्मणि किल।
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः॥
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं।
स्वयं विंदन्त्येते परममममृतं तत्र निरताः ॥ ५ ॥

अर्थ— सुकृत–शुभ आचरण रूप कर्म, दुरित–अशुभ आचरण रूप कर्म इस प्रकार सब प्रकारके कर्मोंका निषेध करते हुए, नैष्कर्म्य–कर्म रहित निवृत्ति अवस्थाको प्राप्त होनेवाले मुनि अशरण नहीं हैं। यहां ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि ये मुनि मुनिपद किसके आश्रय पालेंगे? क्योंकि–जिस समय निवृत्ति

अवस्थाकी प्रवृत्ति होती है उस समय मुनियोंका ज्ञानमें ज्ञानहीका आचरण करनाही शरण होता है, वे मुनि उस ज्ञानमें लीन होते हुए परमामृत रसको आप स्वयं भोगते हैं।

भावार्थ—संपूर्ण कर्मोंके त्याग होने पर ज्ञानका बडा शरण है। उस ज्ञानमें लीन हुए जीव संपूर्ण आकुलताओंसे रहित होकर परमानंद भोगते हैं। उसके स्वादको तो ज्ञानी ही जानते हैं। अज्ञानी कषायी जीव कर्मको ही सर्वस्व जान उसीमें लीन रहते हैं। वे ज्ञानानन्दका स्वाद नहीं जानते।

शिष्य कहै स्वामी तुम करनी असुभ सुभ कीनी है निषेध मेरे संसै मनमांही है।
मोखके सधैया ग्याता देसविरती मुनीस तिनकी अवस्था तौ निरालंब नांही है॥
कहै गुरु करम कौ नास अनुभौ अभ्यास ऐसौ अवलंब उनही कौ उन मांही है।
निरुपाधि आतम समाधि सोई सिव रूप और दौर धूप पुदगल परछांही है॥५

आगे बतलाते हैं कि ज्ञान ही मोक्षका साधन है—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तह्मि ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥१५१॥

परमार्थः खलु समयः शुद्धो यः केवली मुनिर्ज्ञानी।
तस्मिन् स्थिता स्वभावे मुनयः प्राप्नुवंति निर्वाणम्॥१५१॥

अर्थ—निश्चयसे परमार्थ रूप जीव नामक पदार्थका स्वरूप शुद्ध है, केवली है, ज्ञानी है। उस स्वभावमें जो मुनि स्थिर रहते हैं वे निर्वाण पाते हैं।

तात्पर्य—मोक्षका उपादान तो आत्मा ही है, परमार्थमें आत्माका स्वभाव ज्ञान है, जो ज्ञान है वही आत्मा है, जो आत्मा है वही ज्ञान हैं। इसलिये ज्ञान ही को मोक्षका कारण माना गया है।

आगे बतलाते हैं कि कोई यह न जाने कि तपश्चरणादिही ज्ञान है जो ऐसा जानता है उसको ज्ञानकी विधि बतलानेको गाथा कहते हैं—

परमट्ठह्मि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई।
तं सव्वं वालतवं वालवदं विंति सव्वण्हू ॥१५२॥

परमार्थे त्वस्थितो यः करोति तपो व्रतं च धारयति।
तत्सर्वं वालतपो वालव्रतं विन्दन्ति सर्वज्ञाः ॥१५२॥

अर्थ—जो मुनि परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मामें तो स्थित नहीं और तप करता है, व्रतोंको धारण करता है, ऐसे तप व्रतको सर्वज्ञ देव वालतप, वालव्रत कहते हैं। अर्थात् ऐसा तप वा व्रत अज्ञानीका होता है। मतलव ये है कि ज्ञानके विना जो तप वा व्रत करना है वह अज्ञान रूप ही व्रत अथवा तप है वह मोक्षका कारण नहीं हो सकता है। मोक्षका कारण तो एक ज्ञानही है।

आगे-ज्ञान मोक्षका हेतु है और अज्ञान वंधका कारण है, ऐसा वतलाते हैं—

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठवाहिरा जे णिव्वाण ते ण विन्दंति ॥१५३॥

व्रतनियमान्धारयंतः शीलानि तथा तपश्च कुर्वन्तः।
परमार्थवाह्या ये निर्वाण ते न विन्दन्ति ॥१५३॥

अर्थ—जो कोई व्रत नियमको धारण करते हैं शील और तपको भी करते हैं, परंतु परमार्थ रूप ज्ञान स्वरूप आत्मासे वाह्य हैं, आत्माके स्वरूपके ज्ञान और श्रद्धानसे रहित हैं, वे निर्वाण का अनुभव नहीं कर सकते अर्थात् ऐसे जीव मोक्ष नहीं पा सकते हैं।

विशेषार्थ—ज्ञान ही मोक्षका कारण है, क्योंकि ज्ञानका अभाव होनेपर आप अज्ञान रूप होता हुआ अंतरंगमें व्रत, नियम, शील, तप रूप शुभ कर्मका सद्भाव होते हुए भी आपमें मोक्षका अभाव ही है। ज्ञानके विना शुभ कर्म रूप व्रत, नियम, शील, तप रूप प्रवृत्ति होते हुए भी मोक्ष नहीं होती है। अज्ञान वंध

का कारण है, क्योंकि अज्ञानके अभाव होनेसे ज्ञान रूप होने वाले ज्ञानियोंके बाह्य व्रत, नियम, शील, तप आदि शुभ कर्मके अभाव होने पर भी मोक्षका सद्भाव रहता है। यहां ऐसा जानना चाहिये कि व्रत आदिकी प्रवृत्ति शुभ कर्म है सो इस प्रवृत्ति का अभाव होने पर निवृति अवस्था होती है, इस निवृति अवस्थाके होने पर बाह्य प्रवृत्ति रूपका अभाव हो जाता है तो भी मोक्ष होता है ऐसा नियम है। इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

शिखरिणी छन्द—

यदेतज्ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं।
शिवस्यायं हेतु· स्वयमपि यत्तच्छिव इति॥
अतोऽन्यद्बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति त—
त्ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम्॥६॥

अर्थ—यह ज्ञान रूप आत्मा ध्रुव है, सो जब अपने ज्ञान स्वरूपमें रहता है तभी शोभा पाता है, यही मोक्षका कारण है, क्योंकि आप खुद मोक्ष रूप ही है। इसके सिवाय बाकी सब बंध के ही कारण हैं। इसलिये आपका ज्ञान स्वरूप होना ही अनुभूति है। इस प्रकार निश्चयसे बंधमोक्षका विधान कहा गया है।

मोख सरूप सदा चिनमूरति बंधमई करतूति कही है।
जावत काल वसै जहां चेतन तावत सो रस रीति गही है॥
आतमकौ अनुभौ जबलौं तबलौं सिवरूप दसा निबही है।
अंध भयौ करनी जब ठानत बंध विथा तब फैल रही है॥६॥

जो पुण्यकर्मका पक्षपात करते हैं उनको प्रतिबोधन करने को कहते हैं—

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अजाणंता॥१५४॥

परमार्थबाह्या ये तेऽज्ञानेन पुण्यमिच्छति।

संसारगमनहेतुमपि मोक्षहेतुमजानंतः ॥१५४॥

अर्थ– जो जीव परमार्थसे वाह्य है, परमार्थ भूत ज्ञान स्वरूप आत्माका अनुभव नहीं करते हैं वे जीव अज्ञानतासे ससारके कारण पुण्यको अच्छा मानते हैं, हितकारक समझकर उसकी चाहना करते हैं। कौनसे जीव पुण्यको चाहते हैं ? जो मोक्षका कारण ज्ञान स्वरूप आत्माको नहीं जानते हैं वही जीव पुण्यको मोक्षका कारण जानते हैं।

भावार्थ—कितने ही जीव अतिसक्लेश परिणाम रूप कर्मको बंधका कारण जानकर छोडते हैं, और अतिविशुद्धतारूप परिणाम सहित वर्तते हैं, कर्मकी हीनाधिक दशाको बंध मोक्षका कारण जानते हैं, परतु सपूर्ण कर्मोसे रहित अपने स्वरूपको मोक्षका कारण नहीं जानते, ऐसे जीव अशुभ कर्मको छोडकर व्रत, नियम, शील, तप रूप शुभ कर्म हीको मोक्षका कारण मानकर इनको स्वीकार करते हैं ऐसे लोग व्रत आदि को पालते हुए भी अज्ञानी ही हैं। क्योंकि परमार्थको नहीं जानते हैं।

ऐसे जीवोंको परमार्थ रूप मोक्षका कारण बतलाते हैं—

जीवादिसद्दहण सम्मत्तं तासिमधिगयो णाणं।
रायादीपरिहरण चरण एसो दु मोक्खपहो ॥१५५॥

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं तेषामधिगमो ज्ञान।
रागादिपरिहरणं चरणमेषस्तु मोक्षपथ ॥१५५॥

अर्थ–जीवादि पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है और उन्हीं जीवादि पदार्थोंका ठीक २ ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है, तथा रागादिकका त्याग करना सम्यक्चारित्र है और यही मोक्ष प्राप्तिका उपाय है।

विशेषार्थ–आत्माका असाधारण लक्षण ज्ञान है, इस प्रकरण में ज्ञानकाही प्रधानतासे व्याख्यान है, इसलिये सम्यग्दर्शन ज्ञान-

चारित्ररूप ज्ञानकाही परिणमन है। ऐसा जानकर ज्ञानकोही मोक्षका कारण कहा है। ज्ञानही अभेद विवक्षासे आत्मा है ऐसा कहनेमें कोई विरोध नहीं है।

आगे परमार्थरूप मोक्षके कारणसे भिन्न जो कर्म है उसका प्रतिषेध करनेको सूत्र कहते हैं—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ॥१५६॥

मुक्त्वा निश्चयार्थं व्यवहारेण विद्वांसः प्रवर्तंते।
परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो विहितः॥१५६॥

अर्थ—निश्चय नयके विषयको छोडकर विद्वान लोग व्यवहार रूप प्रवृत्ति करते हैं परंतु जो यतीश्वर परमार्थभूत आत्मस्वरूपको आश्रित हैं, उनके कर्मका नाश होना कहा है। व्यवहार में रहनेवालेका कर्मक्षय नहीं होता है। भाव ये है कि मोक्ष आत्माका होता है, इसलिये मोक्षका कारण भी आत्माका स्वभाव ही होना चाहिये। अन्य द्रव्यके स्वभावसे आत्माका मोक्ष कैसे हो सकता है? यह निश्चयनयका मत है। शुभकर्म पुद्गल द्रव्य का स्वभाव है सो आत्माके मोक्षका कारण कैसे हो सकता है? ज्ञान आत्माका स्वभाव है वही आत्माके परमार्थभूत मोक्षका कारण हो सकता है। इसी अर्थके कलशरूप दो श्लोक कहते हैं—

अनुष्टुप् छंद—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत्॥७॥
वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत्॥८॥

अर्थ—आत्माका ज्ञानस्वरूप स्वभावसे वर्तना—ज्ञानरूप होना ही मोक्षका कारण है क्योंकि ज्ञानही एक आत्मद्रव्यका स्वभाव

है। जो कर्म स्वभाव रूप वर्तना है वह ज्ञानका होना नहीं है, इसलिये मोक्षका भी कारण नहीं है। क्योंकि कर्मको अन्यद्रव्यका स्वभावपना है।

भावार्थ—मोक्षतो आत्माका होताहै, इसलिये आत्माका स्वभावही मोक्षका कारणहो सकता है। क्योंकि ज्ञान आत्माका स्वभाव है इसीलिये मोक्षका कारण है। कर्म पुद्गलद्रव्यका स्वभाव है इसलिये वह आत्माके मोक्षका कारण नहीं होसकता है, यह निश्चय है।

अन्तर-दृष्टि-लखाव निज स्वरूपकौ आचरन।
ए परमातम भाव सिव कारन येई सदा ॥७॥
कर्म सुभासुभ दोइ पुदगल पिंड विभाव मल।
इनसौं मुकति न होइ न हि केवल पद पाइए ॥८॥
मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात्स्वयमेव च
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥९॥

अर्थ—कर्म मोक्षके कारणका आच्छादन करनेवाला है और आप खुद बंधरूप है। मोक्षके कारणका तिराध्यायीपना कर्मको है। इस तरह तीन हेतुओंसे कर्म का निषेध करते हैं।

कोउ शिष्य कहै स्वामी असुभक्रिया अशुद्ध सुभक्रिया शुद्ध तुम ऐसी क्यों न वरनी?
गुरू कहै जवलौं क्रिया के परिनाम रहैं तव लौं चपल उपयोग जोग धरनी॥
थिरता न आवै तोलौं सुद्ध अनुभौ न होइ यातें दोऊ क्रिया मोखपथ की कतरनी।
बंधकी करैया दोऊ दुहूमैं न भली काऊ वाधक विचार मैं निषिद्ध कीनी करनी॥९॥

आगे गाथामें कर्मको मोक्षके कारण सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र का आच्छदन करनेवाला वतलाते हैं—

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदी मलमेलणासत्तो।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं ॥१५७॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदी मलमेलणासत्तो।

अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं ॥१५८॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदी मलमेलणासत्तो ।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णायव्वं ॥१५९॥

वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।
मिथ्यात्वमलावच्छन्नं तथा सम्यक्त्वं खलु ज्ञातव्यम् ॥१५७॥
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।
अज्ञानमलावच्छन्नं तथा ज्ञानं भवति ज्ञातव्यम् ॥१५८॥
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।
कषायमलावच्छन्नं तथा चारित्रमपि ज्ञातव्यम् ॥१५९॥

अर्थ—जैसे वस्त्रका श्वेतभाव मलके लगनेसे नष्ट होजाता है उसका श्वेतपना ढक जाता है, उसी तरह मिथ्यात्व रूपी मलसे व्याप्त हुआ आत्माका सम्यक्त्वगुण आच्छादित होजाता है। जैसे वस्त्रका श्वेतभाव मलके संसर्गसे नष्ट होजाता है ढक जाता है, उसी तरह अज्ञान रूपी मलसे ढका हुआ आत्माका ज्ञान भाव भी आच्छादित होजाता है। जैसे वस्त्रका श्वेतभाव मलके संसर्गसे आच्छादित होजाता है अर्थात् वस्त्रका श्वेतत्व गुण नष्ट होजाता है, उसी तरह कषाय रूपी मलसे व्याप्त हुआ आत्माका चारित्रभाव आच्छादित होजाता है। ऐसा जानना चाहिये।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र रूप मोक्षमार्गके प्रतिबंधक मिथ्यात्व अज्ञान कषायरूप कर्म हैं, सो ये कर्म उस मोक्षके कारण भावको आच्छादन करते हैं इसीसे कर्मका निषेध किया है।

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणवच्छण्णो ।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ॥१६०॥

स सर्वज्ञानदर्शी कर्मरजसा निजेनावच्छन्नः ।
संसारसमापन्नो न विजानाति सर्वतः सर्वम् ॥१६०॥

अर्थ—आत्मा स्वभावसे सबका जानने और देखनेवाला है तोभी अपने कर्मरूपी रजसे आच्छादित होता हुवा संसारको प्राप्त है। इसलिये सब प्रकार सब वस्तुओंको नहीं जानता है। यहां ज्ञान शब्दसे आत्मा हीका ग्रहण किया गया है। सो यह ज्ञान-स्वभावसे तो सबका देखने जाननेवाला है, परन्तु अनादिकालसे आप अपराधी है इससे कर्म बंधते हैं। कर्मसे आच्छादित होनेसे अपने संपूर्ण रूपको न जानता हुआ आप अज्ञानी होरहा है। ऐसे जीवके साथ आपही कर्मबंध होता है, आपतो अपने आप अज्ञान रूप परिणमन करता है जिससे कर्म अपने आप बधते हैं, इससे कर्मका निषेध किया।

अब कर्मको मोक्षके कारण जो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र उनका तिरोधायिपना-इनको प्रगट नहीं होने देना दिखाते हैं-

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ॥१६१॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो॥१६२॥
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥

सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं मिथ्यात्वं जिनवरैः परिकथितम्।
तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः ॥१६१॥
ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धमज्ञानं जिनवरैः परिकथितम्।
तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी भवति ज्ञातव्यः ॥१६२॥
चारित्रप्रतिनिबद्धः कषायो जिनवरैः परिकथितः।
तस्योदयेन जीवोऽचारित्रो भवति ज्ञातव्यः ॥१६३॥

अर्थ—सम्यक्त्वका प्रतिबंधक-रोकने वाला मिथ्यात्व है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। उसके (मिथ्यात्व के) उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है, ऐसा जानना। ज्ञानका प्रति-बंधक-रोकने वाला अज्ञान है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है, उसके उदयसे जीव अज्ञानी होता है ऐसा जानना। चारित्रका प्रतिबंधक कषाय है ऐसा जिनवर देव ने कहा है, उसके उदय से जीव अचारित्री होता है ऐसा जानना चाहिये।

भावार्थ— ज्ञानके मोक्षका कारणपना सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रको हैं, उन तीनोंके प्रतिपक्षी कर्म मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय हैं। ये मिथ्यात्वादि तीनों सम्यग्दर्शनादि तीनोंको प्रगट नहीं होने देते हैं, इससे कर्मको मोक्षके कारणका तिरो-धायिपना है। अतएव कर्मका प्रतिषेध है। अशुभ कर्मको तो मोक्षका कारणपना है ही क्या? इसका आत्माके गुणोंका बाधकपना प्रसिद्ध ही है। शुभ कर्म भी बंधरूप ही है इसलिये यह भी कर्म-सामान्यमें प्रतिषेध रूप ही जानना चाहिये। इस अर्थका कलश-रूप काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितच्छदः—

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना।
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा॥
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भव-
न्नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति॥१०॥

अर्थ—मोक्ष चाहनेवाले पुरुषको संपूर्ण कर्मही त्यागने योग्य है। जब संपूर्ण कर्म छोडने लायक है तब पुण्य पापका क्या कहना है? कर्म सामान्यमें वे दोनोंभी आजाते हैं। इस प्रकार संपूर्ण कर्मोंके त्याग होनेपर ज्ञान, सम्यक्त्वादि अपने स्वभाव रूप होनेसे मोक्षका कारण होता हुआ कर्म रहित अवस्थासे प्रतिबद्ध

और उद्धत है रस जिसका ऐसा होता हुआ अपने आप दौडता हुआ आता है। कर्मके हटते ही ज्ञान अपने आप अपने मोक्ष का कारणरूप होता हुआ प्रगट होता है, फिर उसको प्रगट होने से कौन रोक सकता है?

मुकतिके साधककौं बाधक करम सब आतमा अनादिकौ करम माहिं लुक्यौ है।
एते पर कहै जो कि पाप बुरौ पुन्य भलौ सोई महामूढ मोख मारगसौं चुक्यो है॥
सम्यक सुभाउ लिये हियमैं प्रगट्यौ ग्यान ऊरध उमंगि चल्यौ काहू पै न रुक्यो है।
आरसीसौ उज्जल बनारसी कहत आपु कारन सरूप ह्वैके कारजकौं ढुक्योहै॥१०॥

प्रश्न—अविरत सम्यग्दृष्टि आदिकें जब तक कर्मका उदय रहता है तब तक ज्ञान मोक्षका कारण कैसे होसकता है? कर्म और ज्ञान दोनों साथ २ कैसे रहते हैं? इन प्रश्नोंके समाधान करनेको काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा।
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः॥
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्मबंधाय त-।
न्मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः॥११॥

अर्थ—जब तक कर्मका उदय है और ज्ञानकी अच्छी तरह विरति नहीं है तब तक कर्म और ज्ञानका एक साथ रहना कहा है, तभी तक इसमें कोई हानि नहीं है। यहां ऐसा विशेष है कि इस आत्मामें कर्मके उदयकी बराजोरीमें कर्मोंका उदय होता है सो तो बन्ध होनेके लिए ही है। मोक्ष होनेके लिए तो एक परम ज्ञान ही है। जो ज्ञान आपही कर्मसे रहित है, कर्मके करनेमें आपके स्वामीपना रूप कर्तापनका अभाव है।

भावार्थ—जब तक कर्मका उदय है तब तक कर्म तो अपना काम करता है और ज्ञान अपना काम करता है। एकही आत्मामें

ज्ञान और कर्म दोनोंके इकट्ठे रहनेमें कोई विरोध नहीं हो सकता है। मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञानमें जैसा विरोध है उस प्रकारका विरोध कर्म सामान्य और ज्ञानमें नहीं है।

जौलों अष्टकर्मको विनास नाही सरवथा तौलौं अंतरातमामैं धारा दोई बरनी।
एक ग्यानधारा एक सुभासुभ कर्मधारा दुहुकी प्रकृति न्यारी न्यारी न्यारी धरनी॥
इतनौ विसेस जु करमधारा बंधरूप पराधीन सकति विविध बंध करनी।
ग्यानधारा मोखरूप मोखकी करनहार, दोखकी हरनहार भौ-समुद्र तरनी॥११॥

अव कर्म और ज्ञानका नय विभाग बतलाते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द—

मग्नाः कर्मनयावलंबनपरा ज्ञानं न जानान्ति ये।
मग्नाः ज्ञाननयैषिणोऽपि सततं स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः॥
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं।
ये कुर्वंति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च॥१२॥

अर्थ—जो पुरुष कर्मनयके अवलम्बन करने वाले हैं, वे संसाररूपी समुद्रमें डूबते हैं। और जो पुरुष ज्ञानको जानते तो हैं नहीं, पर ज्ञानके पक्षपाती हैं वे भी डूबते हैं। जो क्रियाकांड को छोडकर स्वच्छन्द प्रमादी होकर अपने स्वरूपके विषयमें मन्द उद्यमी हो जाते हैं, वे भी डूबते हैं। लेकिन जो लोग आप निरन्तर ज्ञानरूप होते हुए कर्मको नहीं करते हैं और प्रमादके वश भी नहीं होते हैं अपने स्वरूपमें उत्साही हैं, वे सब लोकके ऊपर तिरते हैं।

भावार्थ—यहां सर्वथा एकांत अभिप्रायका निषेध किया है क्योंकि सर्वथा एकांतका अभिप्राय ही मिथ्यात्व है। जो लोग परमार्थ रूप ज्ञान स्वरूप आत्माको तो जानते नहीं और व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप क्रियाकांडके आडंबरको ही मोक्षका कारण जान कर उसमें ही तत्पर रहते हैं, उसीका पक्षपात करते

हैं सो यह तो कर्मनय है। जो कर्मनयके पक्षपाती होते हैं वे ज्ञानको तो जानते नहीं हैं केवल इस क्रियाकांडमें ही खेद खिन्न रहते हैं वे संसार समुद्रमें डूबते हैं। और जिन्होंने परमार्थभूत ज्ञान स्वरूपको तो यथार्थ जाना नहीं केवल सर्वथा एकांतपक्षके अवलंबन करने वाले मिथ्यादृष्टि हैं उनके उपदेशसे तथा स्वयमेवही अंतरंगमें ज्ञानका स्वरूप मिथ्या कल्पकर उसीका पक्षपात करते हैं और व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रके क्रिया-कांडको व्यर्थ समझकर छोड देते हैं ऐसे ज्ञाननयके पक्षपाती भी संसार समुद्रमें डूबते हैं। क्योंकि बाह्य क्रियाकांडको छोड-कर स्वेच्छाचारी होकर अपने स्वरूपके विषयमें मदोद्यमी हो जाते हैं। जो पक्षपातका अभिप्राय छोड कर सदा ज्ञानस्वरूप होते हुए कर्मकांडको छोड देते हैं और निरंतर ज्ञानस्वरूपमें जब तक न थवा जाय तब तक अशुभ कर्मको छोड कर स्वरूपका साधनरूप शुभकर्मकांडमें प्रवृत्ति करते हैं वे कर्मोंका नाशकर संसारसे हमेशाके लिये निवृत्तिको प्राप्त करते हैं। वे ही सब लोकके ऊपर रहते हैं ऐसा जानना चाहिये।

समुझैं न ग्यान कहैंकरम कियेसौं मोख ऐसे जीव विकल मिथ्यातकी गहलमैं।
ग्यान पच्छ गहैं कहैं आतमा अबध सदा बरतैं सुछ्द तेऊ बूडे हैं चहलमैं॥
जथा जोग करम करैं पै ममता न धरैं रहैं सावधान ग्यान ध्यान की ठहलमैं।
तेई भवसागरके ऊपर ह्वै तरैं जीव जिन्हिकौ निवास स्यादवादके महलमैं॥१२॥

अब इस पुण्य पापाधिकारको समाप्त करनेके पहले ज्ञानकी महिमाका वर्णन करनेको काव्य कहते हैं—

मंदाक्रान्ताछद—

भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं।
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन॥
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि-।

ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जृम्भे भरेण ॥१३॥

अर्थ—ज्ञान ज्योति अतिशय सहित उदयको प्राप्त हुई है अर्थात् सब जगह फैली हुई है। कैसी है ज्ञान ज्योति ? लीलामात्रमें व्यक्त हुई जो अपनी परमकला-केवलज्ञान उससे प्रारंभ की है क्रीडा जिसने, यहां ऐसा मतलब समझना चाहिये कि जब तक सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ है तब तक तो उसका ज्ञान परमकला जो केवलज्ञान उस सहित शुद्धनयके बलसे परोक्ष क्रीडा करता है, जब केवलज्ञान व्यक्त हो जाता है तब साक्षात क्रीडा करने लगता है। फिर कैसी है ? ग्रासीभूत-दूर किया है अज्ञान रूप अंधकार जिसने, सो ये ऐसा ज्ञान ज्योति पहले क्या करके प्रगट हुवा है ? पूर्वोक्त शुभ अशुभ रूप संपूर्ण कर्मोंको अपने वीर्यके द्वारा मूलसे उन्मूलन कर प्रगट हुआ है। कैसा है यह कर्म ? पी लिया है मोहको जिसने, इसीसे भ्रमके रसके भारसे शुभ अशुभका भेद रूप उन्मादको नचाता हुवा है।

भावार्थ—ज्ञान ज्योति है सो अपने प्रतिबंधक कर्मको भेदकर नृत्य करता था। उसको अपनी शक्तिसे बिगाड कर आप अपने सपूर्ण रूप सहित प्रकाशमान हुवा। यहां आशय ऐसा जानना कि कर्म सामान्य रूपसे एक है तो भी उसने शुभ अशुभ दो भेद रूप स्वांग कर रगभूमिमें प्रवेश किया था उसको ज्ञान ने यथार्थ रूपसे जान लिया तब कर्म रगभूमिसे निकल गया और ज्ञान अपनी शक्तिसे प्रकाशमान हो गया। ऐसा जानना चाहिये।

जैसे मतवारौ कोऊ कहै और करै और तैसैं ढ प्रानी विपरीतता धरतु है।
अशुभ करम बंध कारण बखानै मानै मुकतिके हेतु सुभ रीति आचरतु है॥
अंतर सुदृष्टि भई मूढता बिसर गई ग्यानकौ उदौत भ्रम तिमिर हरतु हैं।
करनी सौं भिन्न रहै आतम स्वरूप गहै अनुभौ आरंभि रस कौतुक करतु है १३

आश्रय कारण रूप सवाद सु भेद विचार गिने दोऊ न्यारे।
पुण्य रु पाप शुभाशुभ भावनिबन्ध भये सुखदुःख करारे॥
ज्ञान भये दोउ एक लखे बुध आश्रय आदि समान विचारे।
बंधके कारण हैं दोऊ रूप इन्हें तज श्रीजिन मोक्ष पधारे॥

इस प्रकार निजानंदमार्तंड पुण्यपाप वर्णन रूप तीसरा अधिकार पूर्ण हुवा।

यहां तक कलशा ११२ और गाथा १६३ हुए।

अब आस्रवाधिकार प्रारंभ करते हैं—

दोहा—द्रव्यास्रवतें भिन्न है भावास्रव कर नाश।
भये सिद्ध परमातमा नमहुं तिनहि सुख आश॥१॥

आस्रवके स्वांगके यथार्थ जानने वाले ज्ञानकी महिमा कहते हैं-

द्रुतविलंवितछद—

अथ महामदनिर्भरमन्थरं समररंगपरागतमास्रवम्।
अयमुदारगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः॥१॥

अर्थ—जो मर्यादा रहित फैल रहा है, तथा जिसकी थांह छद्मस्थ लोग नहीं पा सकते ऐसा जिसका महान् उदय है और जो किसीसे भी नहीं जीता जा सकता है, ऐसा ज्ञान रूपी सुभट

महान् मदसे मत्त तथा संग्राम भूमिमें आया हुआ ऐसे आस्रव रूपी सुभट को जीतता है।

भावार्थ—ज्ञान रूपी धनुपको धारण करने वाला आत्मारूपी सुभट–सम्पूर्ण जगतको जीत कर मदोन्मत्त तथा संग्राम भूमिमें खडा हुआ ऐसे आस्रवको जीतता है। इससे ज्ञान रूपी सुभट आस्रव रूपी सुभटसे भी ज्यादा बलवान निकला जिसने तत्काल आस्रवको नाश कर केवलज्ञान होने दिया ऐसा ज्ञानका सामर्थ्य बतलाया है।

जेते जगवासी जीव थावर जंगम रूप तेते निज बस करि राखे बल तोरिकैं।
महा अभिमानी ऐसो आस्रव अगाध जोधा रोपि रन थभ ठाडौ भयो मूछ मोरि कैं
आयौ तिहि थानक अचानक परम धाम ग्यान नाम सुभट सवायो बल फोरिकें।
आस्रव पछारयो रनथभ तोरिडारयो ताहि निरखि बनारसी नमत करजोरिकैं॥१

अब आस्रवका स्वरूप गाथा द्वारा कहते हैं—

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥१६४॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिं वि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१६५॥

मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च संज्ञासंज्ञास्तु।
बहुविधभेदा जीवे तस्यैवानन्यपरिणामाः ॥१६४॥
ज्ञानावरणाद्यस्य ते तु कर्मणः कारण भवन्ति।
तेषामपि भवति जीवश्च रागद्वेषादिभावकरः ॥१६५युगलम्॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अबिरमण, कषाय और योग ये चार आस्रवके भेद हैं। वे संज्ञा याने चेतनाके विकार और असंज्ञा माने पुद्गलके विकार, ऐसे भेदोंसे भिन्न २ दो २ प्रकारके होते हैं। इनमें से जो चेतनाके विकार हैं, वे जीवमें बहुत भेद व

रूप हैं, और वे जीव ही के परिणाम हैं, जीवसे भिन्न नहीं हैं, अभेद रूप हैं। और जो मिथ्यात्वादि पुद्गलके विकार हैं, वे ज्ञानावरणादि कर्मबंधके कारण हैं। उन मिथ्यात्व आदि भावोंका करने वाला जीवही कारण रूप होता है।

भावार्थ—ज्ञानावरणादि कर्मोंके आनेके कारण मिथ्यात्वादि कर्मके उदय रूप पुद्गलके परिणाम हैं। और उनके कर्म रूप होनेके निमित्त जीवके राग द्वेष मोह रूप परिणाम हैं, उनको चिद्विकार कहते हैं। ऐसे भाव जीवकी अज्ञान अवस्थामें होते हैं। सम्यग्दृष्टिकें अज्ञानावस्था नहीं होती है, क्योंकि मिथ्यात्व सहित ज्ञानको ही अज्ञान कहते हैं। सम्यग्दृष्टि तो सम्यक्त्वके होनेसे सम्यग्ज्ञानी कहलाता है, उसके अज्ञान नहीं होता है। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टिकें चारित्रमोहके उदयसे रागादिक होते हैं, तो भी उनका वह स्वामी नहीं बनता, रागादि रूप परिणति तो उदयकी वरजोरी है, वह तो रागादिको रोगवत जान कर उनके नाश करनेमें ही प्रयत्नशील रहता है। इससे मिथ्यात्व सहित रागादि ही अज्ञानमय राग द्वेष मोह हैं, और ऐसे राग द्वेष मोह सम्यग्दृष्टिके नहीं होते हैं।

अब ज्ञानीकें कर्मोंका आस्रव नहीं होता है यह बतलाने को गाथा कहते हैं—

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे जाणादि सो ते अबंधंतो ॥१६६॥

नास्ति त्वास्रवबंधः सम्यग्दृष्टेरास्रवनिरोधः।
संति पूर्वनिबद्धानि जानाति स तान्यबध्नन् ॥१६६॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिकें आस्रवबन्ध नहीं होता है, बल्कि आस्रवका निरोध होता है। जो पहिले बांधे थे, वे सत्तारूपमें रहते हैं, आगे नहीं बांधता हुवा केवल उनका ज्ञाता ही रहता है।

क्योंकि ज्ञानी हो जानेके बाद अज्ञान रूप राग द्वेष मोह भावोंका निरोध हो जाता है, आस्रवके निरोध हो जानेसे फिर नवीन कर्मोंका बन्ध नहीं होता है। जो पहिले बांधे थे वे सत्तामें रहते हैं, उनका ये ज्ञाता ही रहता है कर्ता नहीं होता; क्योंकि ज्ञानी का स्वभाव तो ज्ञान रूप ही होता है।

आगे बतलाते हैं कि रागद्वेषमोहसे ही आस्रव होनेका नियम है-

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो ॥
रायादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि ॥१६७॥

भावो रागादियुक्तो जीवेन कृतस्तु बन्धको भणितः।
रागादिविप्रमुक्तो अबधको ज्ञायकः केवलम् ॥१६७॥

अर्थ—जीवके द्वारा जो रागादि भाव किया जाता है वह नवीन कर्मोंके आस्रव बंधका कारण होता है जो भाव रागादि भावोंसे रहित है वह बंधका करने वाला नहीं है, ज्ञानी तो उसका जानने वाला ही है।

भावार्थ—रागादिके मिलापसे हुवा अज्ञानमय भाव ही बन्धका कारण है परन्तु रागादिसे नहीं मिला हुवा जो ज्ञानमय भाव हैं वह बन्धका करने वाला नहीं है, ऐसा नियम है।

अब रागादिके मिलापसे रहित ज्ञानमय भावका सम्भवपना दिखानेको गाथा कहते हैं—

पक्के फलह्मि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे ।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेइ ॥१६८॥

पक्के फले पतिते यथा न फलं बध्यते पुनर्वृन्तैः।
जीवस्य कर्मभावे पतिते न पुनरुदयमुपैति ॥१६७॥

अर्थ—जिस प्रकार पका हुवा फल अपने डण्ठलसे छूटकर वृक्ष अथवा बेलसे गिर पडता है और फिर उस डंठलमे नहीं बं-

धता है, उसी तरह जो कर्म जीवमें सत्तारूप था वह पचकर जब झड जाता हैं अर्थात् जिसकी निर्जरा हो जाती है फिर उदय रूपमें नहीं आता है।

भावार्थ–कर्मकी निर्जरा हो चुकने वाद वह कर्म फिर उदयमें नहीं आता है, फिर तो ज्ञानमय ही भाव रहता है। इस प्रकार जब जीवका मिथ्यात्व कर्म अनन्तानुबंधी सहित सत्तामेंसे क्षय हो जाता है, तब फिर उसका उदय नहीं होता है। फिर तो ज्ञानी होजानेसे कर्मका कर्ता नहीं रहता है। मिथ्यात्वके साथ २ जो प्रकृतियां वंधती थी उनका तो वंध होता नहीं है, शेष प्रकृतियां सामान्य संसारकी कारण होती नहीं है। जैसे मूलसे कटे हुए वृक्षके हरे पत्ते फिर हरे नहीं होते किन्तु शीघ्र सूख जाते हैं। उसी तरह ज्ञानीका रागादि रहित ज्ञानभाव वंधका कारण नहीं होता है। चारित्रमोहके उदयका राग भाव अज्ञानमय नहीं माना जाता है क्योंकि सम्यग्दृष्टिके उस रागभावका स्वामिपना नहीं रहता है। इस अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

शालिनी छन्द—

भावो रागद्वेपमोहैर्विना यो जीवस्य स्याज्ज्ञाननिर्वृत्त एव।
रुन्धन्सर्वान्द्रव्यकर्मास्रवौघानेषो भावः सर्वभावास्रवाणाम् ॥२॥

अर्थ—जीवका जो भाव रागद्वेपमोहके विना होता है वह भाव ज्ञानके द्वारा रचा हुवा ज्ञानमय ही होता है। सो यह भाव सब द्रव्यास्रवोंका रोकने वाला होता है, उससे सब भावास्रवोंका अभाव हो जाता है। यहां जो सब भावास्रवोंका अभाव कहा सो ऐसा भाव वतलाने के लिये कि संसारका कारण एक मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व संबंधी रागादिके अभाव होनेसे सभी भावास्रवोंका ही अभाव हो जाता है ऐसा जानना चाहिये।

दर्वित आस्रव सो कहिये जहं पुग्गल जीवप्रदेस गरासै ।
भावित आस्रव सो कहिये जंह राग विरोध विमोह विकासै ॥
सम्यक पद्धति सो कहिए जँह दर्वित भावित आस्रव नासै ।
ग्यान कला प्रगटै तिहि थानक अन्तर बाहिर और न भासै ॥२॥

अब ज्ञानीकें द्रव्यास्रवका भी अभाव बतलानेको गाथा कहते हैं ।

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स ।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वे वि णाणिस्स ॥१६९॥

पृथिवीपिंडसमानाः पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययास्तस्य ।
कर्मशरीरेण तु ते बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः ॥१६९॥

अर्थ—ज्ञानी जीवके पहिले अज्ञान अवस्थामें जो कर्म बंधे थे वे प्रत्ययसंज्ञा कहे जाते हैं। वे कार्माण शरीर सहित बंधे थे। जब तक जीवके भाव रागादि रूप नहीं होजाते तबतक बंधे हुए कर्म पृथिवीके पिंड समानही हैं। जैसे मिट्टी आदि होती है उसी तरह वे कर्म भी हैं।

सारांश—आत्मा जबसे ज्ञानी हुवा तभीसे भावास्रवका तो अभाव होही गया। रहा द्रव्यास्रव सो मिथ्यात्वादि पुद्गल द्रव्यके परिणाम जो कार्माण शरीरसे स्वयंमेव बंध रहे हैं वे मृतिकाके पिंड समानही हैं। भावास्रवके विना आगामी द्रव्य-बंधके कारण तो हैं नहीं, पुद्गलमय हैं, इसलिये अमूर्तीक चैतन्य रूप जीवसे अपने आप भिन्न हैं ऐसा ज्ञानी जानता है। इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—

उपजातिच्छंद ।

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः ।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥३

अर्थ—यह ज्ञानी भावास्रवके अभावको प्राप्त हो चुका

और द्रव्यास्रवोंसे स्वयमेव भिन्न है ही, क्योंकि ज्ञानी तो सदा ज्ञानमय ही है, इससे निरास्रव ही है। वह तो एकमात्र ज्ञायक ही है। मतलब ये है कि भावास्रव रूप जो राग द्वेष मोह हैं उनका तो अभाव हो ही चुका, और द्रव्यास्रव पुद्गलके परिणाम स्वरूप हैं सो उनसे तो स्वयमेव ही भिन्न है। इससे ज्ञानी आस्रव रहित ही है।

जो दरवास्रव रूप न होई जह भावास्रव भाव न कोई॥
जाकी दसा ग्यानमय लहिए सो ग्यारह निरास्रव कहिए॥२॥

प्रश्न—ज्ञानी जीव निरास्रव कैसे है? इस प्रश्नके उत्तर की गाथा कहते हैं—

चउविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं।
समए समए जह्मा तेण अबंधोत्ति णाणी दु॥१७०॥

चतुर्विधा अनेकभेदं बध्नन्ति ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां।
समये समये तस्मात्तेनाबन्धः इति ज्ञानी तु॥१७०॥

अर्थ—पाहिले चार प्रकारका आस्रव कहा था—मिथ्यात्व अविरत, कषाय, योग सो ये दर्शन ज्ञान गुणोंसे समय समय अनेक भेद लिये कर्मोंको बांधते हैं इसलिये ज्ञानी तो अबंध रूप ही है। भाव ये है कि ज्ञानी तो आस्रव भावकी भावनाके अभिप्रायके अभावसे निरास्रव ही है, पर ज्ञानी भी जो द्रव्यास्रव रूप समय समय प्रति अनेक प्रकारके पुद्गल कर्मोंको बांधता है उनमें ज्ञान गुणका परिणमन कारण है।

प्रश्न—ज्ञानगुण युक्त परिणाम बंध का कारण कैसे हो सकता है? उत्तररूप गाथा—

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो॥१७१॥

यस्मात्तु जघन्यात् ज्ञानगुणात्पुनरपि परिणमते ।
अन्यत्त्वं ज्ञानगुणस्तेन तु स बन्धको भणितः ॥७१॥

अर्थ—क्योंकि ज्ञानगुण जघन्य ज्ञानगुण से फिर भी अन्यत्व रूप परिणमता है इसीसे ज्ञानगुण कर्मके बंध का करने वाला कहा गया है।

भावार्थ—क्षयोपशमज्ञानका एक ज्ञेय पर थमना अंतर्मुहूर्त ही है, पीछे अन्यज्ञेयका अवश्य अवलंबन करता है। इसलिये स्वरूपमें भी अंतर्मुहूर्त ही थंमना होता है। अतएव ऐसा अनुमान है कि यथाख्यातचारित्र रूप अवस्थाके नीचे रागपरिणामका सद्भाव होनेसे बध होता है। अतएव ज्ञानगुणका जघन्यभाव बंध का कारण कहा गया है।

प्रश्न—ज्ञान गुणका जघन्यभाव अन्यपना रूप परिणाम बंध का कारण है तो ज्ञानी निरास्त्रव कैसे है? इसका उत्तररूप गाथा—

दंसणणाणचरित्तं जं परिणदे जहण्णभावेण ।
णाणी तेण दु बज्झदि पोग्गलकम्मेण विविहेण ॥१७२

दर्शनज्ञानचारित्र यत्परिणमते जघन्यभावेन
ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन ।

अर्थ—दर्शनज्ञानचारित्र ये जघन्य भावसे परिणमते हैं इससे ज्ञानी अनेक प्रकारके पुद्गल कर्मोंसे बंधता है। ज्ञानीका निरास्त्रव भाव यों कहा है कि जब तक इसके क्षयोपशम भाव है तब तक तो बुद्धिपूर्वक अज्ञानमय राग द्वेप मोहका अभाव है इसीसे निरास्त्रव कहा है और जब तक क्षयोपशम ज्ञान है, जब तक दर्शन, ज्ञान, चारित्र जघन्य भावसे परिणमते हैं तभी तक सम्पूर्ण ज्ञानको देखा जाना और आचरणमें नहीं आ सकता। सो इस जघन्य भाव ही से ऐसा जाना जाता है कि इसके अबुद्धि-पूर्वक कर्म कलंक विद्यमान है जिससे बंध भी होता है और वह

चारित्र मोह कर्मके उदयसे होता है भाव अज्ञानमय नहीं है। इसलिए ऐसा उपदेश है कि जब तक ज्ञान पूर्ण नहीं हो जाता अर्थात् केवल ज्ञान नहीं हो जाता तब तक निरन्तर ज्ञान ही का ध्यान करना, ज्ञान ही को देखना, ज्ञान ही को जानना और ज्ञानका ही आचरण करना चाहिये, इसीसे चारित्रमोहका नाश होता है और केवलज्ञान व्यक्त होता है, तभी सब प्रकारके आस्रवका अभाव होता है। यह विवक्षाका वैचित्र्य है। बुद्धि पूर्वक रागादिके अभावकी अपेक्षा अबुद्धि पूर्वक रागादिकके रहते भी निरास्रव कहा और अबुद्धिपूर्वकका अभाव होने पर केवलज्ञान ही उत्पन्न होता हैं तब तो साक्षात् निरास्रव हो जाता है। ऐसा जानना चाहिए। इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीढितछन्द—

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयम्।
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्॥
उच्छिन्दन्परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-
न्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा॥४॥

अर्थ—यह आत्मा जब ज्ञानी होता है तब अपने बुद्धिपूर्वक सम्पूर्ण राग भावको दूर करता हुवा अपनी प्रवृत्ति करता है, और अबुद्धिपूर्वक रागकोभी जीतनेके लिये बार बार अपनी ज्ञानानुभवन रूप शक्तिको स्पर्श करता हुवा प्रवृत्ति करता है। एवं ज्ञान की पलटनीको भी दूर करता हुवा, ज्ञानको अपने दो स्वरूपमें थांभता हुवा, पूर्ण होता हुवा अपनी प्रवृत्ति करता है। जब ऐसा ज्ञानी हो जाता है तब हमेशाको आस्रव रहित हो जाता है।

तात्पर्य ये है कि ज्ञानी जब सम्पूर्ण रागको हेय जानता है तब इसके दूर करनेके लिए उद्यमी होता है। जब ऐसा उद्योग करता है तब निरास्रवही रहता है क्योंकि आस्रवके भावोंकी भावनाके

अभिप्रायका इसके अभाव है। यहां बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक की दो सूचनाएं हैं—एक तो ऐसी कि आप तो न करना चाहे परन्तु परनिमित्तसे जबरन हो जाय उसको आप जानता है इस लिये उसको अबुद्धिपूर्वक ही कहा जाता है। दूसरी ऐसी कि अपने ज्ञान गोचर ही नहीं होता है उसको केवल प्रत्यक्ष ज्ञानी ही जान सकते हैं वह भी उसके अविनाभावी चिन्होंसे अनुमानसे जाना जाता है, वह अबुद्धिपूर्वक ही है। ऐसा जानना चाहिए।

जेते मनगोचर प्रगट बुद्धि पूरवक तिन परिनामनिकी ममता हरतु है।
मनसौं अगोचर अबुद्धि पूरवक भाव तिनके विनासिवेकौं उद्दिम धरतु है॥
या ही भांति पर परनति कौ पतन करै मोखकौं जतन करै भौजल तरतु है।
ऐसे ग्यानवन्त ते निरास्रव कहावै सदा जिन्हि कौ सुजस सुविच्छन करतु है॥४

प्रश्न—सम्पूर्ण सन्ततिके जिन्दा रहते ज्ञानी निरास्रव कैसे कहा गया है? ऐसे प्रश्नका श्लोक—

अनुष्टुप् छन्द—

सर्वस्यामेव जीवत्यां द्रव्यप्रत्ययसंततौ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः॥५॥

अर्थ—ज्ञानीके सम्पुर्ण द्रव्यास्रवकी संततिके जिन्दा रहते हुए ज्ञानी नित्य निरास्रव है ऐसा कैसे कहा? शिष्यकी जो ऐसी आशंका रूप बुद्धि है उसके उत्तरकी गाथा कहते हैं—

ज्यौं जामैं विचरै मतिमंद सुछन्द सदा वरतै बुध तैसो।
चंचलचित्त असंजित वैन सरीर सनेह जथावत जैसो।
भोग सजोग परिग्रह संग्रह मोह विलास करै जंह एसो।
पूछत सिष्य आचारज सौं यह सम्यकवन्त निरास्रव कैसो॥ ५॥

सव्वे पुव्वणिवद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स।
उवओगप्पाओगं बधंते कंमभावेण॥१७३॥

होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधादि जह हवंति उवभोज्जा
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥१७४॥
संता दु निरुवभोज्जा वाला इत्थी जहेह पुरिसस्स ।
बंधदि ते उवभोज्जें तरुणी इत्थी जह णरस्स॥१७५॥
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो भणिदो ।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥१७६॥

सर्वे पूर्वनिवद्धास्तु प्रत्ययाः सन्ति सम्यग्दृष्टेः ।
उपयोगप्रायोग्यं वध्नंति कर्मभावेन ॥१७३॥
भूत्वा निरुपभोग्यानि तथा वध्नाति यथा भवंत्युपभोग्यानि ।
सप्ताष्टविधानि भूतानि ज्ञानावरणादिभावैः ॥ १७४ ॥
संति तु निरुपभोग्यानि वाला स्त्री यथेह पुरुषस्य ।
वध्नाति तान्युपभोग्यानि तरुणी स्त्री यथा नरस्य ॥१७५॥
एतेन कारणेन तु सम्यग्दृष्टिरबंधको भणितः ।
आस्रवभावाभावे न प्रत्यया बंधका भणिताः ॥ १७६ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिके पहिले अज्ञान अवस्थामें वांधे हुए मिथ्यात्वादि आस्रव सत्तारूपसे विद्यमान हैं । वे उपयोगके प्रयोग करने योग्य तथा उसीके अनुसार भाव कर्मसे आगामी बंध करने योग्य जैसे हो उस तरहसे उसके अनुसार कर्म रूपसे आगामी बंधको प्राप्त होते हैं । पूर्वमें बांधे हुए आस्रव उदयमें आये विना निरुपभोग्य—भोगने योग्य नहीं रहते हैं । वे आगे उस तरहसे बंधते हैं, जिससे सात आठ प्रकार ज्ञानावरणादि भावसे फिर भोगने योग्य हो जाते हैं । वे पूर्वमें बांधे हुए कर्म सत्तामें इस तरहसे हैं जैसे पुरुषके द्वारा वाला स्त्री भोगने योग्य नहीं होती है । वही कर्म जब भोगने योग्य हो जाते हैं तव पुरुषको बांध

लेते हैं। जैसे वही वाला स्त्री तरुण होने पर पुरुषको बांध लेती है। बांधनेका मतलव पुरुषको वशमें कर लेती है। इस कारण सम्यग्दृष्टिको अबन्धक कहा है, क्योंकि आस्रव भाव जो राग, द्वेष मोह हैं उनके अभाव होते हीं मिथ्यात्वादि प्रत्यय सत्तामें रहते हुए भी आगामी कर्म बन्ध करने वाले नहीं होते हैं।

भावार्थ—सत्तामें मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रव विद्यमान हैं तो भी वे आगामी बंधके करने वाले नहीं हैं। क्योंकि बंधके करने वाले तो जीवके राग द्वेष मोह रूप भाव हैं। सो मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रव के उदयके और जीवके भावोंके कार्यकारण भाव निमित्त नैमित्तिक रूप हैं। जब मिथ्यात्वादिका उदय आता है तब जीवका राग द्वेष मोह रूप जैसा भाव होता है उस भावके अनुसार आगामी बंध होता है। जब सम्यग्दृष्टि हो जाता है तब मिथ्यात्व सत्तामें से नाश हो जाता है, उसी समय उसके साथ २ रहने वाले अनन्तानुन्धी कषाय एवं उस संबंधी अविरमण और योग भाव भी नष्ट हो जाते हैं। तब उनके निमित्तसे होने वाले जीवके राग द्वेष मोह भाव भी नहीं रहते हैं, इससे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी वन्ध भी नहीं होता है, यदि मिथ्यात्वका उपशम हो जावे तो वह सत्तामें रहेगा, सत्ताका द्रव्य उदयमें आये बिना बन्धका कारण ही नहीं हो सकता है।

जो अविरत सम्यग्दृष्टि आदिक गुणस्थानोंको परिपाटीमें चारित्र मोहका उदय सम्बन्धो बन्ध कहा है, सो यहां संसार सामान्यकी अपेक्षा तो वन्धमें गिना नहीं है। क्योंकि ज्ञानी अज्ञानीमें विशेषता होती है। जब तक कर्मके उदयमें कर्मका स्वामीपना रहता है तभी तक कर्मका कर्ता कहा जाता है। परके निमित्तसे परिणमेका तो ज्ञाता दृष्टा होता है तब तो ज्ञानी ही है, जो ज्ञाता होता वह कर्ता नहीं होता है। इस अपेक्षासे सम्यग्दृष्टि होनेके बाद

चारित्रमोहके उदय रूप परिणाम होते हुए भी ज्ञानी ही कहा है। यही ज्ञानी अज्ञानी कहनेका विशेष है। शुद्ध स्वरूपमें लीन रहने के अभ्याससे साक्षात् सम्पूर्ण ज्ञानी केवल ज्ञान प्रगट होने पर होता है। उस समय सर्वथा निरास्रव हो जाता है। ऐसा पहले ही कह आये हैं। इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

मालिनी छन्द—

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः।
समयमनुसरतो यद्यपि द्रव्यरूपाः ॥
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा—
दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्म बंधः ॥६॥

अर्थ—यद्यपि पहिले अज्ञान दशामें जो बन्ध रूप हुए थे ऐसे द्रव्यकर्म सत्तामें विद्यमान हैं क्योंकि उनका उदय अपनी स्थितिके अनुसार है इसलिए जब तक उदय होने का समय नही होता है तब तक सत्तामें ही द्रव्यास्रव रहते हैं, वे अपनी सत्ताको नहीं छोडते हैं, तो भी ज्ञानीके समस्त राग द्वेष मोहके अभाव हो जाने से नवीन कर्मोंके बन्धका अवतार नहीं होता है।

पूरब अवस्था में जे करम बंध कीने, अब तेई उदै आइ नाना भांति रस देत हैं
केइ सुभ साता केइ असुभ असाता रूप दुहूं सौं न राग नैं विरोध समचेत हैं ॥
जथा जोग-क्रिया करैं फलकी न इच्छा धरैं जीवन मुकतिकौ विरद गहि लेत हैं।
यातैं ज्ञानवतकौं न आस्रव कहत कोऊ मुद्धतासौ न्यारे भए सुद्धता समेत हैं॥६॥

और भी कहा है कि—

अनुष्टप् छन्द—

रागद्वेषविमोहनां ज्ञानिनो यदसंभवः।
तत एव न बंधोऽस्य ते हि बंधस्य कारण ॥७॥

अर्थ—क्योंकि ज्ञानीके राग द्वेष मोहका होना असम्भव है इसी कारण ज्ञानीके बंध नहीं हो सकता है। क्योंकि राग द्वेष मोह ही तो बन्धके कारण हैं।

जो हितभाव सु राग है अनहित भाव विरोध ।
भ्रामक भाव विमोह है निरमल भाव सु बोध ॥
राग विरोध विमोहमल एई आस्रव मूल ।
एई करम बढाईकैं करैं धरमकी भूल ॥ ७ ॥
जहां न रागादिक दसा सो सम्यक परिनाम ।
यातें सम्यकवन्तकों कह्यौ निरास्रव नाम ॥

आगे राग द्वेष मोह जन्य आस्रव सम्यग्दृष्टिकें नहीं होता है ऐसा कहते है—

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।
तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति॥१७७॥
हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं ।
तेसिं पि य रागादि तेसिमभावे ण बज्झंति ॥१७८॥

रागो द्वेषो मोहश्चास्रवा न संति सम्यग्दृष्टेः ।
तस्मादास्रवभावेन विना हेतवो न प्रत्यया भवन्ति ॥१७७॥
हेतुश्चतुर्विकल्पोऽष्टविकल्पस्य कारणं भणितम् ।
तेषामपि च रागादयस्तेषामभावे न बध्यन्ते ॥१७८॥

अर्थ—राग द्वेष मोह जन्य आस्रव सम्यग्दृष्टिकें नहीं होता है । क्योंकि आस्रवभाव विना द्रव्यप्रत्यय कर्मबंधके कारण नहीं होते हैं । मिथ्यात्वादि चार प्रकारके हेतु आठ प्रकारके कर्मों के बंध होनेके कारण हैं । और उन चार प्रकारके हेतु के लिये जीवके रागादि भाव कारण हैं । सम्यग्दृष्टिकें तो उन रागादि भावोंका अभाव है, इसलिये सम्यग्दृष्टिकें बंध नहीं होता है । भाव ये है कि राग द्वेष मोहके अभाव विना सम्यग्दृष्टि नहीं होता है, ऐसा अविनाभाव नियम है । यहां रागादिका अभाव मिथ्यात्व संबंधी जानना । सम्यग्दृष्टि होने बाद चारित्रमोह

सबंधी राग द्वेष भाव यहां नहीं लिया जाता है, वह यहां गौण है। इसलिये उन भावास्रवोंके विना द्रव्यास्रव बंधके कारण नहीं हो सकते। कारणके कारण नहीं होनेसे कार्यका अभाव है इसलिये ज्ञानी सम्यग्दृष्टिके बंध नही होता यह निश्चित हुवा। इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

वसंततिलकाछद—

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतवोधचिन्ह—
मैकाग्र्यमेव कलयंति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवतः,
पश्यन्ति वधविधुरं समयस्य सार ॥८॥

अर्थ—जो पुरुष शुद्धनयको अंगीकार कर निरंतर एकान्तपनेका अभ्यास करते हैं, वे पुरुष रागादि रहित चित्तवाले होते हुए वंध रहित अपने शुद्ध आत्म स्वरूपका अवलोकन करते हैं। कैसा है शुद्धनय? जिसका चिन्ह उज्वल ज्ञान है, ऐसा ज्ञान जो किसीसे छिपाया नहीं छिपता है।

जे केई निकट भव्वरासी जगवासी जीव मिथ्यामत भेदि ग्यान भाव परिनए हैं
जिन्हिकी सुदृष्टिमैं न राग द्वेष मोहकहू विमल विलोकनिमैं तीनौं जीति लए हैं॥
तजि परमाद घट सोधि जे निरोधि जोग सुद्ध उपयोगकी दसामैं मिलि गये हैं।
तेई बधपद्धति विदारि परसग डारि आपमैं मगन ह्वै कैं आप रूप भये हैं॥८॥

पुनः कलशा—

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु रागादियोगमुपयांति विमुक्तबोधाः
ते कर्मबंधमिह विभ्रति पूर्ववद्धद्रव्यास्रवैः कृतविचित्राविकल्पजालम्॥९

अर्थ–जो पुरुष शुद्धनयस छूट कर फिरसे रागादिसे संबंध करते हैं वे ज्ञानको छोडकर ऐसे कर्मबंधको करते हैं। जिस कर्मबधने पूर्वबंधे हुए द्रव्यास्रवोंसे अनेक प्रकार विकल्पोंका जाल कर रक्खा है।

जेते जीव पडित खयोपसमी उपसमी तिन्हकीअवस्था ज्यों लुहारकी संडासी है।

खिन आगमाहि खिनपानी मांहि तैसैं एक खिनमैं मिथ्यात खिन ग्यानकला भासीहै
जौलौं ग्यान रहैतौलौं सिथिल चरनमोह जैसे कीले नागकी सकतिगति नासी है।
आवत मिथ्यात तबनानारूप बध करै ज्यौं उकीले नागकी सकति परगासी है९॥

आगे इसी अर्थका समर्थन करनेकेलिये दृष्टान्तपूर्वक गाथा कहते हैं—

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं।
मांसवसारुहिरादीभावे उदरग्गिसंजुत्तो॥१७९॥
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा दु ते जीवा॥१८०॥

यथा पुरुषणाहारो गृहीतः परिणमति सोऽनेकविधम्।
मांसवसारुधरादीन्भावानुदराग्निसंयुक्तः॥१७९॥
तथा ज्ञानिनस्तु पूर्वं ये बद्धाः प्रत्यया बहुविकल्पम्।
बध्नन्ति कर्म ते नयपरिहीनास्तु ते जीवाः॥१८०॥

अर्थ—जैसे किसी पुरुषने आहार ग्रहण किया वह आहार उदराग्निसहित होकर अनेक प्रकार मांस, वसा, रुधिरादिरूप परिणम जाता है। उसी तरह ज्ञानीके पूर्वमें बांधे जो द्रव्यास्रव वे बहुत कर्मों को बांधते हैं। जिनके ये कर्म बंधते हैं वे जीव कैसे हैं? नयोंसे हीन हैं। शुद्ध नयसे छूट गये हैं, रागादि अवस्थाको प्राप्त हुए हैं। मतलब ऐसा है कि ज्ञानी शुद्ध नयसे जब छूट जाता है, तभी उसके रागादि भावोंका सद्भाव हो जाता है, और रागादिके सद्भाव हो जाने से कर्मोंका बध करता है, क्योंकि रागादि भाव द्रव्यास्रवके निमित्त कारण हैं। ऐसी हालतमें वे आस्रव कर्मबंधके कारण हो जाते हैं। इस अर्थका तात्पर्य रूप श्लोक कहते हैं—

अनुष्टप् छन्द—

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बंधस्तदत्यागात्तत्यागाद्बन्ध एव हि॥१०॥

अर्थ—यहां यही तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है क्योंकि शुद्ध नयके न त्यागने से कर्मका बंध नहीं होता है, यदि उसका त्याग कर दिया जायगा तो कर्म बंध जरूर होगा।

यह निचोर या ग्रंथकौ यहै परम रस पोख।
तजैं सुद्धनय बंध है गहैं सुद्धनय मोख॥१०॥

फिर उस नयके ग्रहणको दृढ करते हुए काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द —

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन् धृतिं।
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम्।
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः।
पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यंति शांतं महः॥११॥

अर्थ—चलाचलपनसे रहित, सम्पूर्ण पदार्थोंमें अपनी महिमा को विस्तारने वाला, जिसका न तो आदि है और न अन्त है ऐसे ज्ञानमें अतिशय रूपसे स्थिरता बांधनेवाला, कर्मोंका मूलसे नाश करने वाला ऐसे शुद्ध नयमें जो स्थिर होते हैं, वे पुरुष अपने ज्ञानकी व्यक्तिताको तत्काल समेटकर कर्म पटलसे बाहर निकलते हुए सम्पूर्ण ज्ञानघनका समूह रूप निश्चल जो शान्त रूप ज्ञानमय तेजप्रतापका पुंज उसका अवलोकन कराने वाला ऐसा शुद्धनय महन्त पुरुषोंके द्वारा कभी छोडने योग्य नहीं है। यहां श्रीगुरू का ऐसा उपदेश है कि शुद्ध नय आत्माको एक ज्ञानमय तेज प्रताप पुंजको एक चैतन्यमास सम्पूर्ण ज्ञानके विशेषोंको गौणकर और समस्त पर निमित्तोंसे होने वाले भावोंको भी गौणकर, शुद्ध नित्य, अभेदरूप एकको ग्रहण करता है। ऐसे शुद्धनयके विषय स्वरूप अपने आत्माका जो अनुभव करते हैं, वे सपूर्ण कर्मोंके समूहसे भिन्न, संपूर्ण ज्ञान जो केवलज्ञान स्वरूप, अमूर्तीक, पुरुषाकार, वीतराग, ज्ञानमूर्तीस्वरूप अपने आत्माको अवलोकन करते

हैं। इस शुद्धनयमें अंतर्मुहूर्त भी रहने वाले पुरुषके शुक्लध्यानकी प्रवृत्ति होकर केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है, ऐसा इस शुद्धनयका माहात्म्य है। इसको अवलम्बन करके जबतक केवलज्ञान न उपज जाय वहां तक इससे नहीं चिगना चाहिये।

करमके चक्र मैं फिरत जगवासी जीव ह्वै रह्या बहिर मुख व्यापत विषमता।
अंतर सुमति आई विमल बडाई पाई पुद्गलसौं प्रीति टूटी छूटी माया ममता॥
सुद्धनै निवास कीनौ अनुभौ अभ्यास लीनौ भ्रमभाव छांडि दीनौ भीनौचित समता
अनादि अनंत अविकलप अचल ऐसौ पद अवलंबि अवलोकै राम रमता॥११॥

इस प्रकार आस्रवके स्वांगको दूर कर आप प्रगट हुवा ऐसे ज्ञानकी महिमाको बतलाते हुए आस्रवके अधिकारको पूर्ण करते हैं—

मन्दाक्रांताछंद —

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां।
नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोऽन्तः॥
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा—
नालोकान्तादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत्॥१२॥

अर्थ—जो पदार्थ जैसे हैं वे उसी रूप जिससें सदा प्रगट प्रतिभासते हैं, जिसकी बराबरी कोई भी अन्यपदार्थ नहीं कर सकता है, ऐसा ज्ञान, ऐसे पुरुषके उदयरूप प्रगट होता है, जो रागादि आस्रवोंके तत्काल—क्षणमात्रमें दूर होनेसे, नित्य उद्योत रूप कोई वस्तुको अंतरंगमें अवलोकन करने वाला है, फिर ज्ञान कैसा है? जो अति विस्तार रूप फैलने वाले अपने निजरसके प्रवाहसे सर्वलोक पर्यंत अन्यभावोंको अन्तर्मग्न करने वाला हो, ऐसा ज्ञान प्रगट होता है।

भाव ऐसा है कि शुद्धनयका अवलंबन कर जो पुरुष अंतरंगमें चैतन्यमात्र परम वस्तुका एकाग्र मनसे अनुभव करता है, उसके संपूर्ण रागादि भाव दूर हो जाते हैं, और उसकी संपूर्ण पदार्थोंको

यथावत् जानने वाला, निश्चल, अतुल्य ऐसा केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। सो यह ज्ञान सबसे उत्कृष्ट है।

जाके परगासमैं न दीसै राग द्वेष मोह आस्रव मिटत नहिं बंधको तरस है।
तिहू काल जामैं प्रतिबिंबित अनंतरूप आपहू अनत सत्ता नततै सरस है॥
भावश्रुत ग्यान परवान जो विचारि वस्तु अनुभौ करै न जहां वानीकौ परस है।
अतुल अखंड अविचल अविनासी धाम चिदानद नाम ऐसौ सम्यक दरस है १२

सवैया—

योग कषाय मिथ्यात्व असयम आस्रव द्रव्य ते आगम गाये।
राग विरोध विमाह विभाव अज्ञानमयी यह भाव तजाये॥
जे मुनिराज करैं इन पाल सुरिद्धि समाज लये शिव थाये।
काय नवाय नमू चित लाय कहू जय पाय लहू मन भाये॥१॥

इस प्रकार समयसारमें निजानंदमार्तंडका चौथा अधिकार पूर्ण हुवा।

अथ संवराधिकार—

दोहा—मोह राग रुष दूर कर समिति गुप्ति व्रत धारि।
संवरमय आतम कियो नमूं ताहि मन धारि॥१॥

अब स्वांगभूमिमें संवर प्रवेश करता है। सर्व स्वांगको जानने वाले सम्यग्ज्ञानकी महिमा कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द—

आसंसारविरोधिसंवरजयैकान्तावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजय संपादयत्सवर ॥
व्यावृत्तं पररूपतो नियमित सम्यक्स्वरूपे स्फुर-
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥१॥

अर्थ—अनादि ससारसे लेकर अपने विरोधी संवरके जय से एकांत रूपसे मदको प्राप्त हुए आस्रवके तिरस्कार करनेसे प्राप्त किया है नित्य विजय जिसने ऐसे सवरको उत्पन्न करने वाला, परद्रव्य और परद्रव्यके निमित्तसे होने वाले भावोंसे भिन्न, अपने यथार्थ स्वरूपमें निश्चित, निराबाध, निर्मल, दैदीप्यमान, प्रकाशरूप, अन्य भारको उतारकर अपने रसके भारको लेने वाला, ऐसा चैतन्य-स्वरूप स्फुरायमान प्रकाशरूप ज्योति, उदय होकर फैलती है। मतलब ये है कि अनादि कालसे लेकर सवर आस्रवका विरोधी है। उसको आस्रवने जीता था सो उस आस्रवको जीत कर मदसे गर्वित तथा आस्रवका तिरस्कार कर जयको प्राप्त हुवे सवरको प्राप्त करनेवाला, सम्पूर्ण पर रूपोंसे भिन्न अपने ही रूपमें निश्चल हुवा य चैतन्य प्रकाश अपने ज्ञानरस रूप भारको लिये हुए निर्मल उदयरूप होता है।

आतमकौ अहित अध्यातम रहित ऐसौ आस्रव महातम अखण्ड अंडवत है।
ताकौ विसतार गिलिवेकौं परगट भयौ ब्रह्मन्डकौ विकासी ब्रह्मंडवत है॥
जामैं सब रूप जो सब मै सब रूपसौं पै सबनिसौं अलिप्त आकाश खण्डवत है।
साहै ग्यान भान सुद्ध संवरकौ भेष धरैं ताकी रुचि रेखकौ हमारी दंडवत है १

आगे सम्पूर्ण कर्मोंके सवर होनेका उत्कृष्ट उपाय भेदविज्ञान है, उसकी प्रशसा करते हुए कहते हैं—गाथा—

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो।

कोहो कोहे चेवहि उवओगे णत्थि खलु कोहो॥१८१॥
अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगम्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि१८२॥
एयं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वादि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥१८३॥

उपयोगे उपयोगः क्रोधादिषु नास्ति कोऽप्युपयोगः।
क्रोधः क्रोधे चैव ह्युपयोगे नास्ति खलु क्रोधः १८१॥
अष्टविकल्पे कर्मणि नोकर्मणि चापि नास्त्युपयोगः।
उपयोगे च कर्म नोकर्म चापि नो अस्ति ॥१८२॥
एतत्त्वविपरीतं ज्ञानं यदा तु भवति जीवस्य।
तदा न किञ्चित् करोति भावमुपयोगशुद्धात्मा ॥१८३॥

अर्थ— उपयोगमें उपयोग है, क्रोधादिमें निश्चयसे कोई उपयोग नहीं है। इसी प्रकार क्रोधमें ही क्रोध है, उपयोगमें निश्चय से क्रोध नहीं है। आठ प्रकारके ज्ञानावरणादि कर्म तथा शरीरादि नोकर्म इनमें भी उपयोग नहीं है। एवं उपयोगमें कर्म नोकर्म नहीं है। जिस समय जीवके सत्यज्ञान होता है उस समय उपयोगको छोडकर और किसी भावको यह जीव नहीं करता है। इसलिए आत्मा केवल शुद्ध स्वरूप ही है।

भावार्थ—उपयोग तो चेतनका ही परिणमन है, ज्ञानस्वरूप है। और क्रोधादिक भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म ये सब पुद्गलद्रव्यके परिणाम हैं तथा जड हैं। इनमें और ज्ञानमें प्रदेश भेद हैं। इसलिए अत्यन्त भेद है। अतएव उपयोगमें तो क्रोधादि तथा कर्म नोकर्म नहीं हैं, और क्रोधादिक कर्म नो कर्ममें उपयोग नहीं है। इस प्रकार इनमें पर-

मार्थरूप आधार आधेय भाव नहीं है। इस भावका जानने वाला भेद विज्ञान है। ऐसा भाव पूर्ण रूपसे सिद्ध होता है। इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द —

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतो· कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ॥
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः।
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः ॥२॥

अर्थ–भेदज्ञानका निश्चय करनेवाल सत्पुरुषोंको संबोधन करते हुए आचाय कहते हैं कि हे सत्पुरुषों तुम इस उदय होने वाले निर्मल भेदज्ञानको पाकर रागादि भावोंसे रहित होकर, एक शुद्ध ज्ञानघनके समूहको आश्रयकर उसमें लीन होनेमें वडा आनंद मानो। क्योंकि चैतन्य रूपको धारण करनेवाला ज्ञान, और जड रूपताको धारण करनेवाले रागादि, इन दोनोमें अज्ञानदशामें एकपनासा दीखता है। उनको अंतरंगमें अनुभव के अभ्यासरूप बलसे अच्छी तरह विदारणकर अर्थात् सब प्रकार से विभागकर भेदज्ञान उदयको प्राप्त होता है। तात्पर्य ऐसा है कि ज्ञान तो चेतना स्वरूप है, और रागादि पुद्गलके विकार हैं, सो अज्ञानतासे एक रूप प्रतीत होते हैं। जब भेदज्ञान प्रगट हो जाता हैं तब ज्ञान और रागादिककी भिन्नता अन्तरंगमें अनुभवके अभ्याससे प्रगट होजाती है। तभी ऐसा जाना जाता है कि ज्ञान का स्वभाव तो जानना मात्र है और ज्ञानमें रागादिकी कलुपता-मलिनता आकुलतारूप संकल्प विकल्प प्रतीत होते हैं, सो ये सब पुद्गलके विकार हैं, जड रूप हैं। इस प्रकारका ज्ञान और रागादिके भेदका स्वाद आता है। यही भेदज्ञान संपूर्ण विभाव भावोंके दूर करनेको कारण होता है। और आत्मामें परम

संवर भावको प्राप्त करता है। इसलिये सत्पुरुषोंको सबोधन करके कहा है कि भेदज्ञानको पाकर रागादिसे दूर होकर शुद्ध ज्ञानघन आत्माका आश्रय लेकर आनदको प्राप्त होओ।

सुद्ध सुछंद अभेद अबाधित भेदविग्यान सुतीछन आरा।
अंतर भेद सुभाव विभाऊ करै जड चेतन रूप दुफारा॥
सो जिनके उरमैं उपज्यौ न रुचै तिनकौं परसंग सहारा।
आतमकौ अनुभौ करितें हरखैं परखैं परमातम धारा॥२॥

प्रश्न — भेदज्ञानसे शुद्धज्ञानकी प्राप्ति कैसे होती है? उसका उत्तर रूप गाथा—

जह कणयमग्गितवियं पि कणयभावं ण तं परिच्चयदि
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं॥१८४॥
एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं
अण्णाणतमोच्छण्णा आदसहावं अयाणंतो॥१८५॥

यथा कनकमग्नितप्तमपि कनकभावं न तं परित्यजति।
तथा कर्मोदयतप्तो न जहाति ज्ञानी तु ज्ञानित्वम्॥१८४॥
एव जानाति ज्ञानी अज्ञानी रागमेवात्मानम्।
अज्ञानतमोऽवच्छन्न आत्मस्वभावमजानन्॥१८५॥

अर्थ — जिस प्रकार सोना अग्नि से तपा हुवा भी अपने सुवर्णभावको नहीं छोडता है उसी प्रकार ज्ञानी आत्मा कर्मके उदयसे तप्तायमान होता हुवा भी अपने ज्ञानीपनके स्वभाव को नहीं छोडता है। इस बातको ज्ञानी जानता हैं, अज्ञानी तो राग ही को आत्मा जानता है इसलिय अज्ञानी अज्ञानरूप अन्धकारसे व्याप्त है, इसलिये आत्माके स्वभावको नहीं जानता हुवा प्रवर्तता है। भेदज्ञानसे आत्मा ज्ञानी होता हैं। कर्मके उदय आनेपर तप्तायमान होने पर भी अपने स्वभावमे नहीं छूटता है। यदि

स्वभावसे छूट जाय तो वस्तुकाही नाशहो जावेगा इसलिये कर्मके उदय होने पर ज्ञानी रागी, द्वेषी, मोही नहीं होता है। जिसके भेद ज्ञान नहीं होता वह अज्ञानी होता हुवा रागी, द्वेषी, मोही होता है। इसलिए यह निश्चित है कि भेद विज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है।

प्रश्न—शुद्ध आत्माकी प्राप्ति ही से संवर कैसे होता है? इस प्रश्नका उत्तर रूप गाथा—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पय लहइ ॥१८६॥

शुद्धं च विजानन् शुद्धं चैवात्मानं लभते जीवः
जानस्त्वशुद्धमशुद्धमेवात्मानं लभते ॥१८६॥

अर्थ—शुद्ध आत्माको जानने वाला जीव शुद्ध ही आत्माको पाता है, ऐसे आत्माका आस्त्रव रुक जाता है, और संवर होता है। आत्माको अशुद्ध जाननेवाला जीव अशुद्ध ही आत्माको पाता है। ऐसे आत्माके जब आस्त्रव नहीं रुकता तो संवर भी नहीं होता है। इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

मालिनी छन्द—

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमाना शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयदात्मारामममात्मानमात्मा
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥३॥

अर्थ—आत्मा किसी प्रकार बडे भाग्यसे धारावाही ज्ञानसे निश्चल शुद्ध आत्माको प्राप्त होता हुवा तिष्ठता है, ऐसा यह आत्मा उदय होरहा है आत्मरूप क्रीडावन जिसके, ऐसी अपनी आत्माकी पर परिणति-राग, द्वेष, मोहरूप परिणतिके निरोधसे अपने

को शुद्ध ही पाता है। इस प्रकार शुद्ध आत्माकी प्राप्तिसे संवर होता है। यहां पर धारावाहीका अर्थ है प्रवाह रूप। इसकी दो रीति हैं—एक तो मिथ्याज्ञान बीचमें न आवे ऐसा सम्यग्ज्ञान, दूसरा उपयोगका ज्ञेयमें उपयुक्त होने की अपेक्षा, सो जहां तक एक ज्ञेयमें उपयोग उपयुक्त हो कर रहता है, वहां तक धारावाही ही कहा जाता है। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है। पीछे नियम से छूटता है। सो जहां जैसी विवक्षा हो, वहां वैसी रीतिका जानना। जब श्रेणी चढता है, तब शुद्ध आत्मासे ही उपयुक्त हो कर धारावाही होता है।

जो कबहू यह जीव पदारथ औसर पाइ मिथ्यात मिटावै।
सम्यक धार प्रवाह वहै गुन ज्ञान उदै मुख ऊरध धावै॥
तो अभिअन्तर दर्वित भावित कर्म कलेस प्रवेस न पावै।
आतम साधि अध्यातम के पथ पूरन ह्वै परब्रह्म कहावै॥३॥

प्रश्न संवर किस प्रकार हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर रूप गाथा कहते हैं—

अप्पाणमप्पणा रूंधिऊण दो पुण्णपावजोएसु
दंसणणाणह्मि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णह्मि॥१८७॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं॥१८८॥
आप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कम्॥१८९॥

आत्मानमात्मना रुन्ध्वा द्विपुण्यपापयोगयोः।
दर्शनज्ञाने स्थित इच्छाविरतश्चान्यस्मिन्॥१८७॥
यः सर्वसंगमुक्तो ध्यायत्यात्मानमात्मनाऽऽत्मा

नापि कर्म नोकर्म चेतायिता चिन्तयत्येकत्वम् ॥१८८॥
आत्मानं ध्यायन्दर्शनज्ञानमयोऽनन्यमयः ।
लभतेऽचिरेणात्मानमेव स कर्म विप्रमुक्तम् ॥१८९॥

अर्थ—जो जीव अपने आत्माको अपने आपके द्वारा पुण्य पाप रूप शुभाशुभ योगसे रोककर दर्शन और ज्ञानमें स्थित होता हुआ, अन्य वस्तुओंमें इच्छा रहित होता हुआ, सर्व परिग्रहसे रहित होकर अपने आत्मासे अपनी आत्माका ध्यान करता है, कर्म नोकर्मका ध्यान नहीं करता है अपने चेतनरूप स्वरूपके एकपनेका अनुभव करता है, विचार करता है, वह जीव दर्शन ज्ञान मय होता हुआ अन्यरूप नहीं होता हुआ, आत्माका ध्यान करता है, वह थोडेही समय वाद आत्माको कर्म रहित पाता है।

भावार्थ—जोजीव पहिले तो राग द्वेष मोहसे मिले हुए शुभाशुभ मन वचन कायके योगोंसे भेदज्ञान केवलसे अपने आत्माको न चलने देवे, पीछे शुद्ध दर्शन ज्ञानमय अपने स्वरूपको निश्चल करे और सम्पूर्ण बाह्याभ्यंतर परिग्रहसे रहित होकर कर्मनोकर्मसे भिन्न अपने स्वरूपमें एकाग्रतासे ध्यान करता हुवा रहे, वह थोडेही कालमें सम्पूर्ण कर्मोंको नाश करता है। इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

मालिनी छन्द—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्वोपलम्भः।
अचलितमखिलान्य द्द्रव्यदूरेस्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥४॥

अर्थ—जो पुरुष भेदविज्ञानकी शक्तिसे अपने स्वरूपकी महिमामें लीन हैं, उनको नियमसे शुद्धतत्वकी प्राप्ति होती है। उसे तत्वकी प्राप्ति होते हुए जो निश्चल जैसे होंय वैसे सम्पूर्ण

अन्य द्रव्योंसे दूर रहते हैं, उनके कर्मोंका अभाव होता है सो अक्षय होता है, अथार्त् फिरसे कर्म बंध नहीं होता है।

भेदि मिथ्यात सु वेदि महारस भेद विज्ञान कला जिन्ह पाई
जो अपनो महिमा अवधारत त्याग करैं उर सौंज पराई ॥
उद्धत रीति फुरि जिनके घट होत निरंतर जोति सवाई।
ते मतिमान सुवर्ण समान लगै तिन्हकौं न सुभासुभ काई ॥४॥

प्रश्न—संवर कौनसे अनुक्रमसे होता है ? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—गाथा—

तेसिं हेऊ भणिया अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं।
मिच्छंतं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥१९०॥
हेउअभावे णियमा जायइ णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसवभावेण विणा जायइ कम्मस्स वि णिरोहो॥१९१
कम्मस्स अभावेण य णोकम्मं पि जायइ णिरोहो।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होई ॥१९२॥

तेषां हेतवो भणिता अध्यवसानानि सर्वदर्शीभिः।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतभावश्च योगश्च ॥१९०॥
हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिन आस्रवनिरोधः।
आस्रवभावेन विना जायते कर्मणोऽपि निरोधः ॥१९१॥
कर्मणोऽभावेन च नोकर्मणामपि जायते निरोधः।
नोकर्मनिरोधेन च संसारनिरोधनं भवति ॥१९२॥ त्रिकलम् ॥

पूर्वमें कहे गये आस्रव—राग, द्वेष, मोहके हेतु को सर्वज्ञ देवने अध्यवसान कहा है। और वह अध्यवसान मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरत भाव और योग ऐसे चार प्रकारका कहा गया है। ज्ञानीके इनका अभाव होनेसे नियमसे आस्रवका निरोध होता

है। आस्रवभावके बिना कर्मका भी निरोध होता है। कर्मके अभावमें नोकर्मका भी निरोध हो जाता है। जहां कर्म नो कर्म का निरोध हो जाता है वहां संसारका अभाव भी हो जाता है। ऐसा संवरका अनुक्रम जानना।

इस संवरका कारण पहिले भेदविज्ञान कहा गया है उसीकी भावनाके उपदेश करनेको कलश रूप काव्य कहते हैं—

उपजाति छन्द—

सपद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥५॥

अर्थ—निश्चयसे साक्षात शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिसे संवर होता है। शुद्ध आत्मतत्त्वका उपलंभ आत्मा और कर्मके भेदविज्ञानसे होता है। कर्म और आत्माको जब अलग २ जानता है तब आत्माका अनुभव होने लगता है। इसलिये वह भेदविज्ञान अतिशय रूपसे भाने योग्य है।

अडिल्लछंद—

भेदज्ञान संवर निदान निर्दोष है संवरसौ निरजरा अनुक्रम मोख है।
भेदज्ञान सिवमूल जगतमहि आनिये, जदपि हेय है तदपि उपादे जानिये

प्रश्न—भेदज्ञान कहां तक भाना चाहिये? उत्तर रूप श्लोक—

अनुष्टुप्छन्द—

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥६॥

अर्थ—इस भेदविज्ञानको धारा प्रवाह रूपसे तब तक भाना चाहिये जब तक ज्ञान परभावोंसे छूटकर अपने ज्ञान स्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर ठहर न जावे।

यहां ज्ञानका ज्ञानमें ठहरना दो प्रकार जानना चाहिये एक तो मिथ्यात्वका अभाव होकर सम्यग्ज्ञान हो जावे, फिर

मिथ्यात्वका अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होवे बाद मिथ्यात्व न आने पावे। दूसरा यह कि शुद्धोपयोग रूप होकर ठहरे, ज्ञान अन्य विकार रूप होकर न परिणमे। ऐसे दोनों प्रकार जब तक न बन सके तब तक निरंतर भेद विज्ञानकी भावना रखना उचित है।

भेद ग्यान तबलौ भलौ जबलौं मुकति न होय।
परम जोति परगट जहां तहां न विकलप कोय॥६॥

फिर भेद विज्ञानकी महिमा कहते हैं—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥७॥

अर्थ—जितने सिद्ध हुए हैं वे सब भेद विज्ञानसे ही हुए हैं। जो कर्मसे बंधे हैं वे सब इसी भेद विज्ञानके अभावसे ही बंधे हैं। जीवको संसारका होना तो आत्मा और कर्मकी एकताके माननेसे ही है। अनादिकालसे लेकर जबतक भेदविज्ञान नहीं है तब तक कर्मका बंधन है ही। क्योंकि कर्म बंधनका मूल कारण भेदविज्ञानका अभाव ही है। इसलिये मोक्षका कारण तो भेद विज्ञान है, और संसारका कारण भेद विज्ञानका अभाव है। इस प्रकार संवरका अधिकार पूर्ण हुवा।

चौपाई—

भेदज्ञान संवर जिन पायौ, सो चेतन सिवरूप कहायौ।
भेदग्यान जिन्हके घट नांही ते जड जीव बंधैं घट मांहीं॥७॥

भेदग्यान साबू भयौ समरस निरमल नीर।
धोबी अंतर आतमा धोवे निरमल चीर॥

संवरके होने पर ज्ञानकी महिमाका वर्णन करते हैं—

मंदाक्रांता छंद—

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भा-

द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण ।
विभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥८॥

अर्थ—यह ज्ञान ज्ञानहीमें निश्चल नियम रूपसे उदयको प्राप्त हुवा है। कैसे अनुक्रमसे उदयको प्राप्त हुवा? प्रथम तो भेदज्ञानके उदयका अभ्यास हुवा, भेदज्ञानके अभ्याससे शुद्ध तत्त्वका उपलंभ हुवा, शुद्धतत्त्वके उपलंभसे रागके समूहका प्रलय हुवा, रागग्रामके प्रलय कर देनेसे आस्रवका रुकना हुवा आस्रवके रुकनेसे कर्मोंका संवर हुवा, कर्मोंके संवर होनेसे उत्कृष्ट संतोषको धारण कराने वाला ज्ञान प्रगट हुवा। कैसा ज्ञान प्रगट हुवा? जिसका प्रकाश निर्मल है-क्षयोपशमके दोषसे मलिनता थी सो अब नहीं है इसीसे निर्मल है, एक है-पहिले जो ज्ञानके भेद थे वे सब क्षयोपशमकी दृष्टिसे थे, अब नहीं हैं। जिसका उद्योत हमेशा एकसा रहने वाला है, जो उद्योत क्षयोपशम ज्ञानमें क्रम क्रमसे होता था उसकी वह दशा अब नहीं रही। ऐसी शाश्वती ज्ञानकी महिमा है।

जैसे रजसोधा रज सोधिकैं दरब काढै पावक कनक काढि दाहत उपलकौं।
पंकके गरभमैं ज्यौं डारिये कुतक फल नीर करै उज्जल नितारि डारै मलकौं॥
दधिकौ मथैया मथि काढै जैसे माखन कौ राजहंस जैसे दूध पीवै त्यागि जलकौं।
तैसे ग्यानवंत भेदग्यानकी सकति साधि वेदै निज संपति उछेदै पर दलकौं॥८॥

प्रगटि भेदविग्यान आप गुन परगुन जानै।
पर परनति परित्याग सुद्ध अनुभौ थिति ठानै॥
करि अनुभौ अभ्यास सहज संवर परगासै।
आस्रव द्वार निरोधि करमघन-तिमिर विनासै॥
क्षयकरि विभाव समभाव भजि निरविकलप निज पद गहै।
निर्मल विसुद्ध सासुत सुथिर परम अतीन्द्रिय सुख लहै॥

सवैया तेईसा

भेद विज्ञान कला प्रगटै तब शुद्ध सुभाव लहै अपना ही।

रागरु द्वेष विमोह सबहि गलि जाय इमै झुठ कर्म रुका ही ॥
उज्वल ज्ञान प्रकाश करै बहु तोष धरै परमातम मांहीं ।
यो मुनिराज भली विध धारत केवल पाय सुखी शिव जांही ॥

इस प्रकार समयसारमें निजानन्द मार्तंडका पांचवां संवर अधिकार पूर्ण हुवा ।

— अथ निर्जराधिकार प्रारभ्यते —

दोहा—रागादिकको मेंटकर नवे बंध हति संत ।
पूर्व उदयमें सम रहें नमूं निर्जरावन्त ॥१॥

निर्जराका सर्व स्वांग देखकर यथार्थ जानने वाला सम्यग्ज्ञान है, उसको मंगलरूप जानकर प्रगट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द—

रागाद्यास्त्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः ।
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः ।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धमधुना व्याजृम्भते निर्जरा ।
ज्ञानज्योतिरपावृत न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति ॥१ ॥

अर्थ—पहिले तो उत्कृष्ट संवर रागादिक आस्रवोंके रोकनेसे अपनी धुरा जो सामर्थ्यकी हद उसको धारणकर आगामी सम्पूर्ण कर्मोंको दूर ही रोकता हुवा ठहरा है। इस संवरके होनेके पहिले जो कर्म बंध रूप हुए थे उनके नाश करनेको-सत्तासे निकालने के लिए निर्जरा रूपी अग्निका फैलाव होता है। इस निर्जराके प्रगट होनेसे आवरण रहित ज्ञानज्योति पुन रागादि भावोंसे मूर्च्छित नहीं होती है। सदा निरावरण ही रहती है। भाव ये है कि संवर होनेके वाद नवीन कर्म नहीं बंधते हैं और पहिले जो कुछ बंध चुके थे वे निर्जीर्ण हो जाते हैं, ऐसी हालतमें ज्ञान का आवरण दूर हो जाता है और ज्ञान फिर रागादि रूप न परिणमकर सदा प्रकाश रूप ही रहता है।

चौपाई-जो संवर पद पाइ अनंदै सो पूरवकृत कर्म निकंदै।
　　जो अफंद ह्वै बहुरि न फंदै सो निर्जरा बनारसि बंदै ॥१॥

आगे निर्जराका स्वरूप बतलानेको गाथा कहते हैं—

उपभोगमिंदिएहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जंकुणदि सम्मादिट्ठि तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥१९२

उपयोगमिन्द्रियैर्द्रव्याणामचेतनानामितरेषाम्।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिस्तत्सर्वं निर्जरानिमित्तम् ॥१९३॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियोंके द्वारा जितने चेतन वा अचेतन द्रव्योंका उपभोग करता है अर्थात भोगता है, उसका वह सब भोग निर्जराके लिए ही है।

भावार्थ—पहिले सम्यग्दृष्टिको ज्ञानी कहा है और ज्ञानीके बंधके कारण राग द्वेष मोहका अभाव बतलाया है। विरागीकें जो इन्द्रियोंके द्वारा भोग होता है, सो उस भोगकी सामग्रीको सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है कि इन परद्रव्योंसे मेरा कुछ भी नाता नहीं

है, केवल कर्मोंके उदयसे इनके साथ मेरा संयोग वियोग सम्बन्ध है। चारित्रमोहका उदय आकर पीडा देता है, सो मैं जब तक बल हीन हूं, तब तक उस पीडाके सहनेको असमर्थ हूं, इससे जैसे रोगी रोगको अच्छा नहीं मानता है, परन्तु पीडा न सही जाती इससे उस रोगका औषधि आदिसे इलाज करता है। उसी तरह सम्यग्दृष्टि भी विषय रूपी भोगोपभोग सामग्रीसे मात्र वेदनाका इलाज करता है और कर्मके उदयसे प्राप्त भोगोपभोग सामग्रीसे राग द्वेष मोह नहीं करता है। सम्यग्दृष्टि विरागी है, सो भोगोपभोग की सामग्रीका भोग करता हुआ भी कर्मोंकी निर्जरा ही करता है जो कर्म उदय रूप होते है वे अपना रस दे कर खिर जाते हैं। उदय आने बाद द्रव्य कर्मका सत्व रहता नहीं है। उसकी तो निर्जरा ही होती है। सम्यग्दृष्टिको उस कर्मके उदयसे राग, द्वेष, मोह नहीं होता। उदय आयेको जान भी लेता है, और फलको भी भोग लेता है, सो भी राग, द्वेष, मोहके बिना ही भोगता है, इससे नवीन कर्मोंका आस्रव नहीं होता। आस्रव बिना विरागी सम्यग्दृष्टिके आगामी बंध नहीं होता, जब बध ही नहीं होता, तब केवल निर्जरा ही होती है। इसलिये सम्यग्दृष्टि विरागीका भोगोपभोग निर्जराका ही निमित्त कहा गया है। इस तरह ये द्रव्यनिर्जराका स्वरूप कहा।

अब भाव निर्जराका लक्षण बतलानेको गाथा कहते हैं—

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं वा।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥१९४॥

द्रव्ये उपभुज्यमाने नियमाज्जायते सुखं दुःखं वा।
तत्सुखदुःखमुदीर्णं वेदयतेऽथ निर्जरां याति ॥१९४॥

अर्थ—परद्रव्यको उपयोगमें आने पर नियमसे सुख दुःख

उत्पन्न होते हैं, उदयमें आये हुए सुख दुःखको नियमसे वेदता है, अनुभव करता है, भोगता है, आस्वाद लेता है, आस्वाद देकर बादमें झड जाते हैं, फिर उदयमें नहीं आते हैं। तात्पर्य ये है कि कर्मका उदय आने पर सुख दुःख भाव नियम से उत्पन्न होते हैं। उनका अनुभव करते हुए मिथ्यादृष्टिके तो रागादिकके निमित्तसे आगे फिर बंधकर कर्म झडते हैं, इसलिए इसको निर्जरा कैसे कहा जाय? बंध ही कहना चाहिये। सम्यग्दृष्टि के अनुभवमें रागादि भाव नहीं होता, इससे आगामी बंध नहीं होनेसे केवल निर्जरा ही होती है। इसका नाम भाव निर्जरा है। इसी अर्थकी वा अगले कथनकी सूचानिका रूप कलशाका श्लोक कहते हैं —

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यै वा किल।
यत्कोपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते ॥२॥

अर्थ—यह कोई आश्चर्य रूप सामर्थ्य ज्ञान अथवा वैराग्य का ही है कि कर्मको भोगता हुवा भी कर्मसे नहीं बंधता है। अ-ज्ञानीको आश्चर्यका ही उत्पन्न करने वाला है। ज्ञानी तो यथार्थ का ही जानकार है। इससे उसे कोई आश्चर्य नहीं होता है।

दोहा—महिमा सम्यग्ज्ञानकी अरु विरागवल जोइ।
क्रिया करत फल भुंजतैं करम बंध नहीं होइ ॥२॥

आगे गाथामें ज्ञानके सामर्थ्यको दिखाते हैं—

जह विसमुवभुंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव वज्झए णाणी१९५

यथा विषमुपभुञ्जानो वैद्यः पुरुषो न मरणमुपयाति।
पुद्गलकर्मण उदय तथा भुङ्क्ते नैव बध्यते ज्ञानी ॥१९५॥

अर्थ— जैसे कोई वैद्य पुरुष विषका उपभोग करता हुवा भी नहीं मरता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष पुद्गल कर्मोंके उदयको भोगता हुवा भी कर्मोंसे नहीं बंधता है।

सारांश—जैसे वैद्य अपनी विद्याके सामर्थ्यसे विषको मार कर उसकी शक्तिका अभाव मत्र यत्र औषधिसे कर देता है, वादमें विषको खाता हुवा भी मरणको प्राप्त नहीं होता है। उसी तरह ज्ञानी भी अपने ज्ञानकी सामर्थ्यसे कर्मके उदयकी वध करनेकी शक्तिको रोक देता है, उसे कर्मके उदयका भोग भोगनेमें आता है, तो भी आगामी कर्मबंध नहीं करता है। यह सम्यग्ज्ञानका ही सामर्थ्य है।

अब वैराग्यका सामर्थ्य बतलाते हैं—

जह मज्जं पिबमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव॥१९६॥

यथा मद्यं पिबन्नरतिभावेन माद्यति न पुरुषः।
द्रव्योपभोगेऽरतो ज्ञान्यपि न बध्यते तथैव॥१९६॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष विना प्रेमके शराबको पीता है फिर भी उसको उसका नशा नही होता है—मतवाला नही होता है। उसी तरह ज्ञानी पुरुष द्रव्यके उपभोगको अरति भावसे सेवन करता (प्रेमी न होता) हुवा कर्मोंसे नही बंधता है।, यह वैराग्यका ही सामर्थ्य है जो विषयोंको सेवन करने पर भी कर्मो से नहीं बंधता है। इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

रथोद्धता छन्द—

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत्स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः॥३॥

अर्थ— यह पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करता हुआ भी

विषय सेवन करनेके फलको नहीं पाता है, सो ये सामर्थ्य ज्ञानके विभवका वा वैराग्यके बलका ही है कि विषयोंका सेवने वाला हो कर भी नहीं सेवने वाला है। मतलब ऐसा है कि ज्ञान और विरागका कोई अचिन्त्य माहात्म्य ऐसा ही है कि इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता है, तो भी सेवन करनेवाला नहीं कहा जाता है। विषय सेवनका फल संसार है, सो ज्ञानी वैरागीके मिथ्यात्वका तो अभाव हो जाता है, फिर मिथ्यात्व सेवनका फल संसार परिभ्रमण कैसे हो सकता है ?

सोरठा—पूर्व उदै सम्बन्ध विषय भोगवै समकिती।
करै न नूतन बन्ध महिमा ज्ञान विरागकी ॥ ३ ॥

इस अर्थको दृष्टांत द्वारा बतलाते हैं—

सेवंतो वि ण सेवइ असेवमाणो वि सेवगो कोइ।
पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणोत्ति सो होई ॥

सेवमानोऽपि सेवते-सेवमानोऽपि सेवकः कश्चित्।
प्रकरणचेष्टा कस्यापि न च प्राकरण इति स भवति ॥ १९७ ॥

अर्थ—कोई पुरुष विषयोंको सेवता हुआ भी नहीं सेवता है कोई नहीं सेवता हुआ भी सेवता है, ऐसा कहा जाता है। जैसे किसी पुरुषको कोई कार्य सम्बन्धी प्रकरणकी चेष्टा तो है उस प्रकरण सम्बन्धी सारी क्रियायें करता है लेकिन किसीके कराने से करता है, आप उसका स्वामी नहीं बनता है, पर उसको प्राकरण—कार्यका कर्ता नहीं कहा जाता है।

सारांश—जैसे धनका धनी कोई व्यापारी किसीको दुकान पर नौकर रखता है। सो वह नौकर दुकानका काम व्यापार वणिज लैन दैन सब करता है। धनी अपने घर बैठा रहता है, दूकान सम्बन्धी कोई कार्य नहीं करता है। यहां ऐसा विचार करो

कि उस दुकानके नफे टोटेका स्वामी कौन है ? वास्तवमें विचारा जाय तो दूकानके नफे टोटेका स्वामी तो धनका धनी दुकानदार ही है, नौकर व्यापारादि क्रियायें करता है, तो भी स्वामीपनके अभावसे उसके फलका भोगता नहीं होता है। धनी कुछ भी व्यापारादि नहीं करता है तो भी उस दूकानका स्वामी होने से टोटे नफेके फलका भोक्ता होता है। उसी प्रकार संसारमें साहकी तरह तो मिथ्यादृष्टि है और नौकरकी तरह सम्यग्दृष्टिको जानना चाहिए। इस अर्थका समर्थन करने वाला सम्यग्दृष्टिके भावोंकी प्रवृत्तिका द्योतक कलश रूप काव्य कहते हैं—

मन्दाक्रांता छन्द—

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः ।
　　स्व वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ॥
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्वतः स्वं परं च ।
　　स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥४॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिको नियमसे ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति होती है। जिससे सम्यग्दृष्टि अपने वस्तुपनेको यथार्थ रूपके अभ्यास करनेको अपने स्वरूपका ग्रहण और परके त्यागकी विधिसे "यह तो आत्माका स्वरूप है और यह परद्रव्य है" इस प्रकार दोनों का भेद परमार्थसे जानकर आपमें तो स्थिर होता है और परद्रव्य से सब तरहके रागके योगसे विरक्त होता है। सो यह रीति ज्ञान वैराग्यकी शक्ति बिना नहीं होती है।

सम्यकवन्त सदा उर अन्तर ग्यान विराग उभै गुन धारै ।
जासु प्रभाव लखै निज लच्छन जीव अजीव दसा निरवारै ॥
आतमको अनुभौ करि ह्वै थिर आप तरै अर औरनि तारै ।
साधि सुदर्व लहै सिव सर्म सुकर्म उपाधि विथा वम डारै ॥४॥

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि अपनेको और परको सामान्य

रूपसे ऐसा जानता है गाथा—

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को१९८

उदयविपाको विविधः कर्मणां वर्णितो जिनवरैः ।
न तु ते मम स्वभावाः ज्ञायकभावस्त्वहमेकः ॥ १९८ ॥

अर्थ—कर्मोंके उदयका रस अनेक प्रकारका होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है । उन कर्मोंके विपाकसे होने वाला भाव मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो एक ज्ञायक स्वभाव ही हूं । इस प्रकार सामान्य रूपसे सम्पूर्ण कर्मजन्य भावोंको सम्यग्दृष्टि ही जानता है, और आपको एक ज्ञायक स्वभाव ही अनुभव करता है ।

अब कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि आप और परको विशेषकर ऐसा जानता है —गाथा—

पुग्गल कम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभाओ हु अहमिक्को॥१९९

पुद्गल कर्म रागस्तस्य विपाकोदयो भवत्येष ।
न त्वेष मम भावो ज्ञायकभावः खल्वहमेकः ॥ १९९ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि तो ऐसा अनुभव करता है कि रागभाव पुद्गल कर्म है, उसके विपाकका उदय ही मेरे अनुभवमें राग रूप आस्वाद देता है, वह मेरा स्वभाव नहीं है । मेरा स्वभाव तो एक ज्ञायकभाव मात्र ही है । इस तरह सम्यग्दृष्टि विशेषकर आपापकरको जानता है । और रागभावको छोड़ता है ।

आगे फिर इसी अर्थको सूचित करने वाले गाथाको कहते हैं

एवं सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं ।
उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो ॥२००॥

एवं सम्यग्दृष्टिरात्मानं जानाति ज्ञायकस्वभावम् ।

उदयं कर्मविपाकं च मुञ्चति तत्वं विजानन् ॥ २०० ॥

अर्थ—इस प्रकार सम्यग्दृष्टि आपको सम्यग्दृष्टि जानता है और कर्मके उदयको कर्मका विपाक जानकर छोडता है। कैसा होता हुआ छोडता है ? वस्तुके स्वरूपको यथार्थ जानता हुवा छोडता है।

भावार्थ—जब आपको तो ज्ञायकभाव स्वभाव सुखमय जानता और कर्मके उदयसे हुए भावोंको आकुलता रूप दुखमय जानता है, तब ज्ञानरूप ही रहता है, उसको परभावोंसे विरागता होती है, ऐसा प्रगट अनुभव होता है, यह ही सम्यग्दृष्टि का चिन्ह है।

प्रश्न—जो ऐसा न हो और परद्रव्योंसे आसक्त होकर सम्यग्दृष्टिपनेका अभिमान करे सो सम्यग्दृष्टि कैसा ? सम्यग्दृष्टिपनेका अभिमान व्यर्थ करता है ऐसा काव्य में कहते हैं।

मन्दाक्रान्ता छन्द

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समिति परन्तां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥५॥

अर्थ—जो पुरुष पर द्रव्योंमें राग द्वेष मोह भावोंसे युक्त हैं और अपनेको सम्यग्दृष्टि मानते हैं तथा ऐसा मानते हैं कि मेरे कभी भी कर्मोंका बन्धन नहीं है, क्योंकि शास्त्रोंमें सम्यग्दृष्टि को कर्म बन्ध नहीं कहा है, ऐसा मानकर गर्व सहित ऊंचा किया और हर्षसे रोमांच युक्त हुआ है मुख जिनका, ऐसे लोग महाव्रतादि करो समिति-आहार विहारकी क्रियामें यत्नसे प्रवर्तो अत्यंत ही उत्कृ-ष्ट क्रियाका अवलंबन करो ऐसी प्रवृत्ति करते हुए भी वे पापी मिथ्या

दृष्टि ही हैं, क्योंकि उनको आत्मा अनात्माका ज्ञान नहीं हैं। इसलिये सम्यत्वसे रीतेही हैं, उनके सम्यक्त्व कदापि नहीं है।

भावार्थ—जो अपनेको सम्यग्दृष्टि मानता है और परद्रव्यसे राग रखता है वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? व्रत समितिका पालन करता हुआ भी आपापरके ज्ञान विना पापी ही है, आपके बन्ध होना न मानता हुआ स्वच्छन्द प्रवर्तता है, उसके सम्यक्त्व कैसे हो सकता है? क्योंकि चारित्र मोह सम्बन्धी रागसे बन्ध तो जहां तक यथाख्यात चारित्र नहीं होता है वहां तक होताही रहता है, सो जबतक राग रहता है तव तक सम्यग्दृष्टि अपनी निंदा गर्हा करताही रहता है, सिर्फ ज्ञानके होजाने मात्रसे तो वन्धसे छूटता नहीं है, ज्ञान होने बाद उसीमें लीन होकर शुद्धोपयोग रूप चारित्रसे बंध नहीं करता है बंध न होना मानकर स्वच्छन्द होना तो मिथ्या-दृष्टिपन है।

जो नर सम्यकवंत कहावत सम्यग्ज्ञान कला नहिं जागी।
आतम अंग अबध विचारत धारत संग कहैं हम त्यागी॥
भेष धरैं मुनिराज पटतर अन्तर मोह महानल दागी।
सुन्न हिये करतूति करैं पर सो सठ जीव न होंय विरागी॥५॥
ग्रंथ रचैं चरचैं सुभ पंथ लखैं जगमें विवहार सुपत्ता।
साधि संतोष अराधि निरंजन देइ सुसीख न लेइ अदत्ता॥
नंग धरंग फिरैं तजि संग छकै सरवंग मुधा रसमत्ता।
ए करतूति करैं सठ पै समझैं न अनातम आतम सत्ता॥
ध्यान धरैं करैं इंद्रिय निग्रह विग्रहसौं न गिनैं निज नत्ता।
त्यागि विभूति विभूति मढै तन जोग गहै भवभोग विरत्ता॥
मोन रहैं लहि मंद कषाय सहैं वध बंधन होइ न तत्ता।
ए करतूति करैं सठ पै समुझैं न अनातम आतम सत्ता॥
जो विन ग्यान क्रिया अवगाहै जो विन क्रिया मोखपद चाहै।

जो बिनु मोख कहै मैं सुखिया, सो अजान मूढनि मैं मुखिया ॥

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि रागी कैसे नहीं होता? उत्तरकी गाथा—

परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स ।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि ॥२०१॥
अप्पाणमयाणतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठि जीवाजीवे अयाणंतो ॥२०२॥

परमाणुमात्रमपि खलु रागादीनां तु विद्यते यस्य ।
नापि स जानात्यात्मानं तु सर्वागमधरोपि ॥२०१॥
आत्मानमजानन्ननात्मानं चापि सोऽजानन् ।
कथं भवति सम्यग्दृष्टिर्जीवाजीवावजानन् ॥२०२॥

अर्थ—निश्चयसे जिस जीवके रागादिवर्गका परमाणुमात्र भी-अंशमात्रभी मौजूद है वह जीव सब शास्त्रोंका पढा हुआ होने परभी आत्माको नहीं जानता है। आत्माको नहीं जाननेवाला अनात्मा-पर द्रव्यको भी नहीं जानता है। जब आत्मा अनात्मा को नहीं जानता है तो जीव अजीव पदार्थोंको भी नहीं जानता है, ऐसी दशामें जो जीव अजीवको नहीं जानता है, वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?

यहां रागी कहनेसे अज्ञानमय राग द्वेष मोह भाव लेना चाहिये। अज्ञानमय कहने से मिथ्यात्व, अनंतानुबंधीसे होने वाल रागादि लेना चाहिये। मिथ्यात्व विना चारित्र मोहके उदयके रागको न लेना चाहिये, क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि आदिके चारित्रमोहका उदय संबंधी राग रहता है और वह ज्ञान सहित होता है, उसको वह रोगवत् जानता है, उस रागसे सम्यग्दृष्टि को राग नहीं होता, जो कर्मोदयसे राग हुआ है उसको दूर

करनेमें तत्पर रहता है। जो ऐसा कहा गया है कि "सम्यग्दृष्टिके रागका लेशमात्रभी नहीं होता है" ऐसा कहनेका मतलब ये है कि ज्ञानीके अशुभ रागतो अत्यत गौण है, और जो शुभ राग होता है, सो संपूर्ण शास्त्र पढ जाने, तथा मुनि होने, व्यवहार चारित्रके पालने और उस रागको अच्छा मानकर थोडाभी उस रागसे राग करने पर समझना चाहिये इसने आत्माके स्वरूपको ठीक २ नहीं जाना है, कर्मोदय जनित भावको ही अच्छा जाना है, और उसीसे अपना मोक्ष होना माना है। यदि ऐसी मान्यता है तो अज्ञानी ही है। अपने और परके परमार्थरूपको नहीं जाना, तो समझना चाहिये कि जीव अजीव पदार्थके परमार्थको भी नहीं जान सका, जब जीव अजीवको ही नहीं जान सका, तब सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?

जो रागी प्राणी अनादिसे रागादिको अपना पद मानते आरहे हैं उनको संबोधन करनेके लिये कलश रूप काव्य कहते हैं—

मन्दाक्रान्ता छन्द——

आससारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः।
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः॥
एतैतेतः पदमिदमिद यत्र चैतन्यधातुः।
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति॥६॥

अर्थ——संसारी भव्य प्राणीको श्रीगुरु संबोधते हैं——हे अंधे प्राणिहो-ये रागी प्राणी अनादि काल से लेकर जिस पदमें सोते हैं-निद्रामें मग्न हो रहे हैं उस पदको तुम अपद जानो, यह तुम्हारा पद (ठिकाना) नहीं है।

तुम्हारा ठिकानातो यह है, यह है, जहां चैतन्य धातु शुद्ध है, शुद्ध है। अपने स्वाभाविक रसके समूह से स्थायी भावपने को प्राप्त है। यहां जो दो वक्त शुद्ध शब्दका प्रयोग किया है उसका

प्रयोजन द्रव्य और भाव दोनोंकी शुद्धता बतलाना है। अन्य द्रव्योंसे पृथक्पन तो द्रव्यशुद्धि है और पर निमित्तोंसे उत्पन्न हुए भावोंसे रहित भावोंका होना भावशुद्धि है। सो इधर आओ इधर आओ और इन्हीं भावों में निवास करो।

जगवासी जीवनिसौं गुरु उपदेस कहै तुमैं इहां सोवत अनतकाल बीते हैं।
जागौ ह्वै सचेत चित्त समता समेत सुनो केवल वचन जामैं अक्ष रस जीते हैं।
आवौ मेरे निकट बताऊं मैं तुम्हारे गुन परम सुरस भरे करमसौं रीते हैं।
ऐसे वैन कहै गुरु तौऊ ते न धरैं उर मित्र कैसे पुत्र किधौं चित्र कैसे चीते हैं॥६॥

प्रश्न—हे गुरो वह पद क्या है जिसमें स्थिर होना चाहिये? उत्तर रूप गाथा—

आदम्मि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ॥२०३॥

आत्मनि द्रव्यभावानपदानि मुक्त्वा गृहाण तथा नियतम्।
स्थिरमेकमिमं भावमुपलभ्यमानं स्वभावेन ॥२०३॥

अर्थ—आत्मामें बहुतसे भाव हैं, उनमेंसे जो भाव पर निमित्तसे होते हैं, वे भाव आत्माके नहीं हैं और वही अपद हैं, उन द्रव्य रूप वा भावरूप सब ही भावोंको छोड कर जो निश्चित स्थिर एक अपने स्वभावहीमें रहता है ऐसा यह प्रत्यक्ष गोचर चैतन्यमात्र भाव ही अपना पद है, उसीको हे भव्य तू जैसा है वैसा ही ग्रहण कर।

भावार्थ—पहिले वर्णादि गुणस्थान पर्यंत भाव कहे थे, वे सभी आत्मामें अनियत, अनेक क्षणिक, व्यभिचारी भाव हैं, और वे आत्माके पद नहीं हैं। जो ये स्वसंवेदन रूप ज्ञान है वह नियत है, एक है, नित्य है और अव्यभिचारी है, स्थायी-भाव है, वही आत्माका पद है, ज्ञानियोंको वह ही एक स्वाद

लेने योग्य है। इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

अनुष्टुप्छंद—

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।
आपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥७॥

अर्थ—वही एक पद आस्वादने योग्य है जो विपत्तिका पद नहीं है, जिस पदमें कोई आपत्ति प्रवेश नही करती है, जिसके आगे सारे पद अपद ही मालूम होते हैं। यहां ऐसा भाव जानना चाहिये कि आत्माका पद तो एक ज्ञानही है इसमें कुछभी आपदा नही है, इसके आगे बाकीके सारे पद आकुलतामय अपद रूपही मालूम देते हैं।

जो पद भौपद भय हरै सो पद सेऊ अनूप।
जिहि पद परसत और पद लगै आपदा रूप ॥७॥

फिर कहते हैं कि आत्मा ज्ञानका अनुभव करता है तव इस तरह करता है—

शार्दूलविक्रीडितच्छंद—

एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्।
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्॥
आत्माऽऽत्मानुभवानुभावविवशो भ्रस्यद्विशेषोदयं।
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ॥८॥

अर्थ—यह आत्मा ज्ञानके विशेषोंके उदयको गौणकर सामान्य ज्ञान मात्रका अभ्यास करता हुवा संपूर्ण ज्ञानके एक भावको प्राप्त करता है। कैसा होता हुवा एक भावको प्राप्त करता है? एक ज्ञायक भावसे भरा हुवा जो ज्ञानका महास्वाद उसको लेता हुवा, तथा द्वन्द्वमय जो वर्णादिक तथा रागादिक और क्षयोपशमरूप ज्ञानके भेद रूप स्वादके लेनेको असमर्थ, (जब ज्ञान हीमें एकाग्र हो जाता है तब दूसरा स्वाद

नहीं आता है) फिर कैसा है ? अपनी वस्तुकी प्रवृत्ति को जानने आस्वादने वाला, तथा आत्माके अनुभवके प्रभावसे विवश है उसी स्वादके आधीन है, वहांसे चिगनेको असमर्थ है। जो अद्वितीय स्वादको लेता है वह बाहर क्यों आवे ? मतलब ये है कि इस एक ज्ञानके रसीले स्वादके आगे अन्य-रस सब फीके मालूम पडते हैं, भेद भाव सब मिट जाते हैं। ज्ञानमें जितने विशेष होते हैं वे सब ज्ञेय (जानने योग्य पदार्थ) के निमित्त से होते हैं। जब ज्ञान सामान्यका स्वाद लेते हैं तब संपूर्ण ज्ञानके भेद भी गौण हो जाते हैं, ज्ञान ही ज्ञेय रूप हो जाता है।

पंडित विवेक लहि एकता की टेक गहि दुदज अवस्थाकी अनेकता हरतु है।
मति श्रुति अवधि इत्यादि विकलप मेटि निरविकल ग्यान मनमैं धरतु है॥
इंद्रियजनित सुख दुखसौं विमुख ह्वै कै परमके रूप ह्वै करम निर्जरतु है।
सहज समाधि साधि त्यागि परकी उपाधि आतम अराधि परमातम करतु है ८

आगे इसी अर्थका सूचक गाथा कहते हैं कि कर्मके क्षयो-पशमके भेदसे ज्ञानमें भेद होता है और जब ज्ञान सामान्यका विचार करते हैं तो ज्ञान एक है—

आभिणिवोहियसुदोधिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥२०४॥

आभिनिवोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च तद्भवत्येकमेव पदम्।
स एष परमार्थो यं लब्ध्वा निर्वृत्तिं याति ॥२०४॥

अर्थ—आभिनिवोधिक-मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये ज्ञानके भेद सभी एक ज्ञान ही हैं यह परमार्थ कथन है। शुद्धनयका विषय तो सामान्यज्ञान है। इसी शुद्धनयको पाकर ही आत्मा निर्वाण पदको प्राप्त करता है।

सारांश ये है कि ज्ञानमें कर्मके क्षयोपशमके अनुसार भेद होते हैं। वे भेदज्ञान सामान्यको अज्ञान तो करते नहीं हैं, वल्कि ज्ञानको प्रगट ही करते हैं। इसलिये भेदोंको गौणकर एक ज्ञान सामान्य का अवलंबन लेकर आत्माका ध्यान करना इसीसे सर्व सिद्धि होती है। इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द—

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमंडलरसप्राग्भारमत्ता इव।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥९॥

अर्थ—पिये गए संपूर्ण पदार्थोंके समूह रूप रसके वहुत भारसे मानों मदोन्मत्त, ऐसे जिस आत्माकी संवेदन व्यक्ति-अनुभवमें आनेवाले ज्ञानके भेद हैं वे निर्मलसे निर्मल अपने आप उछल रहे हैं—प्रगट रूपसे अनुभव में आरहे हैं। सो यह अद्भुत निधिवाला भगवान चैतन्य रूप रत्नाकर-समुद्र अपनी उठती हुई लहरोंसे आप अभिन्न है रस जिसका, ऐसा एक है तो भी अनेक रूप होता हुवा दोलायमान प्रवर्त रहा है।

भावार्थ—जैसे समुद्र वहुत रत्नोंसे भरा हुवा होता है तो भी एक जलसे भरा रहता है, उसमें निर्मल छोटी वडी अनेक लहरे उठती हैं, और वे सव एक जल रूपही होती हैं। उसी तरह यह आत्मा ज्ञान समुद्र है सो एकही है इसमें अनेक गुण हैं, और कर्मके निमित्तसे ज्ञानके अनेक भेद अपने आप प्रगट होते हैं, वे व्यक्त रूप से एक ज्ञानके ही भेद होते हैं ऐसा जानना चाहिये। ज्ञानसे भिन्न अन्य पदाथ नहीं हैं। इनको खड २ रूप अनुभव नहीं करना चाहिये।

जाके उर अंतर निरंतर अनंत दर्वभाव भासि रहे पे सुभाव न टरतु है।

निर्मलसौं निर्मल सुजीवन प्रगट जाके घटमैं अघटरस कौतुक करतु है ॥
जागै मति श्रुति औधि मनपर्यै केवल सुपचधा तरगनि उमंगि उछरतु है ।
सो है ग्यान उदधि उदार महिमा अपार निराधार एकमैं अनेकता धरतु है ।

अब और विशेषरूपसे कहते हैं कलश रूप काव्य—

शार्दूलविक्रीडितछंद–

क्लिश्यंतां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः ।
क्लिश्यतां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम् ॥
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं ।
ज्ञानंज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते नहिं ॥१०॥

अर्थ—कोई तो वडी ही कठिनतासे प्राप्त किये जानेवाले मोक्ष से परांङ्मुख ऐसे कर्मोंसे जिन आज्ञा विना अपने आप क्लेशको प्राप्त करो, कोई मोक्षके सन्मुख कथंचित जिनाज्ञामें कहे हुए महाव्रत तथा तपके भारसे वहुत कालतक पीडित हुए कर्मोंसे क्लेशको प्राप्त करो, परतु उन कर्मोंसे तो मोक्ष होता नहीं है। क्योंकि यह ज्ञान ही साक्षात् मोक्षरूप है, तथा निरामय पद है जिसमें किसी प्रकारके रोगादिकका क्लेश नहीं है। अपने आप अनुभव करने योग्य है, सो ऐसा ज्ञान तो ज्ञानगुण विना किसी प्रकारके कष्ट उठानेसे प्राप्त हो नहीं सकता है। भाव ये है कि साक्षात् मोक्ष रूप ज्ञान ज्ञानसे ही प्राप्त किया जा सकता है दूसर किसी प्रकारके कर्मकांडसे नहीं मिलता है ।

केई क्रूर कष्ट सहैं तपसौं सरीर दहैं धूम्रपान करैं अधोमुख ह्वै के झूलै हैं ।
केई महाव्रत गहैं क्रियामैं मगन रहै वहैं मुनि भार पै पयार कैसे पूले हैं ॥
इत्यादिक जीवनकौं सर्वथा मुकति नाहि फिरैं जगमांहि ज्यौं वयारके वूले हैं ।
जिन्हके हियेमैं ग्यान तिन्हिहीकौं निरवान करमके करतार भरममैं भूलेहैं ॥

दोहा–लीनभयौ विवहारमैं उकति न उपजै कोई ।

दीन भयौ प्रभु पद जपै मुकति कहांसौं होइ ॥
प्रभु पूजौ सुमरौ पढौ करौ विविध विवहार ।
मोख सरूपी आतमा ग्यान गम्य निरधार ॥

काज बिना न करै जिय उद्यम लाज बिना रनमाहि न जूझै ।
डील बिना न सधै परमारथ सीलबिना सतसौं न अरूझै ॥
नेम बिना न लहै निहचै पद प्रेम बिना रस रीति न बूझै ।
ध्यान बिना न थंमै मनकी गति ग्यान बिना सिवपंथ न सूझै ॥
ग्यान उदै जिनके घट अंतर जोति जगी मति होत न मैली ।
वाहिज दिष्टि मिटी जिन्हके हिय आतम ध्यान कला विधिफैली ॥
जे जड चेतन भिन्न लखैं सुविवेक लियैं परखैं गुन थैली ।
ते जगमे परमारथ जानि गहैं रुचि मान अध्यातम शैली ॥

आगे इसी अर्थका उपदेश करनेको गाथा कहते हैं—

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं बहू वि ण लहंते ।
तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥२०५

ज्ञानगुणेन विहीना एतत्तु पदं बहवोऽपि न लभंते ।
तद्गृहाण नियममेतद्यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षम् ॥२०५॥

अर्थ—हे भव्य यदि तूं संपूर्ण रूपसे कर्मका मोक्ष करना चाहता है तो ज्ञानको नियमसे ग्रहण कर क्योंकि जो ज्ञान-गुणसे रहित हैं वे नाना प्रकारके कर्म करते हैं, तो भी इस ज्ञानस्वरूप पदको नहीं पा सकते हैं। यहां आचार्यका यही उपदेश है कि मोक्ष ज्ञानहीसे होता है, कर्मसे नहीं. इसलिये मोक्षार्थीको ज्ञानका ही सेवन करना चाहिये। इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

द्रुतविलम्बितच्छंद—

पदमिदं ननु कर्म दुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल ।

तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सकलं जगत् ॥

अर्थ—अहो भव्यजीव हो—यह ज्ञानमय पद कर्मसे तो दुष्प्राप्य है, केवल स्वाभाविक ज्ञानकी कलासे ही सुलभ है। यह निश्चयसे जानो। इसलिये अपनी निजज्ञानकी कलाके बलसे इस ज्ञानका अभ्यास करनेके लिये सारा संसार अभ्यास करने का प्रयत्न करो।

बहुविधि क्रिया कलेससौं सिवपद लहै न कोइ।
ज्ञान कला परगाससौं सहज मोख पद होइ ॥
ज्ञान कला घट घट बसै जोग जुगति के पार।
निज निज कला उदोत करि मुकत होइ संसार ॥१११॥

फिर इसी उपदेशको विशेषतासे कहते हैं—

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि।
एदेण होदि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥ २०६॥

एतस्मिन् रतो नित्यं सन्तुष्टो भव नित्यमेतस्मिन्।
एतेन भव तृप्तो भविष्यति तवोत्तमं सौख्यम् ॥ २०६ ॥

अर्थ—भो भव्य प्राणी-तू इस ज्ञानमें निरंतर रत हो, रुचि-पूर्वक लीन हो, इसीमें नित्य संतुष्ट हो, अन्य कुछ भी कल्याण-कारी नहीं है, इसीमें तृप्ति करो, अन्य वस्तुकी चाहना नहीं रहनी चाहिये, ऐसा करनेसे ही तुझे उत्तम सुख प्राप्त होगा। भाव ये है कि ज्ञान स्वरूप आत्मामें लीन होना, इसीमें संतुष्ट रहना, इसीमें तृप्ति होना, यही परमध्यान है। इसीसे वर्तमान का आनंद मिलता है और लगता ही संपूर्ण ज्ञानानंद स्वरूप केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। ऐसे सुखको ऐसा करने वाला ही जानता है। दूसरेका इसमें प्रवेश नहीं है।

इसी महिमाको तथा अगले कथनकी सूचना रूप कलश

काव्य कहते हैं–

उपजातिच्छंद—

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात् ।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ॥१२॥

अर्थ–चैतन्य मात्र ही है चिन्तामणि जिसकी, तथा दूसरे के चिन्तवनमें नहीं आने वाली है शक्ति जिसकी, ऐसा ज्ञानी स्वयं ही आप देव है। जो ज्ञानी संपूर्ण प्रयोजनोंकी सिद्धि करने वाला है, उसको अन्यके परिग्रहसे क्या प्रयोजन है ? कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

विशेषार्थ—यह ज्ञानस्वरूप आत्मा अनंत शक्तिका धारक वांछित कार्यकी सिद्धि करने वाला आप देव है, इसलिये सर्व प्रयोजनोंकी सिद्धि हो जानेसे ज्ञानीको अन्यके परिग्रहके सेवन करनेसे क्या साध्य हो सकता है ? ऐसा ये निश्चय नयका उपदेश जानना चाहिये।

अनुभव चिन्तामनि रतन जाके हिय परगास।
सो पुनीत सिव पद लहै दहै चतुरगति वास॥
दहै चतुरगतिवास आस धरि क्रिया न मंडै।
नूतन बंध निरोध पुव्वकृत कर्म विहंडै॥
ताकै न गिनु विकार न गिनु बहु भार न गनु भव।
जाकै हिरदै मांहि रतन चिन्तामनि अनभव॥१२॥

प्रश्न—ज्ञानी परको ग्रहण क्यों नहीं करता है ? इसका उत्तर रूप गाथा कहते हैं—

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवइ दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णिययं वियाणंतो॥२०७॥

को नाम भणेद् वुधः परद्रव्य ममेदं भवति द्रव्यम्।

आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन् ॥२०७॥

अर्थ—ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो ऐसा कहे कि ये पर द्रव्य मेरा है। जो ज्ञानी अपने आत्माहीको अपना परिग्रह जानने वाला है, वह ज्ञानी तो ऐसा कहता नहीं है, जैसे-संसारमें यह रीति है कि कोई समझदार मनुष्य परकी वस्तुको अपनी नहीं मानता, इसलिये उसको ग्रहण भी नहीं करता, जो चीज अपनी होती है, उसीको ग्रहण करता है, उसी तरह ज्ञानी आत्मा भी अपने स्वभाव ही को अपना धन मानता है, परकी वस्तुको अपनी नहीं मानता इसलिये उसको ग्रहण भी नही करता है।

इसी अर्थको युक्तिसे दृढ करते हैं—

मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झं ॥ २०८॥

मम परिग्रहो यदि ततोऽहमजीवतां तु गच्छेयम्।
ज्ञातैवाहं यस्मात्तस्मान्न परिग्रहो मम ॥ २०८ ॥

अर्थ-ज्ञानी ऐसा जानता है कि यदि परद्रव्य मेरा परिग्रह हो जाय तो मैं भी अजीवपनेको प्राप्त होजाऊं, क्योंकि मैं तो ज्ञाताही हू इसलिये मेरा अन्य द्रव्य कुछ भी परिग्रह नहीं हो सकता है। नियम ये है कि जीवका भाव तो जीवही है, उसीके साथ जीवका स्वस्वामि संबंध है, और अजीव का भाव अजीव ही होता है उसका भी उसीके साथ स्वस्वामि संबंध होता है, ऐसी दशामें यदि जीव के अजीवका परिग्रह माना जायगा तो जीव भी अजीव होजायगा। इसलिये जीवके परमार्थसे अजीवका संबध मानना मिथ्या है। ज्ञानीके ऐसी मिथ्या बुद्धि नहीं होती, ज्ञानी तो ऐसाही मानता है कि पर द्रव्यका मेरे साथ कुछ भी संबंध नहीं है, मैं तो इनका एक ज्ञाताही हू।

अब बतलाते हैं कि ऐसा माननेसे ज्ञानीकें परद्रव्यके बिगडने सुधरनेमें समता भाव होता है—

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं
जह्मा तह्मा गच्छदु तहवि हु ण परिग्गहो मज्झं ।२०९

छिद्यतां भिद्यतां वा नीयतां वाऽथवा यातु विप्रलयम् ।
यस्मात्तस्माद्गच्छतु तथापि खलु न परिग्रहो मम ॥ २०९ ॥

अर्थ—ज्ञानी ऐसा विचार करता है कि परद्रव्य चाहे छिद जाओ, भिद जाओ, कोई लेजाओ अथवा नष्ट हो जाओ कुछ भी हो जाओ तो भी परद्रव्य निश्चयसे मेरा परिग्रह नहीं हो सकता है। भाव य है कि ज्ञानीको परद्रव्यके बिगडने सुधरनका कुछ भी हर्ष वा विषाद नहीं होता है। इसी अर्थका कलशरूप तथा आगेके कथनका सूचक श्लोक कहते हैं—

वसततिलकाछंद

इत्थ परिग्रहमपास्य समस्तमेव सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम् ।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद्भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥

अर्थ—इस प्रकार सामान्य रूपसे सपूर्ण परिग्रहको छोडकर आपापरके अविवेकका कारण ऐसे अज्ञानके छोडनेका है मन जिसका, ऐसा ज्ञानी पुरुष उस परिग्रहका अलग परिहार करने की प्रवृत्ति करता है।

विशेषार्थ—स्वपर के अविवेक का कारण तो अज्ञान है, उसीसे परद्रव्यका ग्रहण होता है, इसलिये ज्ञानीको पहिले गाथामें तो सामान्य रूपसे परीग्रहका त्याग करना बतलाया है। अब अज्ञानके छोडनेके लिये विशेष रूपसे अलग २ नाम लेकर त्याग करना कहा है।

आतम सुभाउ परभाउकी न सुधि ताकौ जाकौ मन मगन
परिग्रह मैं रह्यौ है।

एसौ अविवेकको निधान परिग्रहराग ताकौ त्याग इहांलौं
समुच्चै रूप कह्यौ है ॥
अब निजपर भ्रमदूर करिवेकौं काज बहुरौ सुगुरु उपदेसकौ
उमह्यौ है ।
परिग्रह त्याग परिग्रहकौ विशेष अंग गहिवेकौ उद्यम उदार
लहलह्यौ है ॥ १३ ॥

दोहा—त्याग जोग परवस्तुसब यह सामान्य विचार।
विविध वस्तु नाना विरति यह बिसेस विस्तार ॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि धम्मं
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होई ॥२१०॥

अपरिग्रहो निच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति धर्मम् ।
अपरिग्रहस्तु धर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२१०॥

अर्थ-ज्ञानी तो परिग्रहरहित ही है, क्यों कि "ज्ञानी परिग्रहकी इच्छासे रहित है" ऐसा कहा गया है। इसलिये धर्मकी इच्छा भी नहीं करता है, अतएव धर्मका भी अपरिग्रह ही है, ज्ञानी तो उस धर्मका ज्ञायक ही है।

ज्ञानीके धर्मकी तरह अधर्म भी परिग्रह नहीं है—

अपरिगहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदी ॥२२१

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यधर्म्मम् ।
अपरिग्रहोऽधर्मस्य ज्ञायकस्तु तेन स भवति ॥२११॥

अर्थ—ज्ञानी इच्छा रहित है, इससे परिग्रह रहित कहा गया है, ज्ञानी अधर्मको भी नहीं चाहता है, अतएव अधर्मका परिग्रह भी ज्ञानीके नहीं है इसीसे ज्ञानी तो उस अधर्मका केवल ज्ञायकही है। इच्छाही परिग्रह है, जिसके इच्छा नहीं है उसके

परिग्रह भी नहीं है। इच्छा अज्ञान जन्य भाव है, सो अज्ञानमय भाव तो ज्ञानीके होताही नहीं है। ज्ञानीके तो ज्ञानमय भावही होता है, इसलिये अज्ञानमय भाव जो इच्छा, उस इच्छाके अभावसे अधर्म को भी नहीं चाहता हैं, इससे ज्ञानीके अधर्मका भी परिग्रह नहीं है।

ज्ञानीकें आहार रूप परिग्रह भी नहीं है—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे असणं
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदी ॥

अपारिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यशनम्।
अपारिग्रहस्त्वशनस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २१२ ॥

अर्थ—जो इच्छा रहित होता है वह परिग्रह रहित होता है, ऐसा पहिले कहा जा चुका है। ज्ञानी अशन-भोजनको भी नहीं चाहता है इससे ज्ञानीकें अशनका परिग्रह भी नहीं है, केवल उसका ज्ञाता ही है।

विशेषार्थ—ज्ञानीकें आहारकी भी इच्छा नहीं है इससे ज्ञानी का आहार करना परिग्रहमें नहीं है।

प्रश्न—आहार तो मुनिजन भी करते हैं उनकें इच्छा होती है या नहीं ? यदि नहीं तो विना इच्छा आहार कैसे करते होंगे ?

उत्तर—असाता वेदनीय कर्मके उदयसे तो जठराग्निरूप क्षुधा उत्पन्न होती है और वीर्यान्तरायकर्मके उदयसे क्षुधाकी वेदना सही नहीं जाती है तथा चरित्रमोहके उदयसे आहारग्रहण करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। ऐसी इच्छाको ज्ञानी कर्मके उदयका कार्य जानता है। उस इच्छाको रोगवत् जानकर उसको दूर करना चाहता है इच्छासे अनुराग रूप इच्छा नहीं है। ऐसी इच्छा नहीं है कि मेरी यह इच्छा सदा रहे इससे ज्ञानीके अज्ञान मय इच्छाका अभाव है। कर्मजन्य इच्छाका ज्ञानीकें स्वामीपन नहीं है। केवल

ज्ञायक भावही है।

आगे बतलाते हैं ज्ञानीकें पानका भी परिग्रह नहीं है—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे पाणं।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदी॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति पानम्।
अपरिग्रहस्तु पानस्य ज्ञायकस्तेन स भवति॥ २१३॥

अर्थ—इच्छा रहितको अपरिग्रही कहा है, ज्ञानी जलादि पान की इच्छा नहीं करता है इसलिये पानका परिग्रह भी ज्ञानीकें नहीं है। ज्ञानी तो केवल उसका ज्ञायक ही है। शेष आहारवत् जानना चाहिये।

ऐसेही ज्ञानी अनेक परजन्य भावोंको भी नहीं चाहता है ऐसा बतलानेको कहते हैं—

एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ॥ २१४॥

एवमादिकांस्तु विविधान्सर्वान्भावांश्च नेच्छति ज्ञानी।
ज्ञायकभावो नियतो निरालम्बस्तु सर्वत्र॥ २१४॥

अर्थ—इस प्रकारको आदि लेकर अन्य भी बहुत प्रकारके जो परद्रव्यके स्वभाव हैं उन सबको भी ज्ञानी नहीं चाहता है इससे ज्ञानीकें संपूर्ण परद्रव्योंके भावोंका परिग्रह नहीं है। इस प्रकार ज्ञानीका अत्यंत निष्परिग्रहपना सिद्ध होता है। नियमसे आप ज्ञायकभाव है इससे सर्व पदार्थोंमें निरालंब है।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—

स्वागताछन्द—

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकाज्ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोग।
तद्भवत्वथ च रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रहभावम्॥१४॥

अर्थ—पूर्वमें बांधे हुए कर्मोंका जब उदय आता है, तब उपभोगकी सामग्री प्राप्त हो जाती है, उसका जब कोई अज्ञानमय रागभावसे भोग करता है तब वे परिग्रहपनेको प्राप्त होते हैं। लेकिन ज्ञानीकें तो अज्ञानमय रागभावका अभाव ही है, केवल उदय आयेको भोगता मात्र है, वह तो यह जानता है कि जो कर्म पूर्वमें बांधा था वह उदयमें आगया, चलो पिंड छूटा, आगेकी इच्छा नहीं करता है, इस प्रकार जब उनसे रागरूप इच्छा नहीं करता है तब वे परिग्रह भी नहीं हो सकते हैं।

पूरव करम उदै रस भुंजै ग्यान मगन ममता न प्रयुंजै।
उरमैं उदासीनता लहिये यौं बुध परिग्रहवंत न कहिये ॥१४॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानीकें त्रिकाल परिग्रह नहीं है—

उप्पण्णोदयभोगो वियोगबुद्धिए तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागयस्स य उदयस्स ण कुव्वए णाणी २१५

उत्पन्नोदयभोगो वियोगबुद्ध्या तस्य स नित्यम्।
कांक्षामनागतस्य चोदयस्य न करोति ज्ञानी ॥२१५॥

अर्थ—उत्पन्न हुए वर्तमानकालके उदयके भोग तो ज्ञानीकें निरंतर वियोगकी बुद्धिसे वर्तते हैं, इससे वे परिग्रह रूप नहीं हैं। आगे उदय होने वाले भोगोंकी ज्ञानीकें इच्छा नही है इसलिये अनागतकी अपेक्षा परिग्रहभी नही है। अतीत काल तो वीत ही गया, ये तो विना कहे सामर्थ्यसे ही जाना जाता है कि अतीतका भी ज्ञानीके परिग्रह नहीं है, क्योंकि वीते हुएकी वांछा ज्ञानीकें कैसे हो सकती है? मतलब ऐसा है कि अतीत तो वीत ही गया, अनागत (भविष्यत) की इच्छा नहीं है और वर्तमानमें राग नहीं है इसलिये ज्ञानीकें तीनों काल सम्बन्धी कर्मके उदयके भोगनेमें परिग्रह नहीं है। वर्तमानमें जो कारण मिलाता

है सो पीडा न सही जाय उसीका रोगवत् इलाज करता है ये तो निर्बलताका दोष है ।

प्रश्न—अनागत कालके कर्मके उदयको ज्ञानी क्यों नहीं चाहता है ? इसका उत्तर—

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उभयं
तं जाणगो दु णाणी उभयं पि ण कंखइ कयावि॥२१६

यो वेदयते वेद्यते समये समये विनश्यत्युभयम् ।
तत् ज्ञायकस्तु ज्ञान्युभयमपि न कांक्षति कदापि ॥२१६॥

अर्थ—अनुभव करनेवाले भावको वेदकभाव कहते हैं । जो अनुभव करने योग्य भाव है वह वेद्यभाव कहलाता है । इस प्रकार आत्माके वेद्य वेदक रूपसे दो भाव होते हैं, वे दोनों अनुक्रमसे होते हैं, एक साथ नहीं होते हैं, और वे दोनों ही भाव समय समय पर नष्ट हो जाते हैं । आत्मा दोनों भावोंमें नित्य है, इससे ज्ञानी आत्मा दोनों भावोंका केवल ज्ञायकही है, दोनों भावोंका किसी समयभी चाहने वाला नहीं है ।

प्रश्न—आत्मा तो नित्य है इसलिये दोनों भावोंका वेदनेवाला क्यों नहीं कहते हो ?

उत्तर—वेद्य वेदक भाव तो विभाव हैं, आत्माके स्वभाव नहीं हैं सो जिसकी इच्छा की जाती है ऐसा वेद्यभाव तो वेदक भावके होनेक पहिलेही नष्ट होजाता है । इस प्रकार वांछित भोग तो हुए नहीं फिर ज्ञानी निष्फल वांछा क्यों करे ?

इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—

स्वागताछंद—

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्वेद्यते न खलु कांक्षितमेव ।
तेन काङ्क्षति न किञ्चन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ॥१५

अर्थ—वेद्य वेदक भाव कर्मके निमित्तसे होते हैं, इसलिये वे

स्वभाव नहीं हैं, विभाव हैं, चलायमान हैं, समय २ नष्ट हो जाने वाले हैं। इसलिये इच्छित भावोंको नहीं वेदता है। विद्वान ज्ञानी आगामी किसीभी भोगकी इच्छा नहीं करता है। सभीसे अत्यंत वैराग्य भावको प्राप्त करता है।

भावार्थ—अनुभव गोचर वेद्यवेदक भाव विभाव हैं, उनमें कालका भेद है इससे मिलते नहीं हैं, ऐसी हालतमें आगामी बहुत काल संबंधी की इच्छा ज्ञानी क्यों करेगा?

जेजे मनवांछित विलास भोग जगत मैं ते ते विनसीक सब राखै न रहत हैं।
और जे जे भोग अभिलाष चित्त परिनाम तेऊ विनासीक धाराऱूप ह्वै बहत हैं।
एकता न दुहु मांहि तातै वांछा फुरै नांही ऐसे भ्रमकारजकौं मूरख चहत हैं।
सतत रहैं सचेत परसौं न करैं हेत यातै ग्यानवंतकौं अवंछक कहत हैं॥

संपूर्ण उपभोगोंसे ज्ञानीकें वैराग्य है इसी बातको कहते हैं—

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स ।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जए राओ ॥२१७

बंधोपभोगनिमित्तेष्वध्यवसानोदयेषु ज्ञानिनः ।
संसारदेहविषयेषु नैवोत्पद्यते रागः ॥ २१७ ॥

अर्थ—बंध और उपभोग के निमित्त रूप अध्यवसानके उदय में जो संसार विषयक और देह विषयक हैं उनमें ज्ञानीकें राग उत्पन्न नहीं होता।

भावार्थ—संसार, देह और भोग सम्बन्धी राग, द्वेष, मोह, सुख, दुःखादिक अध्यवसानके उदय हैं, वे नाना द्रव्य जो पुद्गल द्रव्य तथा जीव द्रव्य ऐसे संयोग रूप हुए भाव उनके स्वभाव हैं, ज्ञानीका तो एक ज्ञायक ही स्वभाव है इसलिये ज्ञानी के उनका प्रतिषेध है, ज्ञानीके उनमें राग (प्रीति) नहीं होती।

पर द्रव्य पर भाव तो संसारमें भ्रमण करने के कारण हैं उनसे यदि प्रेम करता है तो ज्ञानी कैसा? इसी अर्थका कलश रूप तथा अगले कथनकी सूचनिकाका श्लोक कहते हैं —

स्वागता छन्द—

ज्ञानिनो नहि परिग्रहभावं कर्मरागरसरिक्ततयैति।
रङ्गयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बाहिर्लुठतीह ॥ १६ ॥

अर्थ—ज्ञानी उस परिग्रह भावसे और राग रूपी रससे रिक्त है, इस तरह कर्म परिग्रहपनेको प्राप्त नहीं होता है, जैसा लोध फिटकरीसे कषायले नहीं किये गये वस्त्रोंमें रंगका लगना नहीं होता हुआ रंग बाह्य ही लोटता है, वस्त्रमें प्रवेश नहीं करता है। मतलब ये है कि जिस प्रकार लोध फिटकरी लगाये बिना वस्त्रमें रंग नहीं चढता है उसी प्रकार ज्ञानीके रागभाव बिना कर्मके उदयका भोग नहीं होता है। इससे परिग्रहपनेको प्राप्त नहीं होता है।

जैसे फिटकडी लोद हरडेकी पुट बिना स्वेतवस्त्र डारिये मजीठ रंग नीरमैं।
भीग्यौ रहै चिरकाल सर्वथा न होइ लाल भेदै नहिं अंतर सुपेदी रहै चीरमैं॥
तैसै समकितवंत राग द्वैष मोह विनु रहै निसिवासर परिग्रहकी भीरमैं।
पूरव करम हरै नूतन न बंध करै जाचै न जगत सुख राचै न शरीरमैं॥
जैसे काहू देशको बसैय बलवंतनर जंगलमेंजाइ मधुछत्ताकौं गहतु है।
वाकौं लिपटांहि चहु ओर मधुमच्छिका पै कंबलकी ओटसौं अडंकित रहतुहै॥
तैसै समकिती सिवसत्ताकौं सरूप साधै उदैकी उपाधिकौं समाधिसी कहतुहै
पहिरै सहजको सनाह मनमैं उछाह ठानै सुखराहउदवेग न लहतु है॥

फिर कहते हैं—

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्सर्वरागरसवर्जनशीलः।
लिप्यते सकल कर्मभिरेषः कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न॥ १७

अर्थ— क्योंकि ज्ञानवान अपने निजरसही से सर्व रागरससे

रहित ऐसे स्वभाववाला है। कर्मके मध्य पडा है तो भी संपूर्ण कर्मोंसे लिप्त नहीं होता है।

ग्यानी ग्यान मगन रहै रागादिक मल खोइ।
चित उदास करनी करै करमबंध नहिं होई॥
मोह महातम मलहरै धरे सुमति परकास।
मुकतिपंथ परगट करै दीपक ग्यान विलास॥ १७॥

आगे इसी अर्थका व्याख्यान गाथामें करते हैं—

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पइ रजएणदु कद्दममज्झे जहा कणयं॥२१८
अण्णाणी पुणरत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएणदु कद्दममज्झे जहा लोहं॥ २१९॥

ज्ञानी रागप्रहायकः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यत।
नो लिप्यते रजसा तु कर्दममध्ये यथा कनकम्॥ २१८॥
अज्ञानी पुना रक्तः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
लिप्यते कर्मरजसा तु कर्ममध्ये यथा लोहम्॥ २१९॥

अर्थ—ज्ञानी सम्पूर्ण द्रव्योंमें रागका छोडने वाला है इसी-लिए कर्मके मध्यमें रहता हुवा भी कर्मरूपी रजसे लिप्त नहीं होता है, जैसे कीचडके अन्दर रहने वाले शुद्ध सुवर्ण (सोना) में कोई नहीं लगती है। अज्ञानी सम्पूर्ण द्रव्योंमें अनुरक्त है, इसलिए कर्मके मध्य रहता हुवा कर्म रूपी रजसे लिप्त होता है, जैसे कीचडमें पडे हुए लोहेमें काई लग जाती है।

भावार्थ—जैसे कीचडमें पडे हुए सुवर्णके काई नहीं लगजाती है उसी प्रकार कर्मके मध्यमें रहने वाला ज्ञानी कर्म रूपी रजसे धूसरित नहीं होता, लेकिन अज्ञानी धूसरित हो जाता है, यही तो ज्ञान और अज्ञानकी महिमा है। अब इस अर्थ

का तथा अगले कथनकी सूचनिकाका कलशरूप काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द—

याद्दक्ताद्दगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः।
कर्तुं नैप कथंचनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते॥
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवंत्संततं।
ज्ञानिन्भुंक्ष्व परापराधजनितो नास्तीह वंधस्तव॥१८॥

अर्थ—इस लोकमें जिस वस्तुका जैसा स्वभाव है उसका उसी रूपका स्वाधीनपना है यह निश्चय है। उस स्वभावको कोई दूसरा अपने स्वभाव रूप करना चाहे तो कभी भी नहीं कर सकता है, इस न्यायसे ज्ञान निरन्तर ज्ञान स्वभाव ही रहता है, ज्ञान अज्ञान रूप कदापि नहीं हो सकता है यह निश्चय है इसलिए हे ज्ञानिन् तूं कर्मके उदय जनित उपभोगको भोग, तेरे परके अपराधसे उत्पन्न हुवा ऐसा कर्मका बंध कदापि नहीं हो सकता है। कहनेका मतलव ये है कि वस्तुके स्वभावको कोई मेंट नहीं सकता। इससे ज्ञान हुए पीछे उस ज्ञानको अज्ञान रूप कोई कर नहीं सकता यह निश्चय है।

जैसो जो दरव तामैं तैसो ही सुभाव सधै कोऊ दर्व काहूकौ सुभाउ न गहतुहै
जैसे संख उज्जल विविध वर्ण माटी भखै माटीसों न दीसै नित उज्जल रहतुहै॥
तैसे ज्ञानवत नानाभोग परिग्रहजोग करत विलास न अज्ञानता लहतुहै।
ग्यानकलादूनी होइ दुंददसा सूनी होइ ऊनी होइ भोथिति बनारसी कहतुहै॥

आगे इसी अर्थको दृष्टांत द्वारा कहते हैं —

भुंजंतस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सए दव्वे।
संखस्स सेयभावो ण वि सक्कइ किण्हगो काऊ॥२२०॥
तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सए दव्वे।
भुंजंतस्स वि णाणं ण सक्कमणाणदं णेदुं॥२२१॥

जइया स एव संखो सेयसहावं तयं पजहिऊण ।
गच्छिज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे २२२॥
तह णाणी विहु जइया णाणसहावं तयं पजाहि ऊण ।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे २२३॥

भुंजानस्यापि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रतानि द्रव्याणि ।
शंखस्य श्वेतभावो नापि शक्यते कृष्णकः कर्तुम् ॥२२०॥
तथा ज्ञानिनोऽपि विविधानि सच्चित्ताचित्तमिश्रतानि द्रव्याणि ।
भुंजानस्यापि ज्ञानं न शक्यमज्ञानतां नेतुम् ॥२२१॥
यदा स एव शंखः श्वेतस्वभावं तकं प्रहाय ।
गच्छेत्कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात् ॥२२२॥
तथा ज्ञान्यपि खलु यदा ज्ञानस्वभावं तकं प्रहाय ।
अज्ञानेन परिणतस्तदाऽज्ञानतां गच्छेत् ॥२२३॥

अर्थ—जैसे शंखका श्वेत स्वभाव है किंन्तु सचित्त, अचित्त, मिश्रित अनेक प्रकारके द्रव्योंको भक्षण करता है तो भी उसका श्वेत स्वभाव काला नहीं होता है । उसी तरह ज्ञानीभी अनेक प्रकारके साचित अचित मिश्र द्रव्योंको भोगता है तो भी उसका ज्ञान अज्ञान रूप नहीं हो सकता है। जैसे वही शंख जिस समय अपने उस श्वेतभावको छोडकर कृष्णभावको प्राप्त होजाता है तब श्वेतभावको छोड देता है, उसी प्रकार ज्ञानीभी जिस समय अपने ज्ञान भावको छोडकर अज्ञानरूप होजाता है उस समय ज्ञानभावको छोडकर अज्ञानी होजाता है। तात्पर्य ये है कि जैसे श्वेत शख दूसरे द्रव्योंके भक्षण से तो काला होता नहीं है जब आपही कालिमारूप परिणमता है तभी काला होता है। उसी प्रकार ज्ञानी उपभोग करनेसे तो अज्ञानी होता नहीं है, जब आपही अज्ञानरूम परिणमता है तब्र अज्ञानी होता है तभी नवीन कर्मोंका

बध करता है। इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द—

ज्ञानिन्कर्म न जातु कर्तुमुचितं किञ्चित् तथाप्युच्यते।
भुङ्क्षे हंत न जातु मे यदि पर दुर्भुक्त एवासि भोः॥
बंधः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते।
ज्ञानं सन्वस बंधमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम्॥१९॥

अर्थ—ज्ञानीको संबोधते हुए कहते हैं कि हे ज्ञानिन् तुझे कभी भी कुछ भी कर्म करना उचित नहीं है तो भी तूं कहता तो ऐसा है कि "पर द्रव्य मेरा कभीभी नहीं है, परन्तु मैं उसका भोगने वाला हूं। इस परसे आचार्य कहते हैं—यह बडा खेद है कि जो पदार्थ तेरा तो है नहीं और तूं उसको भोगता है सो तूं तो बडा खोटा खाने वाला है। रे भाई जो तूं ऐसा कहता है कि "पर द्रव्यके उपभोगसे कर्मोंका बध नहीं होता है ऐसा कहा गया है इसीसे मैं भोगता हूं।" इसमें तेरा क्या अपनी इच्छानुसार वर्ताव नहीं है? तेरी भोगनेकी इच्छा है? तूं ज्ञानरूप होता हुवा यदि अपने स्वरूपमें निवास करै तो बंध न होने पावे, अगर भोगनेकी इच्छा करेगा, तो तू खुद अपराधी होता हुआ अपने अपराधसे कर्म बंधको जरूर प्राप्त होगा।

भावार्थ—ज्ञानीको कर्म तो करनाही उचित नहीं है, इसीलिये आचार्य कहते हैं कि हे ज्ञानिन् जिसको तू पर द्रव्य मानता है फिर भी उसको क्यों भोगता है? ऐसा करना तो योग्य नहीं है, क्योंकि पर द्रव्यके भोगनेवालेको लोकमें चोर अन्यायी कहते हैं। जो उपभोग करते हुएभी बध नहीं कहा है उसका ऐसा अभिप्राय है कि ज्ञानी विना इच्छा परकी बरजोरी से उदय आयेको यदि भोगता है तो उसके बधका अभाव है, अगर आप इच्छा-पूर्वक पर द्रव्यका भोग करेगा तो आप अपराधी हो जावेगा, फिर

कर्मबंध क्यों न होगा?

जौलौं ग्यानकौ उदोत तौलौं नहि बंधहोत बरतै मिथ्यात तब नानाबध होहिहै
ऐसौ भेद सुनिकैं लग्यौ तू विषैभोगनिसौं जोगनिसौं उद्दमकी रीतितें विछोहि है
सुनु भैया संत तूं कहै मैं समकितवंत यहु तो एकत भगवंतको दिरोहि है।
विषैसौं विमुखहोहि अनुभौदसा अरोहि मोखसुखसोहि तोहि एसी मति सोहिहै

चौपाई— ग्यानकला जिनके घट जागी ते जग माहि सहज वैरागी।
ग्यानी मगन विषै सुखमांही यह विपरीत संभवै नाहीं॥

दोहा— ग्यान सकति वैराग्यबल सिवसाधैं समकाल।
ज्यौं लोचन न्यारे रहैं निरखे दोऊ नाल।

इसी अर्थको दृढ करनेको फिर काव्य कहते हैं—

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्।
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः॥
ज्ञान संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा।
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः॥२०॥

अर्थ—निश्चयसे ऐसा जानो कि कर्म अपने करनेवाले कर्त्ता को फलके साथ जबरन तो नहीं जोडता है कि मेरे फलको तूं भोग। किंतु जो कर्मको करता हुवा उसके फलका इच्छुक होता है वही उस कर्मके फलको पालेता है। इसलिये ज्ञानरूप होता हुवा तथा कर्मके फलके त्यागरूप स्वभावका अवलंबी होता हुआ तथा कर्ममें दूर होगई है रागकी रचना जिसकी ऐसा मुनि कर्मको करता हुवाभी कर्मसे नहीं बंधता है।

चौपाई— मूढ करमकौ करता होवै, फल अभिलाषा धरै फल जोवै।
ग्यानी क्रिया करै फल सूनी, लगै न लेप निरजरा दूनी॥

दोहा— बंधै करमसौं मूढ ज्यौं पाटकीट तन पेम।
खुलै करमसौं समकिती गोरख धधा जेम॥ २०॥

आगे इसी अर्थको दृष्टान्त द्वारा दृढ करते हुए कहते हैं—

पुरिसो जह को विइह वित्तिणिमित्तं तु सेवयं रायं।
तो सो वि देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥ २२४॥
एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवये सुहणिमित्त।
तो सो वि देइ कम्मं विविहे भोए सुहुप्पाए ॥ २२५ ॥
जह पुण सो चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवये रायं
तो सो ण देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥ २२६ ॥
एमेव सम्मादिट्ठी विसयत्थं सेवये ण कम्मरयं।
तो सो ण देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२७॥

पुरुषो यथा कोऽपीह वृत्तिनिमित्तं तु सेवते राजानम्।
तत्सोपि ददाति राजा विविधान्भोगान्सुखोत्पादकान् ॥२२४
एवमेव जीवपुरुषः कर्मरजः सेवते सुखनिमित्तम्।
तत्तदपि ददाति कर्म विविधान्भोगान्सुखोत्पादकान् ॥ २२५॥
यथा पुनः स एव पुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानम्।
तत्सोपि न ददाति राजा विविधान्भोगान्सुखोत्पादकान् ॥२२६
एवमेव सम्यग्दृष्टिर्विषयार्थं सेवते न कर्मरजः।
तत्तन्न ददाति कर्म विविधान्भोगान्सुखोत्पादकान् ॥२२७॥

अर्थ—जिस प्रकार इस लोकमें कोई पुरुष जीविकाके लिये राजाकी सेवा करता है और राजा भी उसको सुखके उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकारके भोगोंको देता है। उसी प्रकार जीव नामका पुरुष सुख पानेके लिये कर्मरूपी राजाकी सेवा करता है और वह कर्मभी सुखको उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकारके भोगोंको देता है। जैसे वही पुरुष आजीविकाके लिये राजाकी सेवा नहीं करें वह राजा भी उसको सुख

देनेवाले अनेक प्रकारके भोग नहीं देता है। उसी तरह सम्यग्दृष्टि जीव कर्मरूपी रजको विषयोंको प्राप्त करनेके लिये नहीं सेवता है तो वह कर्म भी उसको सुखके उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकारके भोगोंको नहीं देता है। भाव ये है कि जो फल की इच्छासे कर्म करता है वही उसके फलको प्राप्त कर सकता है, जो विना इच्छाके कर्म करता है, वह उसके फलको नहीं पाता है।

शंका फलकी इच्छाके विना कर्म क्यों करता है? इस शंकाको दूर करनेको काव्य कहते हैं—

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयम्।
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्॥
तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो।
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥२१॥

अर्थ—जिसने कर्मके फलको तो छोड दिया और कर्म करता है, ऐसा तो हमें प्रतीतिमें नहीं आता है, परंतु इसमें कुछ विशेष है—कि इस ज्ञानीके भी कोई कारण से कुछ भी कर्म इसके वशके विना आपडते हैं। उनके आपडनेपर भी यह ज्ञानी निश्चल परम ज्ञानस्वभावमें रहता हुआ कुछ कर्म करता है कि नहीं करता है यह कौन जाने?

सारांश—ज्ञानीके परवशसे कर्म आपडते हैं उसमें भी ज्ञानी ज्ञानसे चलायमान नहीं होता है। उस अवस्थामें यह ज्ञानी कोई कर्म करता है या नहीं कौन जाने? ज्ञानीकी ज्ञानीही जानें। अज्ञानीमें ज्ञानीके परिणामके जाननेकी शक्ति नहीं। अंतरात्मा की दृष्टिको बहिरात्मा क्या जाने।

जे निज पूरवकर्म उदै सुख भुंजत भोग उदास रहैंगे।
जे दुखमें न विलाप करैं निरबैर हियैं तनताप सहैंगे॥

है जिनकै दृढ आतम ग्यान क्रिया करकै फलकौं न चहैंग।
ते सुविच्चछन ग्यायक हैं तिन्हकौं करता हम तौ न कहैंग ॥२१॥
जिनकी सुदृष्टिमें अनिष्ट इष्ट दोऊ सम जिन्हकौं अचार सुविचार सुभ ध्यान है
स्वारथकौं त्यागि जे लगे है परमारथकौं जिन्हकै वनिजमैं न नफा है न ज्यान है।
जिन्हकी समुझिमैं सरीर एसौ मानियत धानकौसौ छीलक कृपानकौ सौ म्यान है।
पारखी पदारथके साखी भ्रम भारतके तेई साधु तिनहीकौ जथारथ ग्यान है ॥

आगे इसी अर्थके समर्थन करनेको कहते हैं कि ज्ञानीके निःशंकित नामा गुण होता है इसीका सूचनिका रूप काव्य कहते हैं—

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते पर
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं ॥
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि ॥२२॥

अर्थ—ऐसा साहस केवल सम्यग्दृष्टि ही कर सकते हैं कि भयसे चलायमान हुए जो तीन लोकके जन उन्होंने छोडा है अपना मार्ग जिससे, ऐसे वज्रपातके पडते हुए भी जो अपने ज्ञानसे चलायमान नहीं होते हैं। जो सम्यग्दृष्टि स्वभावसे ही निर्भय-रूपसे सर्व ही शंकाओंको छोडकर अपने आत्माको ऐसा मानते हैं कि मेरा ज्ञानशरीर बाधाओंसे रहित है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टिके निःशंकितनामा गुण होता है, सो ऐसा वज्रपात होवे कि जिसके गिरनेसे तीनलोकके जीव अपने मार्गसे चलायमान हो जावें, तो भी सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूपको निराबाध ज्ञानशरीर मानता हुवा कभी भी ज्ञानसे चलायमान नहीं होता है। ऐसी शंका नहीं करता है कि इस वज्रपातसे मेरा नाश हो जायगा, वह तो ऐसा विचार करता है कि पर्याय तो स्वभावसे ही नश्वर है।

जम कौ सौ भ्राता दुखदाता है असाता कर्म ताके उदै मूरख न साहस गहतु है
सुरगनिवासी भूमिवासी औ पाताळवासी सब ही कौ तन मन कंपित रहतु है ॥
उरकौ उजारौ न्यारौ देखिये सपत भैसौं डोलत निःसंक भयौ आनंद लहतु है।
सहज सुवीर जाकौ सासतौ सरीर ऐसौ ग्यानी जीव आरज आचारज कहतु हैं ॥

दोहा— इह भव भय परलोक भय मरण वेदना जात।
अनरक्षा अनगुप्त भय अकस्मात भय सात ॥

दसधा परिग्रहवियोग चिंता इह भव दुर्गति गमन भय परलोक मानिये।
प्राननिकौ हरन मरन भै कहावै सोइ रोगादिक कष्ट यह वेदना बखानिये ॥
रक्षक हमारौ कोऊ नांही अनरच्छा भय चोरभै विचार अनगुप्त मन आनिये।
अनचिन्त्यो अब ही अचानक कहा धौं होइ ऐसौ भय अकस्मात जगतमें जानिये ॥

आगे इसी अर्थको गाथामें कहते हैं—

सम्मद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका ॥ २२८ ॥

सम्यग्दृष्टयो जीवा निःशङ्का भवन्ति निर्भयास्तेन
सप्तभयविप्रमुक्ता यस्मात्तस्मात्तु निःशङ्काः ॥२२८॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं उसीसे निर्भय होते हैं, क्योंकि वे सप्त भयसे रहित होते हैं इसीसे निशंक होते हैं।

अब सप्त भयका कलशरूप काव्य कहते हैं उनमेंसे इस लोक और परलोक भयका काव्य कहते हैं—

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः ॥
लोको यन्न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो,
निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥२३॥

अर्थ—यह भिन्न आत्माका चैतन्य स्वरूप लोक है सो शाश्वत है, एक है, सकल जीवोंके प्रगट है, जिसको यह ज्ञानी

आत्माही स्वयेव एकाकी केवल अवलोकन करता है। इस विषय में ज्ञानी ऐसा विचार करता है कि–हे आत्मन्, यह चैतन्य लोक ही तेरा लोक है, उससे अन्य लोक परलोक है, तेरा नहीं है। ऐसा विचार करनेवाले उस ज्ञानीके इस लोक और परलोकका भय क्यों होगा ? नहीं होगा इसलिये ज्ञानी निःशक होता हुआ निरंतर आपको स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप अनुभव करता है।

भावार्थ–इस लोकमें लोगोंसे भय होना कि यह लोग न मालूम मेरा क्या बिगाड करेंगे ऐसे भयको इहलोक भय कहते हैं। परलोकमें नहीं मालूम मेरा क्या होगा–ऐसे भयका होना सो परलोक भय है। ज्ञानी तो ऐसा जानता है कि मेरा लोक तो चैतन्य स्वरूप एक है, यह सभीको प्रगट है, इसके सिवाय जो है सो परलोक है। मेरा लोक किसीके बिगाड बिगडता नहीं है, ऐसा विचार करने वाला ज्ञानी आपको स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप ही अनुभव करता है। उसको इसलोक परलोक संबंधी भय क्या हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता है।

नखसिख मित परवान ग्यान अवगाह निरक्खत—
आतम अंग अभंग संग पर धन इम अक्खत।
छिनभंगुर संसार विभव परिवार भार जसु
जहां उतपति तहां प्रलय जासु संजोग विरह तसु।
परिग्रह प्रपंच परगट परखि इह भव भय उपजै न चित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज ग्यानरूप निरखत नित॥ २३॥
ग्यानचक्र मम लोक जासु अवलोक मोख सुख
इतर लोक मम नांहि नांहि जिस मांहि दोख दुख।
पुन्न सुगतिदातार पाप दुर्गति पददायक
दोऊ खंडित खानि मैं अखंडित सिवनायक।
इहविध विचार परलोक भय नहि व्यापै वरतै सुखित।

ग्यानी निसंक निकलंक निज ग्यान रूप निरखत नित ॥

अब वेदनाके भयनिवारणका काव्य कहते हैं—

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते ।
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः ।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो ।
निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ २४ ॥

अर्थ—वेदना नाम सुख दुखके भोगनेका है, सो ज्ञानीकें एक अपना ज्ञानमात्र स्वरूपकाभोगना ही वेदना है, और वह वेदना निराकुल होकर एक ज्ञान स्वरूप आप आपहीके द्वारा ज्ञान भावसे ही वेदने योग्य है। और आप ही वेदने वाला है, ऐसे अभेदस्वरूप वेद्यवेदक भावके बलसे निरंतर निश्चल अनुभव करना चाहिये। ज्ञानीकें अन्यसे होने वाली वेदना ही नहीं होती है। इसलिये ज्ञानीकें उस पराश्रित वेदनाका भय क्यों होने लगा? अतएव ज्ञानी तो निःशंक होता हुवा अपनें स्वाभाविक ज्ञानभावका सदा अनुभव करता है।

फरस जीभ नासिका नयन अरु श्रवन अच्छ इति ।
मन वच तन बल तीन स्वास उस्वास आयु थिति ।
ये दस प्रान विनास ताहि जग मरन कहिज्जइ
ग्यान प्रान संजुगत जीव तिहुंकाल न छिज्जइ ॥
यह चित करत नहिं मरन भय नय प्रवांन जिनवर कथित ।
ग्यानी निशंक निकलंक निज ग्यान रूप निरखंत नित ॥ २४ ॥

अब अरक्षा भयका काव्य कहते हैं—

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः ॥
अस्यात्राणमतो न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ २५ ॥

अर्थ—ज्ञानी ऐसा विचार करता है कि वस्तु तो सत्स्वरूप है उसका नाश कभी नहीं हो सकता है, ऐसी वस्तुकी मर्यादा है। ज्ञान तो आप सत्स्वरूप वस्तु है, उसकी अन्यके द्वारा क्या रक्षा होगी ? उस ज्ञानकी अरक्षा होने रूप कुछ भी वस्तु नहीं है, फिर ज्ञानीको उस अरक्षाका भय क्यों होगा ! अर्थात् नहीं होगा। ज्ञानी तो अपने स्वाभाविक ज्ञान स्वरूपका निःशंक होता हुआ सदा आप खुद अनुभव करता है।

वेदनवारो जीव जाहि वेदत सोउ जिय।
यह वेदना अभग सु तौ मम अंग नाहि बिय।
करम वेदना दुविध एक सुखमय दुतीय दुख
दोऊ मोहविकार पुग्गलाकार बाहिरमुख।
जब यह विवेक मन मंहि धरत तब न वेदना भय विदित
ग्यानी निसंक निकलक निज ग्यान रूप निरखंत नित ॥ २५ ॥

अगुप्तिभयका काव्य कहते हैं—

स्व रूप किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपेण य-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीःकुतो ज्ञानिनो
निःशंकःसतत स्वय स सहज ज्ञान सदा विन्दति ॥ २६ ॥

अर्थ—ज्ञानी ऐसा विचार करता है कि वस्तुका निज रूपही परमगुप्ति है, उसमें कोई भी पदार्थ प्रवेश नहीं कर सकता है। ज्ञान पुरुषका स्वरूप है, और वह अकृत्रिम है। इससे इसकी अगुप्ति कुछ भी वस्तु नहीं है। ज्ञानी को अगुप्तिका कुछ भी भय नहीं होता है। इसीसे ज्ञानी निःशंक होता हुआ निरतर आप स्वाभाविक अपने ज्ञानभावका सदा अनुभव करता है। गुप्तिनाम जिसमें किसीका प्रवेश न हो सके ऐसे गढ दुर्गादिकका है उसमें यह प्राणी निर्भय होकर बैठता है। जो प्रदेश ऐसा न होकर चौडा हो उसको अगुप्ति कहते हैं। ऐसे

अगुप्त स्थानमें रहने वाले प्राणीको भय हो सकता है। ज्ञानी तो ऐसा अनुभव करता है कि-जो वस्तुका निजस्वरूप है परमार्थसे उसमें दूसरी वस्तुका प्रवेश नहीं होता है यही परमगुप्ति है। पुरुषका स्वरूप ज्ञान है, उसमें किसीका प्रवेश नहीं हो सकता है इसलिये ज्ञानीको अगुप्तिका भय क्यों होगा?

जो स्ववस्तु सत्ता सरूप जग महि त्रिकालगत।
तासु बिनास न होत सहज निहचै प्रवान-मत॥
सो मम आतम दरव सरवथा नहि सहाय धर।
तिहि कारन रच्छक न होइ भच्छक न कोइ पर॥
जब इहि प्रकार निरधार किय तब अनरच्छा भय नसित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज ग्यानरूप निरखंत नित॥ २६॥

अब मरण भयका काव्य कहते हैं—

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशंकःसततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति॥ २७॥

अर्थ—ज्ञानी ऐसा विचार करता है कि "प्राणोंका उच्छेद होना ही मरण है" निश्चयसे आत्माका प्राण तो ज्ञान है और वह ज्ञान स्वयमेव शाश्वता है, इसलिये ज्ञानका कभी उच्छेद नहीं होता है, जब ज्ञानका उच्छेद नहीं होता, तो आत्माका मरण भी नहीं हो सकता है। ज्ञानी जब ऐसा विचार करता है तब उसको मरणका भय किससे हो सकता है? इसीसे ज्ञानी निःशंक होता हुआ सदा अपने स्वाभाविक ज्ञानभावका आप अनुभव करता है।

परम रूप परतच्छ जासु लच्छन चिन्मंडित।
पर प्रवेस तहां नाहि माहि महि अगम अखंडित॥
सो मम रूप अनूप अकृत अनमिट अटूट धन।

ताहि चौर किम गहै ठौर नहि लहै और जन ॥
चितवत एम धरि ध्यान जब तब अगुप्त भय उपसमित ।
ग्यानी निसंक निकलक निज ग्यानरूप निरखत नित ॥ २७ ॥

अब आकस्मिक भयका काव्य कहते हैं—

एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः ।
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशंकःसतत स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ २८ ॥

अर्थ—जो कुछ अनुभव में न आया हुआ अकस्मात प्रगट होने वाला भयानक पदार्थ है उससे प्राणीको भय उत्पन्न होता है, इसीको अकस्मात भय कहते हैं। इस अकस्मात भयके विषयमें ज्ञानी ऐसा विचार करता है कि ज्ञान तो एक है, अनादि और अनंत है, अचल है, तथा स्वयं सिद्ध है, ये तो जबतक है तबतक वही है, इसमें दूसरेका उदय नहीं है। अतएव इसमें सहसा कुछ उत्पन्न हो जाय ऐसा नहीं है। ऐसा विचार करने वाले ज्ञानीको अकस्मात भय किससे हो सकता है ? किसीसे भी नहीं। इसलिये ज्ञानीतो निःशंक होता हुवा निरंतर अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वभाव का ही अनुभव करता है। उसको अकस्मात भय किससे हो सकता है।

सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध सहज सुसमृद्ध सिद्ध सम ।
अलख अनादि अनत अतुल अविचल सरूप मम ॥
चिदाविलास परगास वीतविकलप सुख थानक ।
जहां दुविधा नहि कोइ होइ तहा कछु न अचानक ॥
जब यह विचार उपजत तब अकस्मात भय नहिं उदित ।
ग्यानी निशक निकलक निज ग्यानरूप निरखंत नित ॥ २८ ॥

अब कहते हैं कि सम्यग्दष्टिके निःशंकितादि चिन्ह है सो कर्मोंकी निर्जरा करने वाले हैं । उसके शंकादिसे

बंध नहीं होता है। इस सूचनाका काव्य—

मन्दाक्रान्ता छद—

टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः।
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म ॥
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति वन्धः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥ २९ ॥

अर्थ—क्योंकि सम्यग्दृष्टिके निःशंकित आदिक चिन्ह संपूर्ण कर्मोंकी निर्जरा करते हैं, इसलिये इसके कर्मोंका उदय होते हुए भी नवीन कर्मोंका थोडा भी बंध नहीं होता है, जिन कर्मोंका पहिले बंध हुआ था उनके उदयको भोगता हुवा नियमसे उनकी निर्जराही करता है। सम्यग्दृष्टि तो टंकोत्कीर्णवत् एक स्वभाव रूप अपने निजरससे परिपूर्ण ज्ञान सर्वस्वका भोगने वाला है-आस्वादक है। भाव ये है कि सम्यग्दृष्टिने पहिले भयादि प्रकृतियां बांधी थीं-उन्हींके उदयको भोगता है, फिर भी उसके निःशंकादिक गुण रहते ही हैं। और वे गुण पूर्ववद्ध कर्मोंकी निर्जरा करते हैं। सम्यग्दृष्टि शंकादिकसे होने वाला बंध नहीं करता है।

जो परगुन त्यागंत सुद्ध निज गुन गहंत ध्रुव।
विमल ज्ञान अंकूर जासु घटमहि प्रकास हुव ॥
जो पूरव कृत कर्म निरजरा धार वहावत।
जो नवबंध निरोध मोख मारग मुख धावत ॥
निःसंकतादि जस अष्ट गुन अष्टकर्म अरि संहरत।
सो पुरुष विचच्छन तासु पद बनारसी वंदन करत ॥ २८ ॥

सोरठ—प्रथम निससे जान दुतिय अवछित परिनमन।
तृतिय अंग अगिलानि निर्मल दृष्टि चतुर्थ गुन ॥
पंच अकथ परदोस थिरीकरन छट्टम सहज।
सप्तम वच्छल पोष अष्टम अंग प्रभावना ॥

धर्ममैं न संसै सुभ कर्मफलकी न इच्छा असुभकौ देखि न
गिलानि आनै चितमै।
सांची दृष्टि राखै काहू प्राणीकौ न दोख भाखै चंचलता
भानि तिथि ठानै बोध चित्तमैं
प्यार निजरूपसौ उछाहकी तरग उठै एइ आठौ अंग जब जागै समकितमैं।
ताहि समकितकौं धरै सो समकितवत वहै मोख पावै जो न आवै फिर इतमैं ॥

अब निःशंकित अगकी गाथा कहते हैं—

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २२९ ॥

यश्चतुरोऽपि पादान् छिनत्ति तान्कर्मबंधमोहकरान्
स निःशंकश्चेतायिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २२९ ॥

अर्थ—जो आत्मा कर्मबंधके कारण मोहको करने वाले मिथ्यात्वादि भावरूप चार पायोंको निःशंकित होकर काट देता है वह आत्मा निःशंकित सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टिकें कर्मका उदय होता है, लेकिन सम्यग्दृष्टि उस उदय आये हुए कर्मका स्वामी नहीं बनता है। इसलिये भय प्रकृतिके उदय आने पर भी शंकाके अभावसे स्वरूप से च्युत नहीं होता है। निःशंक ही रहता है। इसीसे इसके शंकाकृत बंध नहीं होता है। कर्म रस देकर खिर जाते हैं।

अब निःकांक्षित गुणको कहते हैं—

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३० ॥

यस्तु न करोति कांक्षां कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु।
स निष्काङ्क्षश्चेतायिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३० ॥

अर्थ—जो आत्मा कर्मके फलोंमें तथा सर्व धर्मोंमें बांछा नहीं करताहै, वह चेतयिता—आत्मा निःकांक्षित गुणवाला सम्यग्दृष्टि कहलाता है। बांछाके अभावमें निर्बांछक है, इसलिये इस सम्यग्दृष्टिके कांक्षासे होने वाला बंध नहीं होता है। केवल निर्जराही होती है।

आगे निर्विचिकित्सा गुणको कहते हैं—

जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥

यो न करोति जुगुप्सां चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणाम्।
स खलु निर्विचिकित्सः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः॥ २३१॥

अर्थ—जो जीव सम्पूर्ण वस्तुओंके धर्मोंकी जुगुप्सा—ग्लानि नहीं करता है, वह जीव निश्चयसे विचिकित्सा दोष रहित सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुके धर्म जो क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि भाव तथा विष्टा आदि मलिन द्रव्य हैं, उनमें ग्लानि नहीं करता है। उसके जो जुगुप्सा नामकी कर्म प्रकृतिका उदय होता है उसका वह कर्ता नहीं होता है, इससे जुगुप्सासे होने वाला कर्म बंध भी इसके नहीं होता है, केवल प्रकृति रस दे कर खिर जाती है।

अब अमूढदृष्टि अंगकी गाथा कहते हैं—

जो हवइ असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठि सम्मादिट्ठि मुणेयव्वो॥२३२॥

यो भवत्यसम्मूढश्चेतायिता सद्दृष्टिः सर्वभावेषु।
स खल्वमूढदृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः॥ २३२॥

अर्थ—जो जीव सब भावोंमें मूढ नहीं होता है वस्तुको यथार्थ जानता है सो चेतयिता सम्यग्दृष्टि जीव निश्चयसे असंमूढ

है। सम्यग्दृष्टि जीव सब पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जानता है, उसमें राग द्वेष मोहके अभावसे अयथार्थ दृष्टि नही करता है। चारित्रमोह कर्मके उदयसे जो इष्टानिष्ट भाव उत्पन्न होते हैं उनको कर्मके उदयकी वरजोरी जानकर उन भावोंका कर्ता नहीं होता है, इससे मूढदृष्टिसे किया हुवा कर्मबंध नहीं होता है। केवल कर्मोंकी निर्जरा ही करता है।

अब उपगूहन गुणकी गाथा कहते हैं—

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणकारी सम्माइट्ठी मुणेयव्वो ॥२३३॥

यःसिद्धभक्तियुक्त उपगूहकस्तु सर्वधर्माणाम्।
स उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्य: ॥ २३३ ॥

अर्थ–जो सिद्धोंकी भक्ति करने वाला हो और अन्य संपूर्ण धर्मोंका गोपने वालाहो उसको उपगूहन अंगधारी शुद्ध सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। उपगूहन नाम छिपानेका है, सो निश्चयनयकी प्रधानतासे ऐसा कहा है कि जो अपना उपयोग सिद्धभक्तिमें लगानेवाला होता है तथा अन्य धर्मोंका उपगूहक होता है वही उपगूहन अंगका धारी होता है। क्योंकि जिसने अपने उपयोगको सिद्धभक्तिमें लगाया, उसका उपयोग अन्य धर्मोंमें लग नहीं सकता, उसने तो सर्वही धर्म छिपाये तब दुर्बलतासे जो कर्मबंध होताथा वह अब नहीं होता है केवल निर्जरा ही होती है।

आगे स्थितिकरण गुणको कहते हैं—

उम्मग्गं गच्छंतं सगंपि मग्गे ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३४

उन्मार्गं गच्छंतं स्वकमपि मार्गे स्थापयति यश्चेतायिता ।
स स्थितिकरणयुक्तः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३४ ॥

अर्थ—जो जीव अपने आत्माको भी उन्मार्ग चलनेसे विमुख-कर सन्मार्गमें स्थापित करता है वह चेतायिता स्थितिकरण गुणयुक्त सम्यग्दृष्टि है ऐसा जानना चाहिये । मतलब य है कि अपनाही आत्मा अपने स्वरूपावलंवन रूप मोक्षमार्गसे चिग रहा हो तो उसको भी उसी मार्गमें स्थापित करना चाहिये, ऐसा करनेस उस मार्गके छूटनेसे जो कर्मबंध होताथा वह न होकर उल्टी कर्मोंकी निर्जरा होने लगती है ।

अब वात्सल्य गुणका गाथा कहते हैं—

जो कुणदि वच्छलत्तं तियेह साहूण मोक्खमग्गम्मि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणयव्वो ॥ २३५ ॥

यःकरोति वत्सलत्वं त्रयाणां साधूनां मोक्षमार्गे ।
स वत्सलभावयुक्तः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३५ ॥

अर्थ—जो जीव मोक्षमार्गमें स्थित आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पदसहित आत्मामें अथवा सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रमें वात्सल्य भाव करता है, वह वात्सल्यभाव सहित सम्यग्दृष्टि है, ऐसा जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—वत्सलत्व माने प्रेमभाव, सो मोक्षमार्ग रूप अपने स्वरूपमें अनुरागयुक्त होना ही वत्सलत्व भाव है, ऐसे जीवके मार्गकी अप्राप्तिसे होनेवाला कर्मबंध नहीं होता है बल्कि कर्म रस देकर खिरजाते हैं ।

अब प्रभावना अंगको कहते हैं—

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा ।
सो जिणणाणपभावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३६ ॥

विद्यारथमारूढो मनोरथपथेषु भ्रमति यश्चेतयिता।
स जिनज्ञानप्रभावी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३६ ॥

अर्थ—जो जीव विद्यारूपी रथपर चढा हुआ मनरूपी रथके मार्गमें भ्रमण करता है उसको जिनेश्वरके ज्ञानकी प्रभावना करनेवाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

विशेषार्थ—प्रभावना नाम उद्योत करने या प्रगट करनेका है। जो अपने ज्ञानका निरंतर अभ्यास कर प्रगट करता है, या वढाता है, उसीके प्रभावना अंग होता है ऐसे जीवके अप्रभावना कृत कर्मबंध नहीं होकर बधे हुए कर्मोंकी निर्जरा होती है। अब निर्जरा करनेवाले सम्यग्दृष्टिकी महिमा बतलानेके लिये कलशरूप काव्य कहते हैं।

मन्दाक्रान्ता छंद—

रुन्धन्बंधं नवमिति निजैः सङ्गतोऽष्टाभिरंगैः।
प्राग्वद्ध तु क्षयमुपनयन्निर्जरोज्जृम्भणेन।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं,
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरगं विगाह्य ॥ ३० ॥

अर्थ-सम्यग्दृष्टि जीव आप स्वयमेव अपने निजरसमें मस्त हुआ, आदि मध्य अंतकर रहित, सर्व व्यापक, एक प्रवाह रूप धारावाही ज्ञानरूप होकर, आकाशका मध्यरूप जो अति निर्मल रंगभूमि, उसमें अवगाहन (प्रवेश) कर नृत्य करता है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? जो नवीन बंधको तो पूर्वोक्त रीतिसे रोकता है और पहिले बांधे हुए कर्मोंका अपने आठों अंगोसहित निर्जरा को प्रगट कर नाश कर डालता है।

पूर्व बंध नासै सो तो संगीतकला प्रकासै नवबंध रुंधि ताल तोरत उछरि कैं।
निसंकित आदि अष्ट अंग संग सखा जोरि समता अलाप चारि करै सुरभरि कैं।
निरजरा नाद गाजै ध्यान मिरदंग बाजै छक्यौ महानंदमैं समाधि रीझि करिकैं।

सचा रंगभूमिमैं मुकत भयौ तिहूं काल नाचै सुद्धदृष्टि नट ग्यान स्वांग धरिकैं ॥३०

सवैया—

सम्यकवंत महंत सदा समभाव रहैं दुख संकट आये ।
कर्म नवीनं बंधे न तबै अर पूरव बंध झडे बिन भाये ॥
पूरण अंग सुदर्शनरूप धरै नित संग बढै निज पाये ।
यो शिवमारग साधि निरंतर आनंदरूप निजातम थाये ॥१॥

इस प्रकार समयसारके निजानन्दमार्तंडमें निर्जरा नामक छठा अधिकार पूर्ण हुआ ।

यहांतक गाथ २३६ और कलश १६२ का व्याख्यान हुआ ।

अथ बंधाधिकारः प्रारभ्यते

दोहा—रागादिकतें कर्मको बंध जानि मुनिराय ।
तजैं तिनहिं समभावकरि नमूं सदा तिन पाय ॥

जैसे नाटकके अखाडेमें स्वांग प्रवेश करता है, उसीतरह रंगभूमिमें बंधतत्त्वका स्वांग प्रवेश करता है । सबसे प्रथम [illegible] तत्त्वोंका जाननेवाला सम्यग्ज्ञान बंधतत्त्वको दूर करता [illegible] होता है, ऐसे अर्थको लेकर मंगलाचरणरूप काव्य कहते हैं

शार्दूलविक्रीडित छंद—

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत् ।
क्रीडन्तं रसभावनिर्भरमहानाटयेन बंधं धुनत् ॥
आनन्दामृतनित्यभोजिसहजावस्थां स्फुटं नाटयत् ।
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति ॥ १ ॥

अर्थ–रागका उदय होना ही हुआ महारस, उससे सपूर्ण संसारको प्रमत्त–मतवाला करके तथा रसके भावसे भराहुआ जो बडा नृत्य उससे नाचता हुआ ऐसे बधको उखाडताहुआ ज्ञान उदयको प्राप्त होता है। जो ज्ञान आनंद रूपी अमृतका नित्य भोजन करनेवाला है, तथा अपनी जानन क्रिया रूप स्वाभाविक अवस्थाको प्रगट रूपसे नाचता हुआ है, धीर है, निश्चल है, और बडा जिसका बिस्तार है,तथा अनाकुल है-जिसमें अकुलताका कोई करण नहीं है, निरूपधि है,–परिग्रह रहित है परद्रव्यसंबंधी कुछभी ग्रहण त्यजन नहीं है, ऐसा ज्ञान उदयको प्राप्त होता है।

मोहमद पाइ जिनि ससारी विकल कीनें याहीतें अजानवाहु विरद वहतु है।
ऐसो बध वीर विकराल महाजाल सम ग्यान मद करै चद राहु ज्यौं गहतु है।
ताको बल भजिवे कौ घटमैं प्रगट भयौ उद्धत उदार जाको उद्दिम महतु है।
सो है समकित सूर आनंद अंकूर ताहि निरखि बनारसी नमो नमो कहतु है ॥१॥

ज्ञानचेतना और कर्मचेतनाका स्वरूप —

जहां परमातमकलाकौ परकास तहां धरम धरामैं सत्य सूरजकी धूप है ।
जहां सुभ असुभ करमको गंडास तहां मोहके विलासमैं महाअंधेर कूप है ॥
फैली फिरै घटासी, छटासी घनघटा बीचि चेतनकी चेतना दुहूंधा गुप चूप है
बुद्धिसौं न गही जाय बैनसौं न कहीजाय पानीकी तरग जैसे पानीमै गुड़प है

अब बंध तत्वके स्वरूपका विचार करते हुए बंधके कारणोंको प्रगट करते हैं—

जह णाम को वि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि ।

ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहिं वायामं ॥२३७॥
छिंदादि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ
सचित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥२३८॥
उपघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविवेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किं पच्चयगो दु रयबंधो॥२३९
जो सो दु णेहभावो तह्मि णरे तेण तस्स रयबंधो
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु ।
रायाई उवओगे कुव्वंतो लिप्पइ रयेण॥२४१॥

यथानाम कोऽपि पुरुषः स्नेहाभ्यक्तस्तु रेणुबहुले ।
स्थाने स्थित्वा च करोति शस्त्रैर्व्यायामम् ॥ २३७ ॥
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिण्डीः ।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातम् ॥ २३८ ॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः ।
निश्चयतश्चिन्त्यतां खलु किं प्रत्यायिकस्तु रजोबंधः ॥ २३९ ॥
यःस तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबंध ।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥ २४० ॥
एवं मिथ्यादृष्टिर्वर्तमानो बहुविधासु चेष्टासु ।
रागादीनुपयोगे कुर्वाणो लिप्यते रजसा ॥ २४१ ॥

अर्थ—यहां "नाम" ये अव्यय प्रगट रूप कहने अर्थमें हैं जैसे कोई पुरुष अपने शरीरमें तैलादि सचिक्कण द्रव्य लगाकर जहांपर धूलि बहुत हो ऐसे स्थानमें बैठकर शस्त्रोंसे व्यायाम करनेका अभ्यास करता है और सचित्त अचित्त द्रव्योंके घात

करनेका कार्य करता है, ऐसे नाना प्रकारके करणोंसे उपघात करनेवाले उस पुरुषके निश्चयसे विचारो तो रजका संबध होता है, सो कौनसे कारणसे होता है? उस पुरुषके शरीरमें जो तैल आदिका सचिक्कण भाव है उसीसे उस रजका संबध होता है। उसकी कायकी चेष्टासे उस रजका संबध नहीं होता है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टिजीव बहुतप्रकारकी चेष्टाएं करता है, और अपने उपयोगमें रागादिक भावोंको करता हुआ कर्म रूपी रजसे लिप्त है अर्थात् कर्मोंका बंध करता है।

विशेषार्थ–यहां निश्चयनयकी प्रधानतासे कथन किया गया है जहां निर्बाध हेतुसे पदार्थ सिद्ध किया जाय उसको निश्चयनय कहते हैं, इसीसे बधका विचार कियाजाय तो निर्बाध यही सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि जीव अपने उपयोगमें राग,द्वेष,मोह भावोंको करता है उसीसे उसके बधहोता है बाकी कर्मयोग पुद्गलोंसे भराहुवालोक तथा, मन वचन कायके योग,एव अनेक और२कारण चेतन अचेतनके घात ये बधके कारणनहीं हैं। यदि इनसे बंधहोने लगे तो सिध्दोंके तथा यथाख्यात चरित्रवालोंके, केवलज्ञानियोंके, समितिरूप प्रवर्तने वाले मुनियोंके, बंधका प्रसग आवेगा। परन्तु उनके बध नहीं होता है, इसलिये इस हेतुके व्यभिचारीपना सिद्ध होता है। अतएव यही निश्चय हुआ कि बधका कारण रागादिक ही हैं।

पृथ्वीछद–

न कर्म बहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्मवा–
ननेककरणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत् ॥
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥२॥

अर्थ—कर्म बंधका करनेवाला कर्मयोग्य पुद्गलोंसे भरा हुआ जगत कारण नहीं है, चलन स्वरूप मन वचन कायकी क्रिया रूप योग भी कारण नहीं हैं, अनेक तरहके करण भी कारण नहीं हैं, चेतन अचेतनका वध-घातभी कर्म बंधका कारण नहीं है। तो फिर क्या कारण हो सकता है? उपयोग रूप आत्मा रागादिकोंसे युक्त होकर एकताको प्राप्त होजाता है वही आत्माके साथ बंधका कारण हो जाता है। यहां निश्चयनयकी प्रधानतासे एक रागादिको ही बंधका कारण कहा गया है, अन्य लोकादि बंधके कारण नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि उपयोगमें रागादिको नहीं करता है उपयोग और रागादिकनें भेद जानकर रागादिकका स्वामी नहीं होता है। इसलिये पूर्वोक्त चेष्टाएं करते हुए भी कर्मोंका बंध नहीं करता है।

कर्मजाल वर्गनासौं जगमैं न बंधै जीव बंधै न कदापि मन वच काय जोग सौं।
चेतन अचेतनकी हिंसासौं न बंधै जीव बंधै न अलख पंच विषै विष रोग सौं॥
कर्मसौं अबंध सिद्ध जोगसौं अबंध जिन हिंसासौं अबंध साधू ज्ञाता विषै भोगसौं
इत्यादिक वस्तुके मिलापसौं न बंधै जीव बंधै एक रागादि असुद्ध उपयोगसौं॥

इसी बात को कहते हैं—

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वह्मि अवणिये संते।
रेणुबहुलह्मि ठाणे करेइ सत्थेहिं वायामं॥२४२॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं॥२४३॥
उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतिज्जदु किं पच्चयगो ण रयोबंधो॥२४४॥
जो सो अणेयभावो तह्मि णरे णेव तस्स रयबंधो।

णिच्चयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥ २४५॥
एव सम्माइट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु ।
अकरंतो उवओगे रागाइ ण लिप्पइ रयेण ॥२४६॥

यथा पुनः स चैव नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति ।
रेणुबहुले स्थाने करोति शस्त्रैर्व्यायामम् ॥२४२॥
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिण्डीः ।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातम् ॥ २४३ ॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः ।
निश्चयतो विज्ञेयं किं प्रत्यायिको न रजोबन्धः ॥२४४॥
यः स स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबन्धः ।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥ २४५ ॥
एव सम्यग्दृष्टिर्वर्तमानो बहुविधेषु योगेषु ।
अकुर्वन्नुपयोगे रागादीन्न लिप्यते रजसा ॥२४६॥

अर्थ—जिस प्रकार वही मनुष्य तैलकी सचिक्कणताको दूर करता हुआ बहुतसी रजवाले स्थानमें नानाप्रकारके शस्त्रोंसे व्यायामको करता है तथा तालवृक्षके तलको, केलाके वृक्षको, बांसभिडेको छेदता, भेदता है, एवं सचित्त अचित्त द्रव्योंका उपघात करता है, ऐसा करते हुए भी उसके कर्मका बंध क्यों नहीं होता है ? अर्थात् नाना उपकरणोंसे सचित्ताचित्त द्रव्योंका उपघात करते हुए भी उसके किस कारण कर्मका बंध नहीं होता है ? इस प्रश्नका समाधान ऐसा जानना चाहिये कि नाना प्रकारकी कायकी चेष्टाए करनेपर भी उस मनुष्यके धूलि (रज) का संबंध इसलिये नहीं होता कि उसने अपने शरीरपरसे तैल संबंधी सचिक्कणता को दूर कर दी है सचिक्कणता हीसे रजका संबंध होता था, जब सचिक्कणता न रही तो बध भी नहीं होता है । उसी तरह

सम्यग्दृष्टि नानाप्रकार के कार्य करता हुआ भी अपने उपयोग में रागादिको स्थान नहीं देता इससे कर्मबंधसे लिप्त नहीं होता है। रागादि सहित उपयोगही कर्मबंधका कारण होता है।

लोकःकर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्।
तान्यस्मिन् करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत्॥
रागादीनुपयोगभूमिमनयज् ज्ञानं भवन्केवल।
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम्॥३॥

अर्थ—उसी कारणसे कर्मोंसे भरा हुआ पूर्वोक्त लोक है सो रहो, मन वचन कायके हलन चलन स्वरूप योग भी रहो पूर्वोक्त वे करण भी रहे, पूर्वोक्त चैतन्य अचैतन्यका व्यापादन माने घात करना भी रहो यह सम्यग्दृष्टि रागादिको उपयोग भूमिमें नहीं लाता हुआ केवल एक ज्ञानरूप होता हुआ ऊपर कहे हुए किसी भी कारणसे बंधको नहीं करता है। यह सम्यग्दृष्टि निश्चल है अहो देखो सम्यग्दर्शनकी कैसी अद्भुत महिमा है। भाव ये है कि यहां सम्यग्दृष्टि का अद्भुत माहात्म्य कहा है पूर्वमें कहे हुए लोक, योग, करण, चैतन्य अचैतन्यका घात ये बंधके कारणहैं पर सम्यग्दृष्टिके बंधके कारण नहीं होते हैं यहां ऐसा मतजानो कि परजीवकी हिंसासे बंध नहीं होता है इसलिये स्वच्छंद होकर हिंसा करना चाहिये। यहां तो ऐसा कहा गया है कि अबुद्धिपूर्वक कदाचित् परजीवका घात भी होजाय तो बंध नहीं होता हैं। जहां बुद्धिपूर्वक जीव मारनेके भाव होंगे वहां तो अपने उपयोगमें रागादिकका सद्भाव आवेगा इसलिये उसमें बंध होवेगा ही। जीवके जिलानेका भाव भी निश्चय नयसे मिथ्यात्व कहा जाता है तो मारनेका अभिप्राय मिथ्यात्व क्यों नहीं कहा जावगा! इसलिये कथनको नयविभगसे यथार्थ समझकर श्रद्धान

करना चाहिये।

कर्मजाल वर्गनाको वास लोकाकास माहि मनवच कायको निवास गति आउ मैं,
चेतन अचेतनकी हिंसा वसे पुग्गलमें विषेभोग बरते उदेके उरझाउ मै"
रागादिक सुद्धता असुद्धता है अलख की यह उपादान हेतुबंधके बढाउ मैं।
याहि तैं विचच्छन अबंध कह्यौ तीनौं काल राग दोष मोह नाहि सम्यक सुभाउ मैं

पृथ्वी छंद–

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृति ॥
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां।
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥४॥

अर्थ–तथापि—ऊपर कहे अनुसार सम्यग्दृष्टिके लोक आदि निमित्तोंके मिलने पर भी बंध नहीं होता है रागादिकसे ही बंध होता है, ऐसा कहनेपर भी ज्ञानियोंको मर्यादा रहित स्वच्छंद नहीं वर्तना चाहिये, क्योंकि निरर्गल वर्तना ही तो बंधका कारण कहा गया है, ज्ञानियोंके बिना इच्छा कर्म-कार्य होता है वह बंधका कारण नहीं कहा गया है, क्योंकि जानता भी है और कर्मको भी करता है ये दोनों क्रियायें क्या विरोध रूप नहीं हैं ? करना और जानना तो निश्चयसे विरोध रूपही हैं।

ज्ञानी यद्यपि अबंध हैं तथापि पुरुषार्थ करते हैं—

कर्मजाल जोग हिंसा भोगसौं न बंधै पै तथापि ग्याता उद्यमी बखान्यौ जिनवैन मैं
ग्यानदिष्टि देत विषैभोगनिसौं हेत दोऊ क्रिया एक खेत यौं तो बनै नाहीं जैन मैं ॥
उदै बल उद्दिम गहै पै फलकौ न चहै निरदै दसा न होय हिरदे के नैनमैं ॥
आलस निरुद्दिमकी भूमिका मिथ्यात माहि जहा न सम्हारै जीव मोह नींद सैनमैं ४

आगे कहते हैं कि जो जानता है सो करता नहीं है और जो करता है वह जानता नहीं है, करना तो कर्मका राग है,

वही अज्ञान है, अज्ञानही बंधका कारण है ऐसा आगेके काव्य में कहते हैं–

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः ।
रागं त्वबोधमयमध्यवसानमाहु–
र्मिथ्यादृशः स नियतः स च बंधहेतुः ॥ ५ ॥

अर्थ–जो जानताहै वह करता नहींहै,और जो करता है वह जानता नहीं है जो करना है सो निश्चय से कर्म जन्य राग है, रागको ज्ञानी मुनियोंने अज्ञानमय अध्यवसान कहा है ऐसा अध्यवसाय मिथ्यादृष्टियोंके होता है, वही नियमसे बंधका कारण कहा गया है ।

जब लग जीव सुद्ध वस्तुको विचारै ध्यावै तब लग भोगसौं उदासी सरवग है
भोगमैं मगन तब ग्यानकी जगन नाहिं भोग अभीलाषकी दसा मिथ्यात अग है
तातैं विषै भोगमैं मगन सो मिथ्याती जीव भोगसौं उदास सो समकिती अभग है
ऐसा जानि भोगसौं उदास है मुकति साधै यहै मनचग तौ कठौती माहि गग है ५

अब मिथ्यादृष्टिके आशयको आगे गाथामें प्रगट करते हैं–

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं
सो मूढो अण्णाणी णाणी एदो दु विवरीदो ॥ २४७ ॥

यो मन्यते हिनस्मि च हिंस्ये च परैः सत्त्वैः ।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥२४७॥

अर्थ-जो जीव ऐसा मानता है कि "मैं पर जीवको मारता हूं और पर जीवोंसे मैं मारा जाता हूं" वह पुरुष मूढ है मोही है, अज्ञानी है और ज्ञानी इस अज्ञानीसे बिलकुल विपरीत होता है वह ऊपर कहे हुए सिद्धान्तको नहीं मानता है ।

प्रश्न — यह अध्यवसाय अज्ञान कैसे ? उत्तर रूप गाथा—

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरोसि तुमं कह ते मरणं कय तेसि ॥२४८॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरसितुमं कह ते मरण कयं तेसिं ॥ २४९ ॥

आयुः क्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं ।
आयुर्न हरामि त्वं कथं त्वया मरणं कृतं तेषाम् ॥ २४८ ॥
आयुः क्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं ।
आयुर्न हरसि त्वं कथं त्वया मरण कृतं तेषाम् ॥ २४८ ॥

अर्थ—जीवोंका मरण आयु कर्मके क्षयसे होता है, ऐसा भगवान जिनेन्द्र देवने कहा है । सो हे भाइ जो तू मानता है कि "मैं परजीवको मारता हूं" सो ऐसा मानना तेरा अज्ञान है, क्योंकि तू परजीवके आयुकर्मका हरण नहीं करता है । जब तूने आयुकर्मका हरण नहीं किया तब तूने उनके मरण को कैसे किया ? जीवोंका मरना तो आयुकर्मके क्षयसे होता है एसा भगवान जिनेन्द्र देवने कहा है । परतु हे भाई तू एसा मानता है कि "मैं परजीवोंसे मारा जाता हूं" ऐसा मानना तेरा अज्ञान है क्योंकि परजीव तेरे आयुकर्मको हरण नहीं करसकते हैं । तब उनसे तेरा मरण कैसे हो सकता है ?

प्रश्न—आपने मरणके अध्यवसायको मरण कहा सो तो जाना लेकिन उस मरणका प्रतिपक्षी जो जीतेरहनेका अध्यवसायहै उसकी क्या वार्ता है ! इस प्रश्नका उत्तर रूप गाथा कहते हैं—

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहि सत्तेहिं

सो मूढो अण्णाणी णाणी एदो दु विवरीदो ॥२५०॥

यो मन्यते जीवयामि च जीव्ये च परैः सत्वैः ।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीत ॥ २५० ॥

अर्थ–जो जीव ऐसा मानता है कि 'मैं पर जीवोंको जिवाता हूं और पर जीव मुझको जिवाते है' वह मूढ है–अज्ञानी है मिथ्यादृष्टि है । ज्ञानी इससे विपरित होता है वह वैसा न मानकर उससे उल्टा मानता है ॥ वही ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है ।

प्रश्न जिवानेका अध्यवसान अज्ञान कैसे है? उत्तर रूपमें गाथा कहते हैं–

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आऊं च ण देसि तुमं कह तए जीविय कयं तेसिं
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू
आऊं च ण दिंति तुहं कहं णु जीवियं कयं तेहिं॥२५२

आयुरुदयेन जीवति जीव एव भणति सर्वज्ञाः ।
आयुश्च न ददाति त्व कथं त्वया जीवित कृत तेषाम् ॥२५१॥
आयुरुदयेन जीवति जीव एव भणाति सर्वज्ञाः ।
आयुश्च न ददाति तव कथ नु ते जीवित कृत तैः ॥२५२॥

अर्थ–जीव अपनी आयु कर्मके उदयसे जीता है ऐसा सर्वज्ञ देवने कहा है । हे भाई परजीव को तू आयु कर्म नहीं देता है । तो तूने उन जीवोंको जीवित कैसे किया? जीव अपने आयु कर्म के उदयसे जीवित है ऐसा सर्वज्ञ देवने कहा है हे भाई परजीव तो कूं आयुकर्म नहीं देते हैं फिर उन्होंने तेरा जीवित कहना कैसे किया!

आगे कहते हैं कि दुखसुख करनेके अध्यवसायकी भी यही गति है—

जो अप्पाणं दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति
सो मूढो अण्णाणी णाणी एदो दु विवरीदो ॥२५३॥

य आत्मना तु मन्यते दुःखितसुखितान्करोमि सत्वानिति।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीत. ॥२५३॥

अर्थ–जो जीव ऐसा मानते हैं कि मैं परजीवोंको सखी दुखी करता हू और मुझे परजीव सखी दुखी करते हैं सो उनका भी ऐसा मानना अज्ञान ही है,जिसके ऐमा अज्ञान है वह अज्ञानी है। जिसके ऐसा अज्ञान नहीं है वह ज्ञानी है; सम्यग्दृष्टि है। अज्ञानीसे ज्ञानीका मानना बिलकुल विपरीत होता है।

प्रश्न–यह सुखी दुखी करनेका अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ? उत्तररूप गाथा–

कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति यदि सव्वे।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कह कया ते २५४
कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसहिदा हवंति यदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कह दुक्खिदो तेहिं २५५
कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च दिंति तुहं कहं सुहिदो कदो तेंहि ॥२५६॥

कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे।
कर्म च न ददासि त्वं दुःखितसुखिताः कथं कृतास्ते ॥२५४॥
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे।
कर्म च न ददति तव कृतोसि कथं दुःखितस्तैः ॥ २५५ ॥
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवान्ति यदि सर्वे।

कर्म च न ददति तव कथं सुखितः कृतस्तैः ॥ २५० ॥

अर्थ—सभी जीव अपने अपने कर्मके उदयसे सुखी दुखी होते हैं, यदि ऐसा है तो हे भाई उन जीवोंको कर्म तो तू देता नहीं है, फिर तूने उनको सुखी दुखी कैसे किया? सभी जीव अपने २ कर्मके उदयसे सुखी दुखी होतेहैं यदि ऐसा है,तो हे भाई वे जीव तुझे कर्म तो देते नहीं हैं फिर उन्होंने तुझे सुखी दुखी कैसे किया? सभी जीव अपने कर्मके उदयसे सुखी दुखी होते हैं हे भाई यदि ऐसा है तो वे जीव कर्म तो तुझे देते नहीं है उनने तुझे सुखी-दुखी कैसे किया? भाव ये है कि जैसा आशय होता है वैसा कार्य होता है। ऊपरका आशय अज्ञान है। जीव तो सभी अपने २ कर्मके उदयसे सुखी दुखी होते हैं। जो ऐसा मानता है कि मैं परको सुखी दुखी करता हूं और दूसरा मुझे सुखी दुखी करता है सो ऐसा मानना निश्चयनयसे अज्ञान है। निमित्तनैमित्तिक भावके आश्रय सुख दुख करने वाला कहना व्यवहार है। इसी अर्थका कलशरूपकाव्य कहते हैं—

वसततिलका छद—

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यं।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यं ६

अर्थ-इस लोकमें जीवोंके मरण, जीवन, सुख, दुख सभी सदा नियमसे अपने २ कर्मके उदयसे होते हैं। परन्तु ऐसा मानना कि दूसरा दूसरेके दुख, सुख, जीवन, मरणका करने वाला है, सो ये अज्ञान है; ऐसा मानने वाला अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है।

तिहूं लोक माहि तिहुं काल सब जीवनिको पूरब करम उदै आइ रस देतु है।
कोउ दीर्घाउ धरै कोउ अलपाउ मरै कोउ दुखी कोउ सुखी कोउ समचेतु है॥
याहि मै जिवाऊं याहि मारौं याहि सुखी करौं याहि दुखी करौं ऐसे मूढ मान लेतु है
याही अहंबुद्धिसौं न विनसै भरम भूल यहै मिथ्या धरम करम बंध हेतु है ॥६॥

फिर इसी अर्थको दृढ करते हुए अगले कथनकी सूचनिका रूप काव्य कहते हैं।

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यन्ति ये, मरणजीवित दुःखसौख्यम् ।
कर्माण्यहं कृतिरसेन चिकीर्षवस्ते,
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥७॥

अर्थ-ऐसें पूर्वोक्त कहा हुवा मानना अज्ञान है, उस अज्ञान को प्राप्त होकर जो पुरुष परसे परका मरण जीवित, सुख, दुख, होना देखते हैं मानते हैं, वे पुरुष "मैं इन कर्मोंको करता हू" ऐसे अहंकार रूप रसस कर्मोंको करनेके इच्छुक हैं। कर्म करनेकी मारने जिवावनकी, सुखी दुखी करनेकी इच्छा करते हैं। ऐसे जीव नियमसे मिथ्यादृष्टि हैं, उनकै अपने आपके द्वारा अपना घात पायाजाता है।

जहां लौं जगतके निवासी जीव जगतमें सबै असहाइ कोऊ काहू कौ न घनी है।
जैसी जैसी पूरब करम सत्ता बांधी जिन तैसी तैसी उदैमें अवस्था आइ बनी है
एते परि जो कोऊ कहै कि मैं जिवाऊं मारू इत्यादि अनेक विकलप बात घनी है
सो तौ अहबुद्धिसौं विकल भयौ तिहू काल डोलै निज आतमसकति तिन हनी है

आगे इसी अर्थको गाथामें कहते हैं—

जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो
तह्मा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा॥२५७॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो सो विय कम्मोदयेण चेव खलु
तह्मा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा २५८

यो म्रियते यश्च दुःखितो जायते कर्मोदयेन स सर्वः।
तस्मात्तु मारितस्ते दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या ॥ २५७ ॥
यो न म्रियते न च दुःखित सोऽपि च कर्मोदयेन चैव खलु।
तस्मान्न मारितो नो दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या ॥ २५८ ॥

अर्थ—जो मरते हैं तथा दुखी होते हैं सो कर्मके उदयसे ही होते हैं। इससे तेरा "मैंने मारा, मैंने दुखी किया" ऐसा कहना क्या मिथ्या नहीं है ? जो मरते नहीं हैं, तथा दुखी नहीं होते हैं, सो भी कर्मके उदयसे ही होते हैं। इसलिये तेरा जो ऐसा अभिप्राय है कि 'मैंने नहीं मारा और न मैंने दुखी किया' सो ऐसा कहना क्या मिथ्या नहीं है ? मिथ्याही है। भाव ये है कि कोई किसीका मारा हुवा मरता नहीं है, जिलाया हुआ जीता नहीं है, सुखी दुखी किया हुवा सुखी दुखी होता नहीं है। इसलिये मारने जिलाने आदिका अभिप्राय करने वाला मिथ्यादृष्टि ही होता है, ऐसा निश्चयनयका कथन है। इसी अर्थका कलश रूप श्लोक कहते हैं—

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बंधहेतुर्विपर्ययात् ।

स एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ॥८॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिका ऐसा अध्यवसाय अज्ञान रूप है, ऐसा प्रत्यक्ष दीखता है। एसा अभिप्राय मिथ्या-विपर्यय स्वरूप है इसलिये बंधका कारण है।

चौपाई—मैं करता मै कीन्ही कैसी, अब यौ करौं कहै जो ऐसी।

ये विपरीत भाव हैं जामै, सो वरतै मिथ्यात दसा में ॥८॥

आगे गाथामें बतलाते है कि अध्यवसाय ही बंधका कारण है—

एसा दु जा मई ते दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।

एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कम्मं ॥ २५८ ॥

एषा तु या मतिस्ते दुःखितसुखितान्करोमि सत्वानिति ।

एषा ते मूढमतिः शुभाशुभं बध्नाति कर्म ॥ २५८ ॥

अर्थ—हे आत्मन् तेरी जो ये बुद्धि है कि "मैं जीवोंको सुखी दुखी करता हूं" सो यह तेरी मूढबुद्धि है, मोहस्वरूप

हैं, ऐसी बुद्धि ही शुभ अशुभ रूप कर्मोंको बांधने वाली है। इसलिये मिथ्या अध्यवसाय ही शुभाशुभ कर्मके बंधका कारण होता है।

आगे बतलाते हैं कि मिथ्या अध्यवसाय ही नियमसे बंधका कारण है—

दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥ २६० ॥
मारेमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स वा बंधगं होदि ॥२६१॥

दुःखितसुखितान्सत्वान्करोमि यदेवमध्यासित ते।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति ॥ २६० ॥
मारयामि जीवयामि सत्वान्यदेवमध्यवसितं ते।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बन्धकं भवति ॥ २६१ ॥

अर्थ—हे आत्मन्, तेरा जो ये अध्यवसित—अभिप्राय है कि मैं जीवोंको दुखी सुखी करता हू, सो यही अभिप्राय पापबंध तथा पुण्य बंध करान वाला है। मैं जीवोंको मारता हूं अथवा जिवाता हूं तेरा जो ऐसा अभिप्राय है सो भी पाप अथवा पुण्यका बंध कराने वाला है। विशेषार्थ— यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बंधका कारण है। शुभ अध्यवसाय तो जिवावना, सुखी करना है और अशुभ अध्यवसाय मारना, दुखी करना है। दोनों ही भावोंमें अहंकार रूप मिथ्या भाव है। इसलिये ऐसा नही जानना चाहिये कि शुभका कारण तो और है और अशुभका कारण औरही है। अज्ञानमयपनेसे तो दोनों अध्यवसाय एक से ही हैं।

प्रश्न—अध्यवसायको बंधका कारण होने पर यह हिंसाका अध्यवसाय ही हिंसा है ऐसा आया ? उत्तर रूप गाथा—

अज्झवासिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेऊ ।
एसो बंधसमासो जीवाण णिच्छयणयस्स ॥ २६२ ॥

अध्यवसितेन बन्धः सत्वान्मारयतु मा वा मारयतु ।
एष बंधसमासो जीवानां निश्चय नयस्य ॥ २६२ ॥

अर्थ-निश्चय नयका ऐसा पक्ष है कि जीवोंको मारो,या मत मारो परतु जीवोंके कर्म बंध तो अध्यवसायसे ही होता है, अध्यवसाय ही बंधका कारण है ।

विशषार्थ-निश्चयनयसे परके प्राणोंका वियोग दूसरेसे नहीं होता है,उसके कर्मके उदयकी विचित्रतासे होता भी और नहीं भी होता । जो कोई ऐसा अहंकार करता है कि "मैं परजीवोंको मारता हू" ऐसा अहंकार रूप अध्यवसाय अज्ञान है, और यही अज्ञान हिंसा है, अपने विशुद्ध चैतन्य प्राणका घात ही बंधका कारण है ।

हिंसाका अध्यवसाय ही अन्यकार्योंमें भी पुण्यपापके बन्ध का कारण है ऐसा प्रत्यक्षसे दिखाते हैं—

एवमलिए अदत्त अबंभचारे परिग्गहे चेव
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु वज्झए पाव ॥२६३
तहवि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु वज्झए पुण्णं ॥२६४॥

एकमलीकेऽदत्तेऽब्रम्हचर्ये परिग्रहे चैव ।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु वध्यते पापम् ॥२६३॥
तथापि च सत्ये दत्ते ब्रह्मण्यपरिग्रहत्वे चैव ।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु वध्यते पुण्यम् ॥२६४॥

अर्थ जिस तरह पूर्वमें हिंसाका अध्यवसाय कहा उसी प्रकार असत्य, अदत्त, चोरी आदिसे विना दिया पर धनका लेना, अब्रह्म-स्त्रीका संसर्ग, परिग्रह-धन धान्यादिकमें जो अध्यवसाय

किया जाय सो इनसे तो पापका बंध होता है। जैसे अध्यवसानसे पापका बध होता है, उसी तरह सत्यमें, दिये हुए वस्तुके लेनेमें, ब्रह्मचर्यमें, अपरिग्रहमें जो अध्यवसाय किया जाता है वह पुण्य बंधका कारण होता है।

कोई ऐसा कहे कि जैसा अध्यवसान बधका कारण है उसी तरह बाह्यवस्तु रूप दूसरा पदार्थ भी बंधका कारण हो सकता है? सो ऐसा नहीं है किंतु एक अध्यवसाय ही बधका कारण है ऐसा बतलानेको कहते हैं—

वत्थु पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाण।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि॥ २६५॥

वस्तु प्रतीत्य यत्पुनरध्यवसान तु भवति जीवानाम्।
न च वस्तुतस्तु बन्धोऽध्यवसानेन बन्धोऽस्ति ॥ २६५ ॥

अर्थ-जीवोंके जो अध्यवसान होता है वह कोई भी बाह्य वस्तुको अवलंबन लेकर होता है। बंध तो वस्तुसे नहीं होता है किंतु अध्यवसानसे होता है। बाह्य वस्तु तो अध्यवसान होनेको कारण है इसीलिये बाह्य वस्तुका त्याग कराया गया है।

आगे कहते हैं कि बधके कारणपनसे निश्चय किये गये अध्यवसानको जब अर्थक्रियाकारित्व नहीं है तो वह मिथ्या ही ठहरा? इस प्रश्नका उत्तर रूप गाथा कहते हैं—

दुक्खिदसुहिदे जीवे करोमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढमई णिरत्थया साहु दे मिच्छा॥ २६६॥

दुःखितसुखिताञ्जीवान्करोमि बन्धयामि तथा विमोचयामि।
या एषा मूढमतिर्निरर्थिका सा खलु ते मिथ्या॥ २६६॥

अर्थ—हे भाई जो तेरी ऐसी बुद्धि है कि मैं जीवोंको सुखी तथा दुखी करताहू, मैं ही बन्धन कराता हू छुडाता हूं सो

ऐसी मति मूढमति है, मोहस्वरूप है, निरर्थक है। जिसका विषय सत्यार्थ नहीं सो मिथ्या है

प्रश्न—यह अध्यवसान अपनी अर्थक्रियाका कर्ता क्यों नहीं है ? उत्तर रूप गाथा—

अज्झवसाणणिमित्त जीवा वज्झंति कम्मणा जदि हि
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करेसि तुमं ॥२६७॥

अध्यवसायनिमित्त जीवा बध्यन्ते कर्मणा यदि हि।
मुच्यन्ते मोक्षमार्गे स्थिताश्च तत्किं करोषि त्वम् ॥ २६७ ॥

अर्थ—हे भाई जीव अध्यवसानके निमित्तसे कर्मोंसे बंधे हुए हैं और जब मोक्ष मार्गमें रहते हैं तब कर्मोंसे छूट जाते हैं, यदि ऐसा है तो तू क्या करेगा ? तेरा बंधने छूटनेका अभिप्राय विफल है ?

भावार्थ जो हेतु कुछ भी कार्य करनमें असमर्थ हो उसको अकिञ्चित्कर कहते हैं। सो इसतरहके बांधने छोडनेके अध्यवसानने परमें कुछ भी नही किया ? क्योंकि अध्यवसानके होते हुवे जीव अपने सराग वीतराग परिणामोंसे बंध मोक्षको प्राप्त होता हैं, और अध्यवसानके होते हुए भी जीव अपने सराग वीतराग भावके अभाव होने पर बंध मोक्षको प्राप्त नहीं होते है इस दृष्टिसे अध्यवसान परमें अकिंचित्कर कथन हैं, इसीसे अर्थ-क्रियाकारी भी नहीं, मिथ्या है। इसी अर्थका कलश रूप और आगे कथनका सूचनिका रूप श्लोक कहते हैं—

अनेनाध्यवसानेन निष्फलेन विमोहितः।
तत्किंचनापि नैवास्ति नात्माऽऽत्मानं करोति यत् ॥ ९ ॥

अर्थ—आत्मा इस निष्फल-निरर्थक अध्यवसानसे मोहित होकर [भूला हुआ] चतुर्गतिसंसारमें जितनी अवस्थाएं हैं, जितने पदार्थ हैं, उन सर्व अवस्थारूप अपने आपको करता है,

ससारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं हैं जिस रूप अपने आपको नहीं मानता है, सर्व पदार्थ रूप ही मानता है। भाव ऐसा है कि यह आत्मा मिथ्या अभिप्रायमें भूला हुआ चतुर्गतिक संसारमें जितनी अवस्थाएं हो सकती हैं अथवा जितने पदार्थ हैं उन सर्व रूप हुआ हूं ऐसा मानता हैं, अपने शुद्ध स्वरूपको नही पहचानता।

दोहा—अहबुद्धि मिथ्यादसा धरै सो मिथ्यावत।
विकल भयौ संसारमैं, करै विलाप अनंत॥ ९

इसी अर्थको गाथामें प्रगट रूपसे कहते हैं—

सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरइए।
देवमणुये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं॥२६८॥
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोयलोयं च।
सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणम्॥२६९॥

सर्वान्करोति जीवो अध्यवसानेन तिरयनैरायिकम्।
देवमनुजाश्च सर्वान्पुण्यं पाप च नैकविधम्॥ २६८॥
धर्माधर्मं च तथा जीवाजीवावलोकलोकं च।
सर्वान्करोति जीवोऽध्यवसानेनात्मानम्॥ २६९॥

अर्थ-जीव अपने अध्यवसानसे संपूर्ण तिर्यंच, नारक, देव और मनुष्य पर्यायोंको करता है, और अनेक प्रकारके पुण्य पापोंको, तथा जीव अजीव, धर्म अधर्म, लोक अलोक इन सभीको अपने आत्म स्वरूप करता है। तात्पर्य यह है कि-जीव पूर्वोक्त क्रियाएं हैं मध्य जिसके, ऐसे हिंसाके अध्यवसायसे आपको हिंसक मानता है, एवं अहिंसाके अभिप्रायसे अहिंसक, अन्य अध्यवसायोंस अन्य रूप मानता है, उदय रूप नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवके अध्यवसानसे अपने आपको नारकी, तिर्यंच मनुष्य और देव मानता है, एवं पुण्य पापके

अध्यवसाय [अभिप्राय] से पुण्य पाप रूप मानता है। धर्म, अधर्म, लोक, अलोकके अध्यवसायसे आपको उन सब रूप मानता है। इस प्रकारके अध्यवसायसे ही आपको इन सर्व अवस्थाओं और पदार्थरूप मानता है। अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥ १० ॥

अर्थ—यह आत्मा सम्पूर्ण द्रव्योंसे भिन्न है तो भी जिस अध्यवसायके प्रभावसे अपने आपको सब पदार्थ (मूलकारण) अथवा सर्व पर्यायोंरूप करता है, वह अध्यवसाय कैसा है? जिसका कि मोह ही एक कन्द है ऐसा है। ऐसा अध्यवसाय जिनके नहीं है वे ही यति-मुनि हैं।

सदा करम सौं भिन्न सहज चेतन कह्यौ,
मोह विकलता मानि मिथ्याती ह्वै रह्यौ
करै विकलप अनंत अहंमति धारि कैं
सो मुनि जो थिर होइ ममत्त निवारकैं ॥ १० ॥

आगे कहते हैं कि जिनके ऐसा अध्यवसाय नहीं है वे मुनि कर्मसे लिप्त नहीं होते हैं—

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२७०॥

एतानि न संति येषामध्यवसानान्येवमादीनि।
ते अशुभेन शुभेन वा कर्मणा मुनयो न लिप्यंते ॥ २७० ॥

अर्थ—इस प्रकार पहिले कहे हुए अध्यवसान जिनके नहीं हैं व तथा अन्य प्रकारके अध्यवसान भी जिनके नहीं हैं ऐसे मुनिराज शुभ तथा अशुभ कर्मोंसे लिप्त नहीं होते हैं।

प्रश्न—ये अध्यवसाय क्या चीज हैं जिनका आपने बार २

कथन किया है ? उत्तर रूप गाथा—

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं।
एकट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥ २७१ ॥

बुद्धिर्व्यवसायोऽपि चाध्यवसानं मतिश्च विज्ञानम्।
एकार्थमेव सर्वं चित्तं भावश्च परिणामः ॥ २७१ ॥

अर्थ—बुद्धि, अध्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव, परिणाम इन सबका एक ही अर्थ है केवल नामका भेद है। इनका अर्थ अलग अलग नहीं हैं।

सारांश—ऊपर बुद्धि आदिक जो नाम बतलाये हैं वे सब चेतन-आत्माके ही परिणाम हैं। जबतक आपापरका भेद विज्ञान नहीं होजाता है तभी तक परमें और आपमें एकपनेकी निश्चय रूप बुद्धि होती है। इसी का नाम अध्यवसाय है।

आगे अगले कथनका सूचनिका रूप काव्य कहते हैं, तथा जो अध्यवसान त्यागने योग्य कहा है सो उसमें ऐसी संभावना है कि "व्यवहारका त्याग कराया गया है और निश्चयका ग्रहण कराया गया है" ऐसा कहते हैं —

शार्दूलविक्रीडितछंद—

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदपि निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नंति संतो धृतिम् ॥ ११ ॥

अर्थ—संपूर्ण वस्तुओंमें जो संपूर्ण अध्यवसान हैं वे सब त्यागने योग्य हैं ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेवने कहा है इस परसे आचार्य कहते हैं कि हम तो ऐसा मानते हैं कि ऐसा कहनेसे तो "परके आश्रयसे चलने वाले सारे व्यवहार ही छुडाये गये हैं" इसलिये हम उपदेश करते हैं कि सत्पुरूष भले प्रकार एक

निश्चयको ही निश्चल अंगीकार करके शुद्ध ज्ञानघन स्वरूप अपनी महिमा (आत्मा स्वरूप) में स्थिरता क्यों नहीं धारण करते है ? यही हमको बडा आश्चर्य है।

असंख्यात लोक परवांन जे मिथ्यात भाव तेई विवहार भाव केवली उकत हैं।
जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक दरस भयौ ते नियत लीन विवहारसौं मुकत हैं॥
निरविकलप निरुपाधि आतम समाधि साधि जे सुगुन मोख पंथकौं ढुकत हैं।
तेई जीव परम दसामैं थिररुप ह्वै कैं धरममैं धुके न करमसौं रुकत हैं॥११॥

इसी अर्थको गाथामें कहते हैं—

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्चयणयेण।
णिच्चयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥

एवं व्यवहारनयः प्रतिषिद्धो जानीहि निश्चयनयेन।
निश्चयनयाश्रिताः पुनर्मुनयः प्राप्नुवति निर्वाणम्॥ २७ ॥

अर्थ-आत्माके परके निमित्तसे अनेक भाव होतेहैं वे सब व्यवहारनयके विषयहैं व्यवहारनय पराश्रित है जो आत्माका स्वाभाविकभाव है सो निश्चय नयका विषय है। निश्चयनय आत्माश्रित है अध्यवसान भी व्यवहारनयका विषय है, अतएव अध्यवसानका त्याग करना व्यवहारनयका त्याग करनाही है। सो निश्चयनयको प्रधानकर ही व्यवहारनयके त्यागका उपदेश है। क्योंकि जो निश्चय नयके आश्रयसे चलते हैं वे तो कर्मोंसे छूट जाते हैं और जो एकान्तसे व्यवहार नयका ही आश्रय करते हैं वे कर्मोंसे कभी नहीं छूटते हैं।

प्रश्न-अभव्य पुरुष व्यवहारनयका आश्रय कैसे करता है ? उत्तर रूप गथा—

वदसामिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठीदु॥२७६॥

व्रतसमितिगुप्तयः शीलतपो जिनवैरः प्रज्ञप्तम् ।
कुर्वन्नप्यभव्योऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु ॥२७३॥

अर्थ–व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तप इनका लक्षण जिनेश्वर देवने कहा है, इनका पालन करता हुवा भी अभव्य जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही कहा गया है। भाव ये है कि शील तप से पूर्ण होना, तीन गुप्ति पांच समिति का पालना और अहिंसादि पांच महाव्रतोंका पालना इस व्यवहार चारित्रको अभव्य पालता है तो भी वह अभव्य चारित्र रहित ही कहा जाता है, वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही कहा गया है। क्योंकि निश्चयचारित्रका कारण अपने स्वरूपके श्रद्धान ज्ञानका उसके अभाव होता है।

प्रश्न—अभव्यको ग्यारह अंगका ज्ञान होता है, उसको अज्ञानी कैसे कहा ? उत्तर रूप गाथा–

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तोदु जो अधीएज्ज ।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ॥ २७४ ॥

मोक्षमश्रद्दधानोऽभव्यसत्वस्तु योऽधीयीत ।
पाठो न करोति गुणमश्रद्दधानस्य ज्ञानं तु ॥ २७४ ॥

अर्थ–अभव्य जीव ग्यारह अंगका पाठ पढता हैं तो भी उसको शुद्ध आत्माका ज्ञान श्रद्धान नहीं होता है क्योंकि उसने पढा जरूर पर उसका अनुभव नहीं किया, इसलिये अज्ञानी ही है। केवल पढना ही उसको गुण नहीं करता किंतु पठित विषयका अनुभव करना ही गुणकारी होता है अभव्यके अनुभवन होता नहीं है।

प्रश्न–अभव्यको धर्मका श्रद्धान तो होता है फिर निषेध कैसे किया जासकता है ? उत्तर रूप गाथा–

सद्दहदि य पत्तेदिय रोचेदि य तह पुणो य फासेदि

धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥२७५

श्रद्दधाति च प्रत्येति रोधयति च तथा पुनश्च स्पृशति ।
धर्मं भोगनिमित्तं न तु स कर्मक्षयनिमित्तम् ॥ २७५ ॥

अर्थ—अभव्य जीव संसारके भोगोंको भोगनेकी इच्छासे ही धर्मका श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है उसीसे उसको वह रुचता है, उसीको स्पर्श करता है, और जो धम कर्मक्षयका निमित्त है उसका न तो श्रद्धान करता है, न प्रतीति करता है न उसको वह रुचता है, और न स्पर्श करता है। भाव य है कि अभव्य जीव कर्मफल चेतनाको जानता है, ज्ञान चेतनाको नहीं जानता है। क्योंकि अभव्यको भेद ज्ञान होनेकी योग्यता नहीं होती है, इसलिये शुद्ध आत्मिक धर्मका श्रद्धान नहीं होता है। शुभकर्मका ही धर्म रूपसे श्रद्धान करता है जिसके फलसे ग्रैवेयक तकके भोग पाता है। परन्तु कर्मका क्षय नहीं करता है। इसलिये इसके धर्मका श्रद्धान नहीं होता है। इसीसे निश्चयनय में व्यवहार नयका निषेध किया गया है।

प्रश्न—निश्चयनय व्यवहारनयका निषेधक कहा गया है और निश्चयको व्यवहारनयका प्रतिषेधने योग्य कहा गया है ये दोनों प्रतिषिध कैसे ? ऐसा पूछने पर निश्चय और व्यवहारनयका स्वरूप कहते हैं

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं ।
छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु व्यवहारो ॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च ।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥२७७॥

आचारादि ज्ञानं जीवादिदर्शनं च विज्ञेयम् ।
षड्जीवनिकायं च तथा भणति चरित्रं तु व्यवहारः ॥ २७६॥

आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं चरित्रं च।
आत्मा प्रत्याख्यानमात्मा मे संवरो योगः ॥ २७७ ॥

अर्थ-आचारांगादि शास्त्र तो ज्ञान हैं, जीवादि तत्व दर्शन हैं, छह कायके जीवोंकी रक्षाही चारित्र है। इस प्रकार तो व्यवहारनय कहता है। और निश्चयनयसे मेरा आत्माही ज्ञान है आत्माही दर्शन है तथा आत्माही चारित्र है, आत्माही प्रत्याख्यान है, आत्माही सवर है, आत्माही योग-समाधि है, ध्यान है ऐसा कहा गया है। मतलब ये है कि आचारांगादि शब्दश्रुतका जानना तथा जीवादि तत्वोंका श्रद्धान करना एवं छह कायके जीवोंकी रक्षा करना इनके होते हुए भी अभव्यके दर्शन ज्ञानचारित्र नहीं होते हैं। इसलिये व्यवहार तो प्रतिषेध्य है, आत्माके शुद्ध होतेही ज्ञान दर्शन चारित्र होते ही हैं, इसलिये निश्चयनय इसका प्रतिषेधक है। अत एव शुद्धनयही उपादय है अब आगेके कथनकी सूचनिका का काव्या कहते हैं—

उपजातिछन्द—

रागादयो बन्धनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ॥१२॥

अर्थ-रागादि जो बंधके कारण कहे गये हैं, वे रागादि शुद्ध चिन्मात्र आत्मासे अतिरिक्त- भिन्न-न्यारे कहे गये हैं, तब प्रश्न ऐसा होता है कि उन रागादिके होनेमें निमित्तरूप आत्मा है या कोई दूसरा पदार्थ निमित्त कारण रूप है ? इस प्रकार पूछे जानेपर आचार्य दृष्टान्त पूर्वक अगले गाथासे उत्तर कहते हैं—

जे मोहकर्मकी परनति बंधनिदान कही तुम सव्व।
संतत भिन्न सुद्ध चेतनसौं, तिन्हकौ मूल हेतु कहु अव्व॥
कै यह सहज जीवकौ कौतुक कै निमित्त है पुग्गल दव्व॥
सीस नवाइ शिष्य इम पूंछत कहै सुगुरु उत्तर सुन भव्व॥१२॥

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगज्जादि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥२७८॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रायादीहिंदोसेहिं ॥२७९॥

यथा स्फटिकमणिः शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रक्तादिभिर्द्रव्यैः ॥२७८॥

एवं ज्ञानी शुद्धो न स्वय परिणमते रागाद्यैः।
रज्यते अन्यैस्तु स रागादिभिर्दोषैः ॥२७८॥

अर्थ—जैसे स्फटिक मणि आप तो शुद्ध स्वच्छ श्वेत वर्णही है, परंतु परद्रव्यकी ललाई आदिका डंक लगनेपर ललाई आदि रूप परिणम जाता है, सो ये वस्तुकाही स्वभाव हैं। उसी तरह आत्मा खुद तो शुद्धही है, परंतु परिणाम स्वभाव है, पर वस्तुका जैसा निमित्त मिलता है वैसाही परिणम जाता है। इसलिये पर द्रव्यके निमित्त से ही रागादि रूप परिमण जाता है। इस विषयमें कोई दूसरा तर्क नहीं है। इसी अर्थका कलशरुप काव्य कहते हैं—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथाऽर्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्त परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्॥१३॥

अर्थ—आत्मा अपने रागादिका निमित्त कारण आप कदापि नहीं होता है, किंतु उसके रागादि रूप परिणमनमें निमित्त कारण तो परद्रव्य ही होता है। जैसे सूर्यकांत मणि खुद ही तो अग्निरूप नहीं परिणमती है, किंतु सूर्यका प्रतिबिंब उसके अग्निरूप होनेका निमित्त कारण होता है। उसी तरह यहा जानना चाहिये। यह तो वस्तुका स्वभाव ही उदयको प्राप्त होता है, किसीका किया हुवा नहीं होता है।

जैसे नाना बरन पुरी बनाइ दीजै हेठ उज्जल विमल मनि सूरज करांति है।

उज्जलता भासै जब वस्तुको विचार कीजे पुरीकी झलक सौं वरन भाति भाति है॥
तैसें जीव दरबकों पुग्गल निमित्तरूप ताकी ममतासौं मोह मदिराकी मांति है।
भेदग्यान दृष्टिसौं सुभाव साधि लीजे तहां सांची सुद्ध चेतना अवाचो सुखसांति है
जैसे महिमंडलमैं नदीकौ प्रवाह एक ताहीमैं अनेक भांति नीरकी ढरनि है।
पाथरको जोर तहां धारकी मरोर होत कांकरकी खानि तहां झागकी झरनि है
पौनकी झकोर बहां चंचल तरंग उठै भूमिकी निचानि तहां भौंरकी परनि है।
तैसे एक आतमा अनंतरस पुद्गल दुहूके संजोगमैं विभावकी भरनि है॥

आगे बतलाते हैं कि ऐसे वस्तुके स्वभावको जानता हुवा ज्ञानी रागादिको आपमें नहीं करता है—

इति वस्तुस्वभाव स्व ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीनात्मन कुर्यान्नातो भवति कारकः ॥१४॥

अर्थ—जिस कारणसे ज्ञानी अपने वस्तुस्वभावको जानता है उसी कारणसे ज्ञानी रागादिको अपनी आत्ममें नहीं करता है इसलिये रागादिका करता नहीं होता है।

दोहा—चेतन लच्छन आतमा जड लच्छन तन जाल।
तनकी ममता त्यागिकैं लीजैं चेतन—चाल ॥१४॥

इसी आशयकों आगेके गाथामें कहते हैं—

ण य रायदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण कारको तेसिं भावाणं ॥२८०॥

न च रागद्वेषमोहं करोति ज्ञानी कषायभावं वा।
स्वयमेवात्मनो न स तेन कारकस्तेषां भावानाम् ॥२८०॥

अर्थ—ज्ञानी हुवा तब वस्तुका ऐसा स्वभाव जाना कि आत्मा आप तो शुद्ध है—द्रव्यदृष्टिसे अपरिणमन स्वरूप है, पर्यायदृष्टिसे परद्रव्यके निमित्तसे रागद्वेषमोहादि रूप परिणम जाता है। ऐसी हालतमें आप खुद तो ज्ञानी है, उन भावोंका कर्ता नहीं है, उदयमें आये हुवेका सिर्फ ज्ञाता ही है।

आगे कहते हैं "अज्ञानी तो वस्तुके स्वभावको ऐसा नहीं जानता है, इसीसे रागादि भावोंका कर्ता होता है" इसकी सूचनिकाका श्लोक

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥१५॥

अर्थ—अज्ञानी जीव अपने वस्तुस्वभावको ऐसा नहीं जानता है उसीसे वह अज्ञानी अपने आपमें रागादि भावोंको करता हैं और उनका कर्ता बनता है।

जो जगकी करनी सब ठानत जो जग जानत जोवत जोई।
देह प्रवांन पैं देहसौं दूसरौ देह अचेतन चेतन सोई ॥
देह धरैं प्रभु देहसौं भिन्न रहैं परछन्न लखैं नहि कोई।
लच्छन वेदि विच्छन बूझत अच्छनसौं परतच्छ न होई॥१५।

देह अचेतन प्रेतदरी रज रेत भरी मल खेतकी क्यारी।
व्याधिकी पोट अराधिकी ओट उपाधिकी जोट समाधिसौं न्यारी।
रे जिय देह करै सुखहानि इतें पर तौ तोहि लागत प्यारी।
देह तौ तोहि तजेगी निदान पै तूंही तजै किन देहकी यारी ॥

दोहा—सुन प्रानी सदगुरु कहैं देह खेहकी खानि।
धरैं सहज दुख दोषकौं करं मोखकी हानि ॥

इसी अर्थको आगेके गाथामें कहते हैं—

रायह्मि य दोसह्मि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधादि पुणो वि ॥२८१॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः।
तैस्तु परिणममानो रागादीन्बध्नाति पुनरपि ॥२८१॥

अर्थ—राग, द्वेष, मोह, कषायकर्म इनके होते हुए जो भाव होते हैं उन रूप परिणमता हुवा अज्ञानी जीव रागादिका वार २ बंधन करता है।

भाव ये है कि अज्ञानीकें कर्मके निमित्तसे राग, द्वेष, मोह

आदिक परिणाम होते हैं वे ही परिणाम हैं आगेके कर्मोंके बंधके कारण होते हैं।

प्रश्न—अज्ञानीके रागादि बंधके कारण हैं तो आत्मा रागादिका अकर्ता है ऐसे कैसे कहा ?

इस प्रश्नका समाधान करनेको कहते है—

अपडिक्कमणं दुविहं अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥२८२॥
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपच्चक्खाणं।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया॥२८३॥
जावं अपडिक्कमण अपच्चक्खाणं च दव्वभावाणं।
कुव्वइ आदा तावं कत्ता सो होइ णायव्वो॥२८४॥

अप्रतिक्रमणं द्विविधमप्रत्याख्यानं तथैव विज्ञेयम्।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥२८२॥
अप्रतिक्रमणं द्विविधं द्रव्ये भावे तथाऽप्रत्याख्यानम्।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥२८३॥
यावदप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च द्रव्यभावयोः
करोत्यात्मा तावत्कर्ता स भवति ज्ञातव्यः॥२८४॥

अर्थ—जिस प्रकार अप्रतिक्रमण दो प्रकारका होता है, उसी प्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकारका होता है इस उपदेशसे चेतयिता–आत्मा अकारक कहा गया है। अप्रतिक्रमण जो दो प्रकारका होता है वह इस तरह–एक तो द्रव्यमें और दूसरा भावमें। अप्रत्याख्यान भी दो प्रकारका होता हैं। एक द्रव्यमें दूसरा भावमें इस उपदेशसे चेतयिता–आत्मा अकारक कहा गया है। जब तक आत्मा द्रव्य और भावमें अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है तभी तक आत्मा कर्ता होता है ऐसा जानना चाहिये। जो

अतीत कालमें पर द्रव्यका ग्रहण किया था उसको अब अच्छा जानना, उसका संस्कार रखना, उसमें ममत्व रखना सो तो द्रव्य अप्रतिक्रमण है। जिस परद्रव्यके ग्रहणके निमित्तसे रागादिक भाव हुए थे उनको वर्तमानमें अच्छा जानके उनसे ममत्वका संस्कार रखना सो भावअप्रतिक्रमण है।

आगामी कालमें परद्रव्यकी इच्छासे ममत्व रखना सो द्रव्य अप्रत्याख्यान है। और उनके निमित्तसे आगामी कालमें रागादि भाव होंयगे उनकी इच्छा रखना ममत्व रखना सो भाव अप्रत्याख्यान है।

यह द्रव्य और भाव अप्रतिक्रमण तथा दोनों ही अप्रत्याख्यान का उपदेश है सो द्रव्यभावके निमित्त नैमित्तिक भावको जनाता है। परद्रव्य तो निमित्त है और रागादिक भाव नैमित्तिक हैं। जबतक निमित्तभूत परद्रव्यका अप्रतिक्रमण अप्रत्याख्यान इस आत्माके साथ रहते हैं तबतक तो रागादि भावोंका अप्रतिक्रमण अप्रत्याख्यान रहता है और जबतक रागादि भावोंका अप्रतिक्रमण अप्रत्याख्यान रहता है तभीतक आत्मा रागादि भावोंका कर्ता कहा जाता है। जिससमय निमित्तभूत परद्रव्यका प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान रहता है उस समय नैमित्तिक रागादि भावोंकाभी प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान हो-जाता है। रागादि भावोंके प्रतिक्रमण प्रत्याख्यानके हो जानेपर साक्षात अकर्ता ही हो जाता है। इस प्रकार आत्मा स्वयमेव रागादि भावोंका अकर्ता है ऐसा परद्रव्यके निमित्त कहनेसे ही जाना जाता है।

आगे द्रव्य और भावमें निमित्त-नैमित्तक भावका उदाहरण गाथामें कहते हैं।

आधाकम्माईया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा
कह ते कुव्वइ णाणी परदव्वगुणाउ जे णिच्चं॥२८६॥

आधाकम्मं उद्देसियं च पुग्गलमयं इमं दव्वं
कह तं मम होइ कयं जं णिच्चमचेयणं उत्त २८७॥

अध कर्माद्यः पुद्गलद्रव्यस्य ये इमे दोषा ।
कथं तान्करोति ज्ञानी परद्रव्यगुणॉस्तु ये नित्यम् ॥२८६॥
अधःकर्मोद्देशिकं च पुद्गलमयमिदं द्रव्यम् ।
कथं तन्मम भवति कृतं यन्नित्यमचेतनमुक्तम् ॥२८७॥

अर्थ —अधःकर्मको आदि लेकर जितने पुद्गल द्रव्यके दोष हैं उनको ज्ञानी कैसे कर सकता है? क्योंकि ये नित्यही पुद्गल द्रव्यके गुण हैं। यह अधःकर्म और औद्देशिक कर्म पुद्गल द्रव्यमय हैं, इनको ज्ञानी ऐसा जानता है कि ये मेरे किये कैसे हो सकते हैं जो हमेशा अचेतन कहे गये हैं।

विशेषार्थ-यह कर्म और भावका निमित्तनैमित्तिकत्व का उदाहरण देकर दृढ किया है—जैसा कि लौकिकजन कहते हैं कि "जैसा खाओ दाना वैसी बुद्धि नाना" उसी प्रकार शास्त्रमें उदाहरण है कि—पापकर्मसे जो आहार उत्पन्न होता हैं वह अधःकर्म निष्पन्न कहा जाता हैं एवं जो आहार किसीके निमित्तसे बनाया जाता हैं उसको उद्दिष्ट या औद्देशिक आहार कहते हैं। सो ऐसे आहारको यदि पुरुष सेवन करता है तो उसके भाव वैसे ही होजाते हैं। ऐसा द्रव्यभावका निमित्त नैमित्तिक संबंध है, ऐसा ही संपूर्ण द्रव्योंका निमित्तनैमित्तिक भाव जानना चाहिये। ऐसा होनेपर जो परद्रव्यको ग्रहण करता है उसके रागादि भाव पैदा होते हैं, उनका वह कर्ता भी होता है। जिससे कर्मका बंध भी करता है। जब ज्ञानी हो जाता है तब किसीके ग्रहण करनेका राग नहीं होता है और न रागादिरूप परिणमन ही होता है। आगेका बंध भी नहीं करता है। इसप्रकार ज्ञानी परद्रव्यका कर्ता नहीं होता है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहकर परद्रव्यके त्यागनेका

उपदेश करते हैं ।

शार्दूलविक्रीडित छंद—

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बला-
त्तन्मूलां बहुभावसन्ततिमिमामुद्धर्तुकामः समम्
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतम् ।
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्माऽऽत्मनि स्फूर्जति ॥१६॥

अर्थ– जो पुरुष इस प्रकार परद्रव्य और अपने भावमें निमित्तनैमित्तिकपनेका विचारकर, संपूर्ण उस परद्रव्यका अपने बल-पराक्रम-उद्योगसे त्याग कर, परद्रव्य है मूल जिसका ऐसी बहुत भावोंकी परिपाटीको दूरकर, एकसाथ उखाडनेको चाहता है वह अतिशय रूपसे वहते प्रवाह रूप, धारावाही, पूर्ण, एक संवेदन ज्ञानसे युक्त अपने आत्माको प्राप्त करता है । क्योंकि मूलसे उखाड दिये हैं कर्मके बंधन जिसने ऐसा भगवान आत्मा अपनेमें ही स्फुरायमान-प्रगट होता है । भाव ऐसा है कि परद्रव्यके और अपने भावके निमित्तनैमित्तिक भाव जानकर सपूर्ण परद्रव्यको त्यागकर, जब सपूर्ण रागादि भावोंकी परिपाटी काट देता है तब आत्मा अपने आपका ही अनुभव करता हुआ कर्मके बंधको काटकर आपहीमें प्रकाश रूप प्रगट होता है । इसलिये अपने हितको चाहने वाले भव्य पुरुषोंको ऐसा ही करना चाहिये ।

चौपाई—इहि विधि वस्तु व्यवस्था जानै रागादिक निज रूप न मानै
तातैं ग्यानवंत जगमांही, करम बंधको करता नाहीं ॥ १६ ॥

ग्यानी भेदग्यानसौं बिलेछि पुदगल कर्म,
आतमीक धर्मसौं निरालो करि मानतो ।
ताकौ मूलकारन असुद्ध राग भाव ताके,
नासिवेकौं सुद्ध अनुभौ अभ्यास ठानतो ॥
याही अनुक्रम पररूप सनबंध त्यागि

आप माहि अपनौ सुभाव गहि आनतौ।
साधि सिवचाल निरबध होत तिहूं काल
केवल विलोक पाइ लोकालोक जानतौं ॥

अब बंध अधिकारको समाप्त करते हुए अंतके मंगलाचरण रूप ज्ञानकी महिमाका अर्थरूप कलश काव्य कहते हैं—

मन्दाक्रान्ता छंद—

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां
कार्यं बंधं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य ॥
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्।
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ॥१७॥

अर्थ—पहिले बंधके कारण रागादि भावोंके उदयको जैसे निर्दयी किसीको विदारता है उस तरहसे विदारता हुआ प्रगट हुवा, पीछे जब कारण दूर होगये तब उनका कार्य जो ज्ञानावरणादि अनेक प्रकारके कर्मका बंध होता है उसे तत्कालदूर कर, दूर किया है अज्ञान रूपी अंधकार जिसने ऐसा ज्ञानज्योति उस प्रकारसे फैल जाता है जिससे इसके फैलावको कोई रोक नहीं सकता। भाव ये है कि जब ज्ञान प्रगट होता है तब रागादि नहीं रहते हैं, तब उनका कार्य जो कर्मबंध, सो भी नहीं रहता है। फिर ज्ञानको आवरण करने वाला कौन रहेगा ? ये तो सदाकाल प्रकाश रूपही रहेगा—

जैसे कोऊ मनुष्य अजान महावलवान खोदि मूलवृच्छको उखारै गहि बाहूसौं।
तैसें मतिमान दर्वकर्म भावकर्म त्यागि ह्वै रहै अतीत मतिज्ञानकी दसाहू सौं ॥
याही क्रिया अनुसार मिटै मोह अधकार जगै जोति केवल प्रधान सविताहू सौं।
चुकै न सकतीसौं लुकै न पुद्गल माहि धुकै मोख थलकौं रुकै न फिर काहूसौं ॥१७॥

इस प्रकार ज्ञानके प्रगट होते ही बंध रंगभूमिसे निकल गया।

अंतिम सवैया–

ज्यों नर कोय परै रजमाहि सचिक्कण अंग लगै वह गाढै।
त्यों मतिहीन जु राग विरोध लिये विचरै तव बंधन बाढै॥
पाय समै उपदेश यथारथ रागविरोध तजै निज चाढै।
नाहिं बंधै तव कर्मसमूह जु आप गहै परभावनि काढै॥१॥

इस प्रकार इस समयसार ग्रन्थमें निजानंदामृतसारका बंध नामक सांतवां अधिकार पूर्ण हुआ।

मोक्षाधिकारः प्रारभ्यते—

दोहा-कर्मबंध सब काटकें पहुंचे मोक्ष सुथान ।
नमूं सिद्ध परमातमा करूं ध्यान अमलान ॥ १ ॥

जैसे नृत्यके अखाडेमें स्वांग प्रवेश करता है उसी तरह सर्व स्वांगोंका जानने वाला ज्ञान प्रवेश करता है इसलिये सम्यग्ज्ञानकी महिमा रूप मगलाचरणका काव्य कहते हैं—

शिखरिणी छंद—

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतम् ।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसम् ।
परं पूर्णज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते ॥ १ ॥

अर्थ- बंध पदार्थके अनन्तर पूर्णज्ञान, प्रज्ञारूप करोंतसे विदारणकर बंध और पुरुषको भिन्न २ करके अपने स्वरूपका साक्षात अनुभव कर, निश्चित ऐसे पुरुषको साक्षात मोक्षको प्राप्त कराता हुवा जयवत प्रवर्तता है। जो पूर्णज्ञान उदय होते हुए अपने स्वाभाविक परमानन्द, रससे भरा हुवा है, और जो उत्कृष्ट है, जिसने करने लायक सपूर्ण कार्य कर लिये हैं, अब कुछ भी करना बाकी नहीं है, ऐसा पूर्णज्ञान जयवंत प्रवर्तता है।

भेदज्ञान आरासौं दुफारा करै ग्यानीजीव आतम करम धारा भिन्न भिन्न चरचै
अनुभौ अभ्यासलहै परम धरम गहै करम भरमकौ खजानो खोलि खरचै ।
योंही मोख मुख धावै केवल निकट आवै पूरन समाधि लहै परमकौ परचै ।
भयौ निरदौर याहि करनौं न कछू और ऐसो विश्वनाथ ताहि बनारसि अरचै

मोक्षकी प्राप्ति किस तरह हो सकती है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि जो बंधका छेदन करके बंधके स्वरूपको जानकर संतुष्ट हैं वे मोक्ष नहीं पाते हैं ऐसा बतलाते हुए कहते हैं—

जहणाम को वि पुरिसो बंधणयम्मि चिरकालपडिबद्धो
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणए तस्स ॥२८८॥
जइ ण वि कुणइ च्छेयं ण मुच्चए तेण बन्धणवसो सं
कालेण उ बहुएण वि ण सो णरो पावइ विमोक्खं ।
इय कम्मबंधणाणं पएसठि डिमेवमणुभागं
जाणंतो वि ण मुच्चइ मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो ।

यथा नाम कश्चित् पुरुष' बंधनके चिरकालप्रतिबद्धः ।
तीव्रमंदस्वभावं कालं च विजानाति तस्य ॥२८८॥
यदि नापि करोति छेदं न मुच्यते तेन बंधनवशःसन् ।
कालेन तु बहुकेनापि न स नरः प्राप्नोति विमोक्षम् ॥२८९॥
इति कर्मबंधनाना प्रदेशस्थितिप्रकृतिमेवमनुभागम् ।
जानन्नपि न मुच्यते मुच्यते स चैव यदि शुद्धः ॥ २९० ॥

अर्थ—जैसें कोई पुरुष बंधनमें बहुत कालका बंधा हुवा उस बंधनके तीव्र, मंद, गाढ, ढीले स्वभावको जानता है, और उसके कालको भी जानता है कि इतने कालका बंधा है, यदि उस बंधनको आप काटता नहीं है तो उस बंधनके वशीभूत ही रहता है, उससे छूटता नहीं है, बहुत समयतक वह पुरुष बंधसे छूटने रूप मोक्षको नहीं पाता है। उसी तरह जो पुरुष कर्मके बंधनका प्रदेशबंध, स्थितिबंध, प्रकृतिबंध अनुभागबंध इस प्रकारके ४ भेदोंको जानता है तो भी कर्मसे नहीं, छूटता है। यदि आप रागादिसे दूर हो जाय तो नियमसे छूट जावेगा। मतलब ऐसा हैं कि कोई अन्यमति ऐसा मानते हैं कि बंधके स्वरूपके जाननेसे ही मोक्ष हो जाता है उनके कथनका इस कथनसे निराकरण किया है।

बंधका अभाव जानने मात्रसे नहीं होता है । बंधका अभाव तो बंधके कारणोंके दूर करनेसें हीं होता हैं ।

आगे कहते हैं कि बंधकी चिंता करनेसे बंध नहीं कटता है—

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावइ विमोक्खं ।
तह बंधे चिंततो जीवो वि ण पावइ विमोक्खं ॥२९१॥

यथाबंधाँश्चिन्तयन्बंधनबद्धो न प्राप्नोति विमोक्षम् ।
तथा बंधाँश्चिंतयज्जीवोऽपि न प्राप्नोति विमोक्षम् ॥२९१॥

अर्थ जैसे कोई बंधनसे बंधा हुवा पुरुष उस बंधनका चिंतवन करता हुवा मोक्षको प्राप्त नहीं होता है, उसी तरह कर्म बंधका चिंतवन करने वाला जीव केवल कर्मबंधके चिंतवन करनेसे मोक्षको नहीं पाता है । ऐसा चिंतवन तो धर्मध्यान रूप हो सकता है, धर्मध्यान शुभ परिणाम है, शुभ परिणामसे मोक्ष नहीं होता है

प्रश्न—बंधके स्वरूपके ज्ञानसे मोक्ष नहीं होता और न उसका सोच करनेसे मोक्ष होता है तो फिर मोक्षका कारण क्या है ? ऐसा प्रश्न करने पर मोक्षका उपाय बतलाते हैं—

जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्धो उ पावइ विमोक्खं
तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्खं ॥२९२॥

यथा बंधांश्चाश्छित्वा च बंधनबद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षम्
तथा बंधांश्छित्वा च जीवः प्राप्नोति विमोक्षम् ॥२९२॥

अर्थ—जैसे बंधनसे बंधा हुवा पुरुष बंधनको छेदकर-काटकर मोक्ष (स्वतंत्रता) पाता है उसी तरह कर्मके बंधनको छेदकर जीव मोक्ष पाता है । दृष्टांत—जैसे बेडी सांकल आदिसे बंधे पुरूषको सांकलके बंधनका काटना छूटनेका कारण है, उसी तरह इस कथन से पहिले कहे गये जो दो प्रकारके मनुष्य एक तो बंधका स्वरूपका जानने वाला दूसरा बंधकी चिंता करनेवाला उन दोनोंको

आत्मा और बंधको न्यारा २ करनेमें प्रेरणाकर उद्योग कराया है ॥

प्रश्न—आपने ऊपर बतलाया कि कर्मबंधका छेदना मोक्षका कारण है सो यही मोक्षका कारण है क्या ? ऐसा पूछने पर उत्तर गाथा कहते हैं—

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खं कुणई २९३॥

बंधानां च स्वभावं विज्ञायात्मनः स्वभावं च ।
बंधेषु यो विरज्यते स कर्मविमोक्षणं करोति ॥ ९३॥

अर्थ—बंध और आत्माके स्वभावको जानकर जो पुरुष बंधनसे विरक्त हो जाता है वह पुरुष कर्मोंका विमोक्षण करता है।

प्रश्न—आत्मा और बंध इन दोनोंका प्रथकपना कैसे किया जा सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—

जीवो बंधो य तहा छिज्जति सलक्खणेहिं णियएहि
पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥२९४॥

जीवो बधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्यां ।
प्रज्ञाछेदनकेन तु छिन्नौ नानात्वमापन्नौ ॥२०४॥

अर्थ—आत्मा और कर्म दोनोंको अपने २ नियत लक्षणके भेदसे पहिचानकर बुद्धिरूपी छैनीसे छेदकर अलग २ करना चाहिये, क्योंकि आत्मा तो अमूर्तिक है, और बंध सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओंका स्कंध है, परंतु छद्मस्थके ज्ञानमें दोनों अलग २ अनुभवमें नहीं आते हैं, एक स्कंध दीखता है, दूसरा अरूपी इसीसे अज्ञान अनादि है ऐसा जानना, सो श्री गुरुका उपदेश पाकर इनका लक्षण अलग २ ही अनुभवसे जानना चाहिये । आत्माका लक्षण तो चैतन्यमात्र है, और बंधका लक्षण रागादि है । ये दोनों ज्ञयज्ञायक भावकी अति निकटतासे एकसे हो रहे हैं । सो तीक्ष्णबुद्धि रूपी छैनी इनके भेद करनेका शस्त्र है, उसको

इनकी सूक्ष्म संधीको देखकर सावधानीसे डालना, उसके पडतेही दो चीज न्यारी २ दीखने लगेंगीं, तब आत्माको तो ज्ञान भावमें ही रखना, और बंधको अज्ञानभावमें रखना, इस प्रकार दोनोंको भिन्न २ करना। इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं —

स्रग्धराछंद—

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः।
सूक्ष्मेऽन्तःसंधिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य ॥
आत्मान मग्नमन्त स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे।
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥२॥

अर्थ—आत्मा और बंधको भिन्न २ करनेके लिये यह प्रज्ञा ही तीक्ष्ण छैनी है। सो प्रवीण पुरुष प्रमाद रहित होकर आत्मा और कर्म इन दोनोंकी भीतरी संधिके बंधनमें किसी प्रकार यत्नपूर्वक ऐसे डालते हैं जिससे यह बुद्धिरूपी छैनी शीघ्रही आत्मा और कर्मको भिन्न २ कर देती है! सो कैसी है छैनी? आत्माको तो अंतरगमें स्थिर और स्पष्ट प्रकाश रूप दैदीप्यमान है धाम-तेज जिसका ऐसा जो चैतन्यका प्रवाह उसमें करती हुई पडती है। और बंधको अज्ञान भावमें निश्चल नियमसे करती हुई पडती है।

विशेषार्थ—यहां आत्माका और बंधका भिन्न २ करना रूप कार्य है, उस कार्यका कर्ता आत्मा है, सो कर्ता करण विना कार्य किससे करे? इसलिये करण चाहिये, निश्चयसे करण कर्तासे भिन्न होता नहीं है, इससे आत्मासे अभिन्न यह बुद्धि ही इस कार्यमें करण होसक्ती है। आत्माके साथ अनादिबद्ध ज्ञानावरणादि कर्म हैं, उनका कार्य भावबंध तो रागादि और नोकर्म शरीरादि हैं। सो बुद्धिके द्वारा आत्माको शरीरसे तथा ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मसे तथा रागादि भावकर्मसे भिन्न एक चैतन्य भावमात्र

अनुभव कर ज्ञान ही में लीन रखना यही हुआ भिन्न करना इसीसे संपूर्ण कर्मोका नाश होता है। और सिद्धपदको पाता है ऐसा जानना चाहिये।

काहू एक जैनी सावधान ह्वै परम पैनी ऐसी बुद्धि छैनी घटमाहीं डार दीनी है।
पैठि नोकरम भेदि दरब करम छेदि सुभाव विभावताकी संधि सोधि लीनी है॥
तहां मध्यपाती होइ लखि तिन धारा दोइ एक मुधामइ एक सुधारस भीनी है।
मुधासौं बिरचि सुधासिंधु मैं मगन भई ऐती सब क्रिया एक समै वीचिकीनी है।२।

दोहा—जैसे छैनी लोहकी करै एकसौं दोई।
जड चेतनकी भिन्नता त्यौं सुबुद्धि सौं होइ॥

प्रश्न—आत्मा और कर्मका जुदा करके क्या करना चाहिये? इसका उत्तर रूप गाथा —

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं
बंधो छेयदव्वो सुद्धो अप्पा य घित्तव्वो ॥२९५॥

जीवो बधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्यां।
बंधश्छेत्तव्यः शुद्ध आत्मा च गृहीतव्यः ॥२९५॥

अर्थ—जीव और बंध इन दोनोंको अपने २ निश्चित स्वलक्षणसे उस तरह भिन्न करना चाहिये जिससे बंध तो छेदकर भिन्न किया जाय और शुद्ध आत्मा ग्रहण किया जाय। ऊपर शिष्यने जो ऐसा प्रश्न किया था कि आत्मा और बधको द्विधा करके क्या करना चाहिये? उसका उत्तर दिया है कि बधका तो त्याग करना और शुद्ध आत्माको ग्रहण करना चाहिये।

प्रश्न—आत्माको कर्मसे प्रज्ञासे भिन्न करनेके पश्चात् आत्माको किसस ग्रहण करना चाहिये? उत्तर रूप गाथा —

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो ॥२९६॥

कथ स गृह्यते आत्मा प्रज्ञया स तु गृह्यते आत्मा ।
यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ॥२९६॥

अर्थ--जो ऐसा प्रश्न किया गया है कि आत्मा किस तरह ग्रहण किया जा सकता है ? आचार्य उसीका उत्तर देते हैं कि यह शुद्ध आत्मा प्रज्ञा ही से ग्रहण किया जाता है, जैसे पहिले प्रज्ञासे भिन्न किया था। उसी प्रकार प्रज्ञासे ही ग्रहण करना चाहिये। भिन्न करनेमें और ग्रहण करनेमें अलग २ करण नहीं है, जो प्रज्ञा भिन्न करनेमें कारण है, वही प्रज्ञा ग्रहण करनेमें कारण है, इसलिये प्रज्ञासे ही भिन्न किया और प्रज्ञासे ही ग्रहण करना चाहिये

प्रश्न--प्रज्ञासे कैसे ग्रहण करना चाहिये ? उत्तर रूप गाथा–

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९७॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः ।
अवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥२९७॥

अर्थ जिस प्रज्ञासे आत्माको बंधसे भिन्न किया था, उसीसे यह 'चैतन्य स्वरूप आत्मा मैं हूं शेष अवशेष भाव मेरेसे भिन्न हैं" ऐसा ग्रहण करना सो अभिन्न षट्कारक लगानेसे मुझे, मुझकर, मेरे ही लिये, मुझसे मुझमें ग्रहण करता हूं। वह ग्रहण करना क्या है ? चैतनकी चितस्वरूप क्रिया हो। है, उसीसे चेतता जानता हूं, अनुभव करता हूं, फिर इन कारकोंका भी निषेध किया कि मैं शुद्ध चैतन्यमात्र भाव हों सो एक अभेद रूप हों द्रव्यदृष्टिसे कर्ता कर्म आदि षट् कारकका भी भेद मुझमें नहीं है। इससे नहीं चेतता हूं, जानता हूं, अनुभव करता हूं इत्यादि लगाना इस प्रकार बुद्धिसे ग्रहण करना। इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं।

भित्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते।
चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम् ॥
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि।
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥३॥

अर्थ — ज्ञानी कहता है-कि न्यारे करनेको समर्थ हो सकते हैं तो उस सबको निज लक्षणके बलसे भेद कर मैं चैतन्य चिन्हसे चिन्हित, विभाग रहित है महिमा जिसकी, ऐसा शुद्ध चैतन्य ही हूं। जो कर्ता, कर्म. करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये छह कारक और सत्व असत्व, नित्यत्व अनित्यत्व, एकत्व अनेकत्व, आदिक धर्म तथा ज्ञान दर्शन आदिक गुण ऐ भेद रूप हों तो होओ। विशद्ध समस्त विभावोंसे रहित, एक तथा संपूर्ण गुण पर्यायोंमें व्यापक ऐसे चैतन्यभावमें तो कुछ भेद है नहीं।

कोऊ अनुभवी जीव कहै मेरे अनुभौमैं लच्छनविभेद भिन्न करमकौ जाल है।
जानै आपा आपुकौ जु आपुकरि आपुविषै उतपाति नास ध्रुव धारा असराल है॥
सारे विकलप मोसौं न्यारे सरवथा मेरौ निहचै सुभाव यह विवहार चाल है।
मैं तो सुद्ध चेतन अनत चिन्मुद्रा धारी प्रभुता हमारी एक रूप तिहूं काल है॥३॥

आगे कहते हैं कि शुद्ध चैतन्यमात्र तो ग्रहण कराया परन्तु सामान्य चेतना दर्शन ज्ञान रूप सामान्य है अत एव दर्शन ज्ञान स्वरूप आत्माका अनुभव ऐसे करना—

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९८॥
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्चयदो
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९९॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो दृष्टः सोह तु निश्चयतः।
अवशेषा य भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥२९८॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः ।
अवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥।२९९॥

अर्थ–प्रज्ञासे इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये कि जो दृष्टा-देखने वाला है वही मैं हूं, अवशेष जितने भाव हैं सभी मेरेसे भिन्न हैं, पर हैं। और प्रज्ञासे ऐसा भी ग्रहण करना कि जो ज्ञाता-जानने वाला है सो भी मै ही हू। शेष जितने भाव हैं वे सब मुझसे भिन्न पर हैं ऐसा जानना चाहिये।

विशेष––पहिले तो सामान्य चेतनाका अनुभवन कराया था सो आत्माको प्रज्ञासे ग्रहण करना पहिले कहा था, चेतनाका अनुभवन करना ही ग्रहण करना है, कुछ अन्य वस्तुका ग्रहण करना नहीं है। अनुभव करना, अनुभवन करनेवाला, अनुभवन जिसमे किया जाय इत्यादि षट्कारक भेद रूप कहकर अभेद विवक्षामें कारकभेदका निषेध किया, एक शुद्ध चैतन्य मात्रका ही कथन किया था। अब यहां चेतना सामान्य है सो ज्ञान दर्शनके भेदसे दो भेद रूप है, इसलिये ज्ञाता दृष्टाका अनुभवन कराया। इसमें भी षट्कारक रूप भेद अनुभवन कर पीछे अभेद अनुभवन अपेक्षा कारक भेद दूर कर दृष्टा ज्ञाता मात्रका अनुभवन कराया है

अब इसी अर्थका सूचक कलश रूप काव्य कहते हैं––

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद्दृग्ज्ञप्तिरूप त्यजेत्।
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत्॥
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-।
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियत दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित्॥४॥

अर्थ––जगतमें निश्चयसे चेतना अद्वैत है तो भी वह अपने दर्शन ज्ञान रूप को छोड देवे तो सामान्य विशेष रूपके अभावसे वह चेतना अपने अस्तित्वको ही छोड देगा। जब

चेतना अपने अस्तित्व ही को छोड देगा तव चेतनाके जडता हो जायगी इससे व्याप्य आत्मा अपने व्यापक चेतनाके विना नाश को प्राप्त हो जायगा इसलिये ऐसा निश्चय करना चाहिये कि चेतना अपने सामान्य विशेष रूप दर्शन ज्ञान स्वरूप ही होती हैं।

तात्पर्य ये है कि वस्तुका स्वरूप सामान्य विशेष रूप ही है। चेतना भी एक वस्तु है यदि वह अपने दर्शन ज्ञान विशेषको छोड देगा तो वस्तुपनाका ही नाश हो जावेगा। चेतनाके अभाव होते ही आत्माका भी अभाव हो जावेगा। इसलिये चेतनाको दर्शन ज्ञान स्वरूपही मानना चाहिये ॥४॥

सवैया इकतीसा

निराकार चेतना कहावै दरसन गुन साकार चेतना सुद्ध ग्यान गुनसार है।
चेतना अद्वैत दोऊ चेतन दरब माहि सामान्य विशेष सत्ता ही कौ विस्तार है॥
कोऊ कहै चेतना चिहन नाहीं आतमामें चेतनाके नास होत त्रिविध विकार है।
लच्छनकौ नास सत्ता नास मूलवस्तु नास तातैं जीव दरबको चेतना अधार है॥४॥

आगे कहते हैं चेतनका भाव तो चिन्मय है, इसके सिवाय बाकीके भाव परभाव हैं, सो चिन्मय भाव ही उपादेय है बाकीके भाव हेय हैं—

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाःपरे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाःपरे सर्वत एव हेयाः ॥५॥

अर्थ— चैतन्यका एक चिन्मय ही भाव है, बाकी के भाव नियमसे पर के ही भाव हैं, इसलिये एक चिन्मय भाव ही उपादेय है, बाकीके सब परभाव त्यागने योग्य हैं।

अडिल्लछंद

जाकै चेतन भाव चिदानंद सोय है।
और भाव जो धरै सौ औरौ कोय है।

जो चिन्मंडित भाव उपादे जाननैं,
त्याग जोग परभाव पराये माननैं ॥५॥

अब इसी उपदेशकी गाथा कहते हैं—

को णाम भणिज्ज बुहो णाऊं सव्वे पराइए भावे।
मज्झमिणंति य वयणं, जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥३००॥

को नाम भणेद् बुधो ज्ञात्वा सर्वान्पराकियान्भावान्।
ममेदमिति च वचनं जानन्नात्मानं शुद्धम् ॥३००॥

अर्थ—ज्ञानी आत्मा अपने स्वरूपको जानकर तथा पर द्रव्योंके संम्पूर्ण भावोंको जानकर, अपने शुद्ध स्वरूपको जाननेवाला ऐसा कौन ज्ञानी होगा जो ऐसा कहेगा कि ये भाव मेरे हैं?

तात्पर्य ये है कि लोकमें जो बुद्धिमान और न्यायी होता है वह दूसरेके धनादिकको कभी अपना नहीं कहता है। उसी तरह सम्यग्ज्ञानी संपूर्ण पर द्रव्योंको अपने नहीं मानता है किंतु अपने भावको ही अपना मानता है और उसीको ग्रहण करता है। इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितच्छद——

सिद्धांतोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यताम्।
शुद्ध चिन्मयमेकमेव परमज्योतिः सदैवास्म्यहम् ॥
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावाःपृथग्लक्षणाः।
तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥६॥

अर्थ—जिनके चित्तका चरित्र उज्वल है ऐसे मोक्ष प्राप्त करनेके इच्छुक पुरुष इस सिद्धांतका सेवन करो कि "मैं तो निरंतर शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति रूप ही हूं बाकीके अनेक प्रकारके भिन्न लक्षण वाले जो दूसरे २ भाव हैं उन रूप मैं नहीं हू क्योंकि वे सब तो परद्रव्यरूप हैं"

सवैया तेइसा—

चेतन मंडित अंग अखंडित सुद्ध पवित्र पदारथ मेरौ।
राग विरोध विमोह दसा समुझे भ्रमनाटक पुद्गल केरौ।
भोग संयोग वियोग विथा अवलोकि कहै यह कर्मज घेरौ।
है जिनकौ अनुभौ इह भांति सदा तिनकों परमारथ नेरौ ॥६॥

आगे कहते हैं कि जो परद्रव्यको ग्रहण करता है, वह अपराधी है, बंधमें पडता है। जो निज द्रव्य में संतुष्ट है सो निरपराधी है, वह बंधसे भी खुला रहता है।

अनुष्टुप छन्द—

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्यते चापराधवान्।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो मुनिः ॥ ७॥

अर्थ—जो परद्रव्यको ग्रहण करता है वह अपराधी होता है, और बंधमें पडता है। जो अपने ही द्रव्यमें संतुष्ट रहता है, परद्रव्यको ग्रहण नहीं करता है, ऐसा यतीश्वर निरपराधी है, वह बंधमें नहीं पडता है।

जो पुमान परधन हरै सो अपराधी अज्ञ।
जो अपनो धन व्यौहरे सो धनपति सर्वज्ञ॥
परकी संगति जो रचै बंध बढावै सोय।
जो निज सत्तामे मगन, सहज मुक्त सो होय॥

इसी कथनको दृष्टान्त पूर्वक गाथामें कहते हैं—

थेयाई अवराहे जो कुव्वइ सो उ संकिदो भमइ।
मा बज्झे जं केण वि चोरोत्ति जणह्मि वियरंतो ॥३०१॥
जो ण कुणइ अवराहे सो णिस्संको उ जणवए भमइ।
ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जइ कयाइ ॥३०२॥
एवह्मि सावराहो वज्झामि अहं तु संकिदो चेया।

जइ पुण णिरवराहो णिस्संको हं ण बज्झामि ॥३०३॥

स्तेयादीनपराधान्करोति यः स तु शंकितो भ्रमित ।
मा बध्ये केनापि चोर इति जने विचरन् ॥ ३०१ ॥
यो न करोत्यपराधान् स निःशंकस्तु जनपदं भ्रमति ।
नापि तस्य बद्धुं यच्चिन्तोत्पद्यते कदाचित् ॥ ३०२ ॥
एवमस्मि सापराधो बध्येऽहं तु शंकितश्चेतयिता ।
यदि पुनर्निरपराधो निःशंकोऽहं न बध्ये ॥ ३०३ ॥

अर्थ–जो मनुष्य चोरी आदि अपराधोंको करता है, सो ऐसी शंका सहित भ्रमण करता है, कि "यह चोर है, ऐसा जानकर कोई मुझे बांध न ले" अपराधीको ऐसी शंका हमेशा बनी रहती है, लेकिन जो किसी प्रकार अपराधी नहीं है वह सर्वत्र निःशंक भ्रमण करता है। ऐसेको कभी भी बंधकी चिन्ता नहीं उत्पन्न होती है। अपराधी विचार करता है कि "यदि मैं अपराध सहित हूं तो मुझे शंका है कि मैं बंध जाऊंगा" ऐसी शंका सहित होजाता है। यदि मैं निरपराध हू तो मैं निःशंक हूं मैं कभी बंध नहीं सकता हूं, ज्ञानी ऐसा ही विचार करता है।

सारांश—चोरी आदि रूप अपराध करे तो बंधन की शंका होवे, निरपराधको शंका क्यों होगी? यदि आत्मा पर द्रव्यका ग्रहणरूप अपराध करे तो उसको कर्मोंसे बंधनेकी शंका होवे। जो आपको शुद्ध अनुभव करे, पर द्रव्यका ग्रहण न करे तो उसको बन्ध की शंका क्यों होवे? नहीं होवे। इसलिए पर द्रव्यको छोडकर शुद्ध आत्माका ग्रहण करना यही निरपराध है इससे बन्ध नहीं होता है।

प्रश्न–अपराध क्या है? इस प्रश्नके उत्तरमें अपराधका स्वरूप बतलाने को कहते हैं, गाथा–

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं ।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥३०४॥
जो पुण णिरवराधो चेया णिस्संकिओ उ सो होई ।
आराहणए णिच्चं वट्टेइ अहंति जाणंतो ॥३०५॥

संसिद्धिराधसिद्धं साधितमाराधितं चैकार्थम् ।
अपगतराधो यः खलु चेतयिता स भवत्यपराधः ॥३०४॥
यः पुनर्निरपराधश्चेतयिता निःशंकितस्तु स भवति ।
आराधनया नित्यं वर्ततेऽहमिति जानन् ॥३०५॥

अर्थ—संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित, आराधित ये एकार्थवाची शब्द हैं। जो चेतयिता-आत्मा अपगतराध अर्थात् राधसे रहित हो उसको अपराध कहते हैं। जो आत्मा अपराध नहीं सो निरपराध, है वह शंका रहित है, अपने आपको " मैं हूं " ऐसा जानता हुआ आराधना सहित प्रवर्तन करता है।

भावार्थ—ऊपर संसिद्धि, राध, सिद्ध आदि शब्दोंका एकार्थवाची कहा है। राध माने शुद्ध आत्माकी सिद्धिका अथवा साधनाका है। जिस आत्माके ऐसी सिद्धि नहीं है वह सापराध है, जिसके ऐसी सिद्धि होती है वह निरपराध कहलाता है। जो सापराध होता है उसको बंधकी शंका होती है, क्योंकि वह आत्माका अनाराधक होता है, जो निरपराध होता है वह निःशंक अपने उपयोगमें लीन रहता है, इसलिये उसको बंधकी शंका नहीं होती है, क्योंकि वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तपका एक भाव रूप निश्चय आराधनाका आराधक है। अब इस अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

मालिनीवृत्त—

अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराधः स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु ।

नियतमयमशुद्धं स्व भजन् सापराधो भवति निरपराध साधु शुद्धात्मसेवी ॥८॥

अर्थ–जो आत्मा सापराध है वह तो निरंतर अनंत पुद्गल परमाणुरूप कर्मवर्गणाओंमे बंधता है लेकिन जो निरपराध होता है वह बंधको कभी भी स्पर्श नहीं करता है। सापराध आत्मा अपने आत्माको नियमसे अशुद्ध ही सेवन करता हुवा सापराध होता है। जो निरपराध होता है वह भले प्रकार शुद्ध आत्माका ही सेवन करने वाला होता है।

यहां व्यवहारनयका अवलंबी तर्क करता है कि इस शुद्ध आत्मा के सेवनके प्रयास करनेसे क्या फायदा है ? क्योंकि प्रतिक्रमण आदि प्रायश्चित्तोंसे ही आत्मा निरपराध होता है। सापराधके अप्रतिक्रमणादि अपराधके दूर करने वाले नहीं हैं इसीसे उनको विषकुंभ कहा है। निरपराधके प्रतिक्रमणादिक अपराधके दूर करने वाले हैं इससे उनको अमृतकुभ कहा है। यही बात व्यवहारको कहने वाले आचारसूत्रमें कहा है—

अप्पडिकमणमप्पडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही य विसकुंभो ॥१॥
पडिक्कमणं पडिसरणं पडिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गहरा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ॥२॥

अर्थ —अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिंदा, अगर्हा, अशुद्धि इस प्रकार आठ प्रकार लगे हुए दोषोंका प्रायश्चित्त करना सो तो विषकुभ-जहर का भरा हुवा घडा है।

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा, शुद्धि इस तरह आठ प्रकारसे लगे दोषोंका प्रायश्चित्त करना सो अमृतकुभ है। व्यवहारके पक्षीने ऐसा तर्क किया उसका समा-

धान आचार्य निश्चयनयकी प्रधानतासे कहते है. गाथा—

पडिकमणं पडिसरणं पडिहारो धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुंभो ॥२०६॥
अप्पडिकमणमप्पडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्ती य अणिंदा गरहा सोही अमक्कुंभयो॥ ३०७॥

प्रतिक्रमण प्रतिसरण प्रतिहारो धारणा निवृत्तिश्च ।
निंदा गर्हा शुद्धिरष्टविधो भवति विषकुंभः ॥३०६॥
अप्रतिक्रमणमप्रतिसरणमपरिहारोऽधारणा चैव ।
अनिवृत्तिश्च निंदाऽगर्हाऽशुद्धिरमृतकुंभः ॥३०७॥

अर्थ—प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा, शुद्धि ऐसे आठ प्रकार तो विषकुभ हैं, क्योंकि इनमें कर्तृत्व की बुद्धि सभव होती है । कर्तृत्व ही बंधका कारण है । और अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा अगर्हा, अशुद्धि इस तरह आठ प्रकार अमृतकुभ है क्योंकि यहां कर्तृत्वका निषेध है इसीसे बंधका भी निषेध है ।

भावार्थ—व्यवहारनयके अवलबीने कहा था कि आत्माके लगे दोषोंकी शुद्धि तो प्रतिक्रमणादिमे होती हैं इसलिये पहिले ही शुद्ध आत्माके अवलंबनके खेदसे क्या साध्य है? शुद्ध हो जाने बाद ही उसका अवलंबन होता है, इसके पहिले ही अवलंबनका खेद करना निष्फल ही है । उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि:— द्रव्यप्रतिक्रमणादिक तो दोषके मेटने वाले हैं, परंतु शुद्ध आत्मा का स्वरूप प्रतिक्रमणादि रहित है उसके अवलंबनके बिना प्रतिक्रमणादिक दोष स्वरूप ही हैं वे दोष को दूर नहीं कर सकते हैं, क्योंकि निश्चय सापेक्ष ही व्यवहारनय मोक्षमार्ग है, केवल व्यवहारका पक्ष मोक्षमार्ग नहीं हैं । वह तो बंधका ही मार्ग है,

इसलिये ऐसे कहा है कि अज्ञानीके जो प्रतिक्रमणादि हैं, वे तो विषकुंभ ही हैं। उनकी क्या कथा? परतु जो व्यवहार चारित्रमें प्रतिक्रमणादिक कहे गये हैं वे भी निश्चयनयकी दृष्टिमें विषकुंभ ही हैं, क्योंकि आत्मा तो प्रतिक्रमणादिसे रहित शुद्ध अप्रतिक्रमणादि स्वरूप है ऐसा जानना चाहिये।

इसी कथनका कलशरूप काव्य कहते हैं--

अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनता,
प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालम्ब-
नमात्मन्येवालानितं च चित्त-
मासपूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ॥ ९ ॥ चूर्णि।

अर्थ—इस कथनसे सुखसे बैठे हुए प्रमादी जीवोंको ताडा गया है। जो निश्चयनयका आश्रय लेकर प्रमादी हो रहे हैं उनको ताडना देकर उद्यममें लगाया है, चपलपनेका नाश किया है, जो स्वच्छद प्रवृत्ति करनेवाले हैं उनका स्वच्छंदपना दूर किया है, आलंबनको उपाडकर दूर फेंका है, जो व्यवहारनयका पक्ष लेकर परद्रव्यका तथा द्रव्यप्रतिक्रमणादिका अवलंबन लेकर संतुष्ट हो रहे हैं, उनका अवलंबन छुडाया है, चित्तको आत्मामें ही थंभाया है। व्यवहारके आलवनमें अनेक प्रवृत्तियोंमें चित्त भ्रम रहा था उसको शुद्ध आत्मामें ही लगाया है। जबतक सपूर्ण विज्ञान घन शुद्ध आत्माकी प्राप्ति न हो जाय तबतक चैतन्यमात्र आत्मा में चित्त लगा रहे इस रूपसे थंभाया है ऐसा जानना चाहिये।

दोहा—जाके घट समता नहीं ममता मगन सदीव।
रमता राम न जानई सो अपराधी जीव॥
अपराधी मिथ्यामती निरदै हिरदै अंध।
परकौ मानै आतमा करै करमकौ बंध॥

झूठी करनी आचरैं झूठे सुखकी आस।
झूठी भगति हिए धरैं झूठे प्रभुको दास ॥ ९ ॥

अब कहते हैं कि निश्चयनयसे प्रतिक्रमणादिकको तो विष कुंभ कहा और अप्रतिक्रमणादिकको अमृतकुंभ कहा, उसको कोई उल्टा समझ प्रतिक्रमणादिकको छोडकर प्रमादी हो जावे तो उसको समझानेको कलशरूप काव्य कहते हैं—

वसंततिलकाछंद—

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं,
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः,
किन्नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥ १० ॥

अर्थ—हे भाई जहां प्रतिक्रमणहीको विष कहा गया है, वहां अप्रतिक्रमण अमृत कैसे हो सकता है ? अत एव यह जन नीचे नीचे पडता हुवा प्रमाद रूप क्यों हो रहा है ? निष्प्रमादी होकर ऊंचा ऊंचा क्यों नहीं चढता है ?

दोहा रामरसिक अरु रामरस कहन सुननको दोय
जब समाधि परगट भई तब द्विविधा नहि कोय ॥१०॥

आगे इसी अर्थको दृढ करते हुए काव्य कहते हैं—

पृथ्वीवृत्तम्

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः।
कषायभरगौरवादलसतः प्रमादो यतः ॥
अतः स्वरसनिर्भरे नियमतः स्वभावे भव—
न्मुनिःपरमशुद्धतां व्रजति मुच्यते वाऽचिरात् ॥११॥

अर्थ—क्योंकि कषायके भारके गौरवसे जो आलसीपन होता है उसको प्रमाद कहते हैं। ऐसे प्रमादसे युक्त जो आलसभाव होताहै वह शुद्धभाव कैसे हो सकता है ? इसलिए आत्मिक रससे

भरे हुए स्वभाव में निश्चल होनेवाला मुनि परम शुद्धताको प्राप्त होता है और शीघ्र ही थोडे कालमें कर्म बधसे छूट जाता है।

विशेषार्थ–प्रमाद कषायके गौरवसे होता है, प्रमादीके भाव शुद्ध नहीं होते हैं, जो मुनि उद्योग करके अपने स्वभावमें प्रवर्तते हैं वह शुद्ध होकर मोक्षको प्राप्त हो जाते हैं।

दोहा–जे परमादी आलसी जिन्हके विकलप दूर।
होइ सिथिल अनुभौ विषैं तिन्हकौं शिवपथ दूर॥
जे परमादी आलसी ते अभिमानी जीव।
जे अविकल्पी अनुभवी ते समरसी सदीव॥
जे अविकल्पी अनुभवी शुद्ध चेतना युक्त।
ते मुनिवर लघु कालमें हौंहिं करमसौं मुक्त॥ ११॥

अब मुक्त होनेके अनुक्रमसे अर्थ रूप काव्य कहते हैं तथा मोक्षका अधिकार पूर्ण करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछन्द—

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किलं परद्रव्यं समग्रं स्वयम्।
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युत.।
बंधध्वंसमुपेत्यनित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते॥ १२॥

अर्थ–जो पुरुष निश्चयसे अशुद्धताके करने वाले परद्रव्य को छोडकर अपने निज द्रव्यमें लीन हो जाते हैं वे पुरुष नियम से संपूर्ण अपराधोंसे रहित होते हुए बन्धके नाशको कर, नित्य उदय रूप होते हुए अपने स्वरूपके प्रकाश रूप ज्योतिसे निर्मल उछलता जो चैतन्य रूप अमृतका प्रवाह उससे पूर्ण है महिमा जिनकी ऐसे शुद्ध होते हुए कर्मोंसे छूट जाते हैं।

सारांश–पहिले सम्पूर्ण परद्रव्योंका त्यागकर अपने निज-

द्रव्य आत्म स्वभावमें लीन होते हैं वे सम्पूर्ण रागादि परिणति रूप अपराधसे रहित होकर आगामी कर्म बंधका नाश करते हैं। और नित्य उदय रूप केवलज्ञानको पाकर शुद्ध होकर सर्व कर्मों का क्षयकर मोक्षको प्राप्त हो जाते हैं। यह मोक्ष होनेका अनुक्रम है। ऐसे मोक्ष का अधिकार पूर्ण हुआ।

चौपाई—जे समकिती जीव समचेती, तिनकी कथा कहौं तुम सेती।
जहां प्रमाद क्रिया नहिं कोई, निरविकलप अनुभौपद सोई॥
परिग्रह त्याग जोग थिर तीनों, कर्म बन्ध नहि होय नवीनो।
जहां न राग दोष रस मौहे, प्रगट मोख मारग मुख सो है॥
पूरव बन्ध उदय नहीं व्यापै, जहां न भेद पुण्य अरु पापै।
दरव भाव गुन निर्मल धारा, बोध विधान विविध विसतारा॥
जिनकी सहज अवस्था ऐसी, तिनकै हिरदैं दुविधा कैसी।
जे मुनि क्षपक श्रेणि चढ धाये, ते केवलि भगवान कहाये॥ १२॥

अब मोक्षके अधिकारके पूर्ण होनेका अन्त मगल रूप ज्ञानकी महिमाका कलश रूप काव्य कहते हैं—

मन्दाक्रांता छन्द—

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम्।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीरम्।
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनम् महिम्नि॥१३॥

अर्थ—यह ज्ञान पूर्ण होकर दैदीप्यमान प्रगट हुआ। क्या करते हुए प्रगट हुआ? कर्मोंके नाश होनेसे फिर अतुल व अविनाशी मोक्ष पद प्राप्त करते हुए प्रगट हुवा। कैसा प्रगट हुआ? नित्य है प्रकाश जिसका ऐसी प्रफुल्लित हुई है स्वाभाविक अवस्था जिसकी फिर कैसा प्रगट हुआ? एकांत शुद्ध—कर्मके मेलके न रहनेसे अत्यन्त शुद्ध प्रगट हुआ। फिर कैसा प्रगट हुवा? अपने ज्ञानमय

आकारके निजरसके भारसे अत्यंत गंभीर और धीर है, जिसकी थांह नहीं है, और जिसमें कुछ आकुलता नहीं है। ज्ञान ने प्रगट होकर क्या किया ? अचल अपनी महिमामें लीन ऐसा हुआ ज्ञान प्रगट हुवा।

छप्पयछंद—

भयौ शुद्ध अंकूर गयौ मिथ्यात्व मूर नासि
क्रम क्रम होत उद्योत सहज जिमि सुकल पक्ष ससि
केवल रूप प्रकासि भासि सुख रासि धरम ध्रुव
करि पूरन थिति आउ त्यागि गत लाभ परम हुव ॥
इहविधि अनन्य प्रभुता धरत प्रगट बूंद सागर थयौ
अविचल अखंड अनुभय अखय जीव दरव जग महिं जयौ ॥

सिद्धोंमें आठ कर्मोंके नाश होने पर आठ गुण व्यक्त होते हैं

ज्ञानावरणी के गयें जानियें जु है सु सव, दर्शनावरणके गये तें सब देखिये।
वेदनी करमके गये तै निरावाध सुख, मोहनी के गयें सुद्ध चारित विशेखिये ॥
आउकर्म गये तें अवगाहन अटल होय, नामकर्म गये तें अमूरतीक पेखिये।
अगुरुअलघु रूप होत गोत्रकर्म गयें, अंतराय गये तें अनन्त बल लेखिये ॥

इस प्रकार रंगभूमिमे मोक्ष तत्वका स्वांग आया था सो ज्ञान के प्रगट होते ही मोक्षका स्वांग निकल गया।

सवैया तेईसा

ज्यौं नर कोय पर्यो दृढबंधन बंध स्वरूप लखै दुखकारी।
चिंत करै नित केम कटै यह तौऊ छिदै नहिं नैकटि कारी ॥
छेदन कूं गहि आयुध धाय चलाय निशंक करै दुय धारि।
यों बुध बुद्धि धसाय दुधा करि कर्मरु आतम आप गहारी ॥

इस प्रकार समयसार अपर नाम निजानंद मार्तंड ग्रंथमें आठमां मोक्ष नामा अधिकारपूर्ण भया

सर्व विशुद्धि अधिकार

इति श्री नाटक ग्रन्थमें कह्यौ मोक्ष अधिकार।
अब वरनौं संक्षेप सौं सर्व विशुद्धि द्वार ॥ १ ॥
सर्व विशुद्ध सुज्ञानमय, सदा आत्मा राम।
परकूं करै न भोगवै, जानै जपि तसु नाम ॥ २ ॥

यहां पहले मंगलरूप ज्ञानपुंज आत्माकी महिमा का वर्णन करनेवाले काव्यको कहते हैं—

मन्दाक्रान्ता छन्द

नीत्वा सम्यक्प्रलयमखिलान्कर्तृभोक्त्रादिभावान्।
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः ॥
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः ॥ १ ॥

अर्थ—ज्ञानका पुञ्ज आत्मा स्फुरायमान प्रगट होता है। क्या करके प्रगट होता है? सम्पूर्ण कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव को नाशकर प्रकट होता है। फिर कैसा है? प्रतिपद—बार २ नाशको प्राप्त करके प्रकट होता है। कर्मके क्षयोपशमके निमित्त से होनेवाली अनेक अवस्थाओंके प्रति बन्ध मोक्षकी तरह कल्पना रूप प्रवृत्तिसे दूरवर्ती है, शुद्ध है, शुद्ध है। दो बार शुद्ध कहनेसे यह जनाया है कि वह ज्ञान रागादि मल और आवरणसे रहित है। फिर कैसा है? टंकोत्कीर्ण प्रगट महिमा वाला है।

तात्पर्य—शुद्ध नयका विषय ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह कर्तृत्व भोक्तृत्व भावसे रहित है, बन्ध मोक्षकी रचना रहित है, परद्रव्य और सम्पूर्ण परद्रव्योंके भावोंसे रहित है, इसलिये शुद्ध है अपने निजरसके प्रवाहसे पूर्ण देदीप्यमान ज्योतिरूप टंकोत्कीर्ण जिसकी महिमा है ऐसा ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रकट होता है।

सवैया इकतीसा

कर्मनिको करता है भोगनिको भोगता है, जाकी प्रभुतामें ऐसो कथन अहित है ।
जामें एक इन्द्री आदि पंचधा कथन नाहिं, सदा निरदोष बंध मोक्षसों रहित है ॥
ज्ञानको समूह ज्ञानगम्य है सुभाव जाको, लोकव्यापी लोकातीत लोकमें महित है ।
सुद्धवंस सुद्ध चेतनाके रस अंस भर्यो, ऐसो हंस परम पुनीतता सहित है ॥१॥

अब विशुद्ध ज्ञानको प्रकट करते हुए पहिले कर्तृत्व भोक्तृत्व भावसे न्यारा दिखानेको सूचनिकाका श्लोक कहते हैं—

अनुष्टुप् छन्द

कर्तृत्व न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।
अज्ञानादेव कर्ताऽयं तदभावादकारकः ॥ २ ॥

अर्थ—इस आत्माका जैसे वेदयितृत्व-भोक्तापनेका स्वभाव नहीं है उसीतरह कर्तृत्वरूप स्वभाव भी नहीं है । आत्माको जो कर्ता कहा जाता है वह अज्ञान है, जिससमय अज्ञानका अभाव होजाता है उस समय अकर्तृत्व भाव होजाता है ।

चौपाई—जीव करम करता नहि जैसे, रस भोगता सुभाव न तैसे ।
मिथ्यामतिसौं करता होई, गये अज्ञान अकरता सोई ॥ २ ॥

आगे आत्माका अकर्तापना दृष्टान्तपूर्वक सिद्ध करते हैं गाथा—

दवियंजं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं ।
जह कडयादिहिं दु पज्जएहि कणयं अणण्णमिह ३०८
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा तेहिं अणण्णो वियाणीहि ॥३०९॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादओ ण किंचिवि कारणमवि तेण ण स होई ३१०

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धि दु ण दीसए अण्णा ३११

द्रव्य यदुत्पद्यते गुणैस्तत्तैर्जानीह्यनन्तम् ।
यथा कटकादिभिस्तु पर्यायैः कनकमनन्यदिह ॥ ३०८ ॥
जीवस्याजीवस्य तु ये परिणामास्तु दर्शिताः सूत्रे ।
तं जीवमजीवं वा तैरनन्यं विजानीहि ॥ ३०९ ॥
न कुतश्चिदप्युत्पन्नो यस्मात्कार्यं न तेन स आत्मा ।
उत्पादयति न किञ्चिदपि कारणमपि तेन न स भवति ३१०
कर्म प्रतीत्य कर्त्ता कर्त्तारं तथा प्रतीत्य कर्माणि ।
उत्पद्यन्ते च नियमात्सिद्धिस्तु न दृश्यतेऽन्या ॥ ३११ ॥

अर्थ जिस प्रकार सुवर्ण अपनी कटक कुंडल आदि पर्यायों से लोकमें भिन्न नहीं हैं, क्योंकि जो कटकादि हैं सो सुवर्ण ही है। उसी तरह द्रव्य अपने गुणोंसे उत्पन्न होता है सो उनगुणों से भिन्न नहीं है उन गुणमय ही उनको जानना चाहिये । इस प्रकार जीव और अजीवके जो परिणाम सूत्रमें कहे गये हैं उन परिणामोंसे उन जीव अजीवको अनन्यही जाननाचाहिये भिन्न नहीं जाननाचाहिये जो परिणाम हैं वे द्रव्य ही हैं। क्योंकि आत्मा किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है, इससे किसीका किया हुआ कार्य नहीं है। किसी दूसरेको उत्पन्न नहीं करता है, इसालिये किसीका कारण भी नहीं है। नियमं ऐसा है कि जैसे कर्मको प्रतीत्य करके कर्ता होता है, उसीतरह कर्ता को प्रतीत्य करके कर्म उत्पन्न होता है। दूसरी तरह कर्ता कर्मकी सिद्धि नहीं देखी जाती है।

भावार्थ—सभी द्रव्योंके परिणाम (पर्याय) न्यारे न्यारे हैं। सभी द्रव्य अपने अपने परिणामोंके कर्ता हैं, परिणाम द्रव्य के कर्म हैं। निश्चयसे किसीका किसीसे कर्तृकर्म सम्बन्ध नहीं है।

इससे जीव अपने परिणामोंका कर्ता है, और उसके परिणाम ही उसके कर्म हैं। उसी तरह अजीव अपने परिणामोंका कर्ता है। और वे परिणाम ही उसके कर्म हैं। इस प्रकार जीव अन्यके परिणामोंका करता नहीं है। इसी अर्थका कलशका कांव्य कहते हैं तथा ये भी बतलाते हैं कि जीव अकर्ता है तो भी जीवके कर्मका बंध होता है यह अज्ञानकी महिमा है—

शिखरिणी छंद

अकर्ता जीवोऽय स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः।
स्फुरज्जोतिर्भिश्छुरित भुवना भोग भवना॥
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बंधः प्रकृतिभिः।
सखल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहना॥

अर्थ—इस प्रकार जीव अपने निज रससे विशुद्ध है इसलिए परद्रव्य और परद्रव्यके भावोंका कर्ता नहीं है। कैसा है जीव? फैलते हुए चैतन्य ज्योतिसे व्याप्त है, लोकका मध्य भाग जिससे ऐसा है होना जिसका, ऐसा है तो भी इस लोकमें इस जीवके प्रगट रूपसे कर्मोंका वन्ध होता है, सो निश्चयसे अज्ञानका ही कोई ऐसा माहात्म्य है जो बडा गहन है उसकी थांह नहीं पाई जाती है।

भावार्थ—शुद्ध नयसे जीव परद्रव्यका कर्ता नहीं है उसका ज्ञान संपूर्ण ज्ञेयोंमें व्यापने वाला है तो भी इसके कर्म का बंध होता है, सो यह कोई अज्ञानका ही प्रभाव है।

सवैया इकतीसा

निहचै निहारत सुभाव याही आतमाकौ आतमीक धरम परम परकासना।
अतीत अनागत बरतमान काल जाकौ केवल सरूप गुन लोकालोक भासना॥
सोई जीव संसार अवस्था माहीं करमकौ करतासौ दीसै लिए परम उपासना।
यह महामोहको पसार यहै मिथ्याचार, यहै भौ विकार यह व्यवहार वासना॥

आगे इस अज्ञानकी महिमाको प्रगट करने को कहते हैं।

चेया ऊ पयडी अट्ठं उप्पज्जइ विणस्सई।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सई ॥ ३११ ॥
एवं बंधो उ दुण्हं वि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥ ३१३ ॥

चेतयिता तु प्रकृत्यर्थमुत्पद्यते विनश्यति।
प्रकृतिरपि चेतकार्थमुत्पद्यते विनश्यति ॥ ३१२ ॥
एवं बंधस्तु द्वयोरन्योन्यप्रत्ययाद्भवेत्।
आत्मनः प्रकृतेश्च संसारस्तेन जायते ॥ ३१३ ॥

अर्थ —चेतयिता-चेतनेवाला आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मकी प्रकृतिके निमित्तसे उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। उसीतरह प्रकृति भी चेतनवाले आत्माके निमित्तसे उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। आत्माके परिणामके निमित्तसे उसीतरह परिणमता है। इसतरह आत्मा और प्रकृतिका परस्परके निमित्तसे बंध होता है और उस बन्धसे संसार होता है।

सारांश–परमार्थसे आत्मा और प्रकृतिके कर्तृ कर्मपनेका अभाव है तो भी परस्परके निमित्त नैमित्तिकभावसे कर्तृ कर्म का भाव है, उसीसे बन्ध है, बन्धसे संसार है। ऐसा व्यवहार है।

आगे कहते हैं कि जबतक प्रकृतिके निमित्तसे आत्मा उत्पन्न होना और नाश होना नहीं छोडता है तभी तक मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, असंयत है। गाथा–

अनुष्टुप् छन्द

जा एस पयडी अट्ठं चेया णेव विमुंचए।
अयाणऊ भवे ताव मिच्छाइट्ठी असंजऊ ॥

जया विमुंचए चेया कम्मफलमणंतयं।
तया विमुत्तो हवइ जाणऊ णासऊ मुणी ॥ ३१५ ॥

यावदेष प्रकृत्यर्थं चेतयिता नैव विमुञ्चति।
अज्ञायको भवेत्तावन्मिथ्यादृष्टिरसंयतः ॥ ३१४ ॥
यदा विमुञ्चति चेतयिता कर्मफलमनन्तकम्।
तदा विमुक्तो भवति ज्ञायको दर्शको मुनिः ॥३१५॥

अर्थ—यह चेतयिता–आत्मा जबतक प्रकृतिके निमित्तसे उपजना, विनशना नहीं छोडता है तबतक अज्ञानी होता हुआ मिथ्यादृष्टि असंयमी होता है। जिस समय आत्मा कर्मोंके अनन्त फलको छोड देता है उस समय बन्धसे रहित होजाता है। ज्ञाता द्रष्टा मुनि संयमी होता है।

सारांश–यह आत्मा जब तक अपने और परके लक्षणको भिन्न २ नहीं जानता है तब तक भेदज्ञानके अभावसे कर्म प्रकृतिके उदयको अपना जानकर उसी रूप परिणमता है तभी तक मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, असंयमी तथा कर्ता होकर कर्मका बन्ध करता है। भेदज्ञान होने पर उसका कर्ता नहीं बनता है। फिर कर्मका बन्ध भी नहीं करता है, ज्ञाता दृष्टा रूप हो जाता है।

इसी प्रकार भोक्तापना स्वभाव भी आत्माका नहीं है ऐसा कहनेको कलशरूप काव्य कहते हैं —

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।
अज्ञानादेव भोक्तायं तदभावादवेदकः ॥ ४ ॥

अर्थ—इस आत्माका जैसे कर्तृत्व स्वभाव नहीं है उसी तरह भोक्तृत्व स्वभाव भी नहीं है। यह तो केवल अज्ञानतासे ही भोक्ता बन रहा है जब अज्ञानका अभाव हो जाता है फिर भोक्ता नहीं रहता है।

सवैया इकतीसा ।

जगवासी अज्ञानी त्रिकाल परजाइ बुद्धि सो तौ विषय भोगनकौ भोगता कहायो है
समकिती जीव जोग भोगसौं उदासी तातैं सहज अभोगता गरंथनिमें गायो है
याही भांति वस्तुकी विवस्था अवधारि बुध परभाउ त्यागि अपनौ सुभाउ आयौ है
निरविकलप निरुपाधि आतम अराधि, साधि जोग जुगति समाधिमें समायौ है ॥

आगे इसी अर्थको गाथामें कहते हैं—

अण्णाणी कम्मफलं पयडि सहावट्ठिऊ उ वेदेइ ।
णाणी पुण कम्मफलं जाणइ उइयं ण वेदेइ ॥३१६॥
अज्ञानी कर्मफलं प्रकृति स्वभावस्थितस्तु वेदयते ।
ज्ञानी पुनः कर्मफलं जानात्युदित न वेदयते ॥३१७॥

अर्थ—अज्ञानी तो कर्मके फलको प्रकृतिके स्वभावमें रहता हुवा वेदता है-भोगता है। परंतु ज्ञानी जीव उदयमें आये हुए कर्मके फलको जानता है पर वेदता नहीं है-भोगता नहीं है।

भावार्थ—अज्ञानी के तो शुद्ध आत्माका ज्ञान नही है इसलिये जैसा कर्म उदयमें आता है उसीको अपना जानकर भोगता है, लेकिन ज्ञानीके तो शुद्ध आत्मानुभव हो चुका इसलिये आये हुए प्रकृतिके उदयको अपना स्वभाव नहीं जानता हुत्रा केवल उसका ज्ञाता ही रहता है—भोक्ता नहीं होता है। इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छंद—

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद् वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद् वेदकः ।
इत्येवं नियम निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥५॥

अर्थ—अज्ञानी जन तो प्रकृतिके स्वभावमें रागी है—लीन

है उसीको अपना स्वभाव जानता है इससे निरंतर उसका वेदक है-भोक्ता है। ज्ञानी जीव प्रकृतिके स्वभावसे विरक्त है वह उसको परका स्वभाव जानता है इससे कभी भी उसका वेदक नहीं है। इसलिये आचार्य उपदेश करते हैं कि निपुणजन ज्ञानीपन अज्ञानीपन का ऐसा नियम निरूपण कर-विचार कर अज्ञानीपनको तो छोडो और शुद्ध आत्मारूप जो एक महःतेज प्रताप उसमें निश्चल होकर ज्ञानीपनका सेवन करो।

चिनमुद्राधारी ध्रुव धर्म अधिकारी गुन रतन भंडारी अपहारी कर्म रोगकौ।
प्यारौ पंडितनकौं हुश्यारौ मोक्षमारगमैं न्यारो पुदगल सौं उज्यारौ उपयोग कौ
जानै निजपर तत्त रहै जगमैं विरत्त गहै न ममत्त मन वच काय जोगकौ।
ता कारन ज्ञानी ग्यानावरनादि करमकौ करता न होइ भोगता न होइ भोगकौ॥५

अब कहते हैं कि अज्ञानी वेदक ही है-भोक्ता ही है ऐसा नियम है। गाथा —

ण मुणइ पयडिमभव्वो सुट्ठुवि अज्झाइऊण सत्थाणि।
गुडदुद्धं पि पिवंता ण पण्णगा णिव्विसा हुंति॥३१७॥

न मुञ्चति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठ्वप्यधीत्य शास्त्राणि।
गुडदुग्धमपि पिबंतो न पन्नगा निर्विषा भवंति॥३१७॥

अर्थ—अभव्य जीव कर्मके उदयके स्वभावको नहीं छोडता है, यद्यपि अच्छी तरह अभ्यास करके शास्त्रोंको पढता है तो भी अभव्यकी प्रकृति बदलती नहीं है। जैसे सर्प गुड सहित दूधको पीता हुवा भी विष रहित नहीं होता है।

आगे कहते हैं कि ज्ञानी जीव कर्मफलका अवेदक ही है—गाथा

णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेई
महुरकडुयं बहुविहं अवेयउ तेण सो होई॥३१८॥

निर्वेदसमापन्नो ज्ञानी कर्मफलं विजानाति।

मधुरंकटुकं बहुविधमवेदकस्तेन स भवति ॥३१८॥

अर्थ—ज्ञानी वैराग्यको प्राप्त हुआ है वह तो केवल कर्मके फलको जानता है कि "ये मीठा है, ये कडुआ है" परन्तु उनका भोक्ता नहीं है। तात्पर्य ये है कि जो जिससे विरक्त होता है उसका अपने वशतो भोक्ता नहीं होता, परवशही भोगता है इसलिए उसको परमार्थ दृष्टिसे भोगता नहीं कहा जासकता है। इस न्यायसे ज्ञानी प्रकृति स्वभाव जो कर्मका उदय उसको अपना नहीं जानता है उससे तो वह विरक्त ही रहता है सो उनको स्वयमेव तो भोगता नहीं है किन्तु कर्मके उदयकी बरजोरीसे पराधीन हुआ अपनी निर्बलतासे भोगता है। ऐसी हालतमें परमार्थसे तो उसको भोगता नहीं कहा जा सकता है पर व्यवहार नयसे भोक्ता कह सकते हैं परन्तु यहां शुद्ध नयके वर्णनमें उसका अधिकार नहीं है। इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—

वसन्ततिलका छन्द

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म,
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा-
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥ ६ ॥

अर्थ—ज्ञानी स्वतन्त्रतासे कर्म नहीं करता है और न स्वतन्त्रतासे कर्मोंका भोगता ही है, वह तो केवल उसके स्वभाव का ज्ञायकमात्र है। इसप्रकार केवल जानता हुआ करने और वेदनेके अभावसे शुद्ध स्वभावमें निश्चित है सो निश्चयसे मुक्त ही है—कर्मोंसे छूटा ही कहा जाता है।

दोहा—निरभिलाष करनी करैं भोग अरुचि घट माहि।
तातें साधक सिद्धसम, करता भुगता नाहि ॥ ६ ॥

आगे गाथामें इसी अर्थको दृढ करते हैं—

ण वि कुव्वइ ण वि वेयइ णाणी कम्माइ बहुपयाराई ।
जाणइ पुण कम्मफलं बंध पुण्णं च पावं च ॥३१९॥

नापि करोति नापि वेदयते ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि ।
जानाति पुनः कर्मफलं बन्धं पुण्यं च पापं च ॥३१९॥

अर्थ—ज्ञानी बहुत प्रकारके कर्मोंका न तो कर्ता है और न भोक्ता ही है, वह तो कर्मोंके बन्धको, उनके फलको और पुण्य पापको जानता मात्र है ।

प्रश्न—तो फिर ज्ञानी कैसा है ? और वैसा क्यों है ? इस प्रश्नका उत्तर दृष्टांत पूर्वक कहते हैं—

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदय चेव ।
जाणइ य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जर चेव ॥३२०॥

दृष्टिर्यथैव ज्ञानमकारक तथाऽवेदकं चैव ।
जानाति च बंधमोक्षं कर्मोदयं निर्जरां चैव ॥३२०॥

अर्थ—जैसे नेत्र देखने योग्य पदार्थोंको मात्र देखता हैं, उनका कर्ता भोक्ता तो नहीं बनता हैं। उसी तरह ज्ञान बंध, मोक्ष कर्मका उदय, निर्जरा इनको केवल जानता ही है इनका कर्ता भोक्ता नहीं होता हैं ।

सारांश ये है कि ज्ञानका स्वभाव नेत्रकी तरह दूरसे पदार्थ के जाननेका हैं, इसलिये करना भोगना ज्ञानके नहीं हैं । करना भोगना मानना अज्ञान है ।

प्रश्न—यहां कोई पूंछता हैं कि ऐसा ज्ञान तो केवल ज्ञान हैं जब तक मोह कर्मका उदय रहता है तबतक तो सुख दुख रागादि रूप परिणमन होता ही है, जबतक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वीर्यान्तरायका उदय है तबतक अदर्शन अज्ञान और असमर्थपना भी रहता ही है । केवलज्ञान होने के पहिले ज्ञाता द्रष्टा कैसे कहना चाहिये ?

उत्तर—यह बात पहिले ही कही गई है कि जो स्वतंत्र रूप से कार्यको करता वा भोगता है उसको परपार्थ रूपसे कर्ता भोक्ता कहा जा सकता है। जब मिथ्यादृष्टि रूप अज्ञानका अभाव हो जाता है तब पर द्रव्यके स्वामीपनका अभाव हो जाता है आप ज्ञानी हो जाता है। स्वतंत्र रूपसे तो किसीका कर्ता भोक्ता नहीं होता है। अपनी निर्बलतासे कर्मके उदयकी बरजोरीसे कार्य होता है इसीसे परमार्थ दृष्टिसे कर्ता भोक्ता नहीं कहा जाता है। उसके निमित्तसे कुछ नवीन कर्मरज लगती भी है तो उसको यहां बधमें नहीं गिना जाता है। संसार है सो तो मिथ्यात्वके छूटने बाद तो संसारका अभाव ही है। समुद्रमें बूंदकी क्या गिनती है ?

यहां इतना और विशेष जानना कि केवल ज्ञानी तो साक्षात शुद्धात्म रूप ही हैं एवं श्रुतज्ञानी भी शुद्धनयके अवलंबनसे आत्माको उसी तरह अनुभव करते हैं। केवल प्रत्यक्ष परोक्षका ही भेद है। सो इनकें ज्ञान श्रद्धान की अपेक्षा तो ज्ञाता दृष्टापना ही है। चरित्रकी अपेक्षा प्रतिपक्षा कर्मका जितना उदय है उतना घात है, सो ज्ञानी कें उसके नाश करनेका उद्यम है। जब कर्म का अभाव होगा तब्र सांक्षात यथाख्यात चारित्र होगा तभी केवल ज्ञानकी प्राप्ति होगी। जो सम्यग्दृष्टिको ज्ञानी कहा जाता हैं। विशेष की अपेक्षा ही ली जाय तो जहां तक थोडा भी अज्ञान रहता है वहां तक ज्ञानी नहीं कहा जा सकता है। सिद्धांतमें ऐसा भाव लगाया है कि जहां तक केवल ज्ञानी नहीं उत्पन्न होजाता है वहां बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव ही रहता है। इसलिये ज्ञानी अज्ञानी कहना सम्यक्त्व मिथ्यात्व की अपेक्षासे ही जानना चाहिये।

आगे जो लोग सर्वथा एकांतके अभिप्रायसे आत्माको कर्ता ही मानत हैं उनका निषेध करनेके लिये कलश रूप श्लोक कहते हैं—

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यंति तमसा तताः ।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोपि मुमुक्षुताम् ॥७॥

अर्थ—जो पुरुष अज्ञानांधकारसे ढके हुए हैं वे आत्माको कर्ता ही मानते हैं, वे मोक्षको चाहते हैं लेकिन उनको लौकिक जनकी तरह मोक्ष नहीं मिलता है ।

कवित्त—ज्यौ हिय अध विकल मिथ्यात धर मृषा सकल विकलप उपजावत ।
गहि एकंत पक्ष आतमकौ करता मानि अधोमुख धावत ॥
त्यौं जिनमती दरबचारित्री कर करनी करतार कहावत ।
वछित मुकति तथापि मूढमति विन समकित भव पार न पावत ॥७॥

इसी अर्थको गाथाओं द्वारा कहते हैं—

लोयस्स कुणइ विण्हू सुरणारयतिरियमाणसे सत्ते ।
समणाणंपि य अप्पा जइ कुव्वइ छव्विहे काये ॥
लोयसमणाणमेयं सिद्धंत जइ ण दीसइ विसेसो ।
लोयस्य कुणइ विण्हू समणाण वि अप्पऊ कुणई ॥
एव ण को वि मोक्खो दीसइ लोयसमणाणं दोण्हं वि
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए ॥३२३॥

लोकस्य करोति विष्णुः सुरनारकतिर्यङ्मानुषान्सत्वान् ।
श्रमणानामपि चात्मा यदि करोति षड्विधान्कायान् ॥३२१॥
लोकश्रमणानामेकः सिद्धांतो यदि न दृश्यते विशेषः ।
लोकस्य करोति विष्णुः श्रमणानामप्यात्मा करोति ॥३२२॥
एव न कोपि मोक्षो दृश्यते लोकश्रमणानां द्वयेषामपि ।
नित्यं कुर्वतां सदेवमनुजासुरान् लोकान् ॥३२३॥

अर्थ—देव, नारक, तिर्यंच, मनुष्य ये प्राणी हैं, उनकी ऐसी मान्यता है कि लोकका कर्ता विष्णु है । मुनियोंकी भी ऐसी

मान्यता है कि षट्कायके जीवोंका कर्ता आत्मा है, ऐसी दृष्टिमें लोककी और मुनियोंकी मान्यता एकसी ठहरती है, इनमें कोई विशेषता प्रतीति नहीं होती है। क्योंकि लौकिकजनके विष्णु करता है तो मुनियोंके आत्मा करता है। कर्तृत्वके माननेमें दोनों समान हैं। इसप्रकार लोक और श्रमण दोनोंमें से किसीको भी मोक्ष नहीं है। क्योंकि देव, मनुष्य, असुर सहित लोकोंके जीवोंको नित्य दोनों करते हुए प्रवर्तते हैं। ऐसोंको मोक्ष कैसे हो सकता है? भाव ये है कि जो आत्माको कर्ता मानते हैं वे मुनि भी हों तो भी लौकिकजन सरीखे ही हैं। क्योंकि लोक ईश्वरको कर्ता मानते हैं, और मुनियोंने आत्माको कर्ता माना, इसप्रकार दोनोंकी मान्यता एकसी हुई इसलिये जैसे लौकिकजन को मोक्ष नहीं हो सकती, उसीतरह मुनियोंको भी मोक्ष नहीं हो सकती है। क्योंकि कर्ता तो कार्यके फलको भोगेगा ही, जो फल भोगनेवाला है उसका मोक्ष कैसे हो सकती है?

आगे कहते हैं कि परद्रव्यका और आत्माका कुछ भी संबंध नहीं हैं इसलिये कर्तृकर्म संबंध भी नहीं —

नास्ति सर्वोऽपि संबंधो परद्रव्यात्मतत्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥८॥

अर्थ —परद्रव्य और आत्मतत्वका कुछ भी संबध नहीं हैं। इस तरह कर्तृकर्मत्वक संबंधके अभाव होनेपर परद्रव्यका कर्तत्व क्योंकर हो सकता हैं?

चौपाई

चेतन अंक जीव लख लीन्हा, पुदगल कर्म अचेतन चीन्हा
वासी एक खेतके दोऊ, जदपि तथापि मिलैं नहिं कोऊ ॥५

दोहा—निज निज भाव क्रिया सहित व्यापक व्यापि न कोय।
करता पुदगल करमको जीव कहां सौं होय ॥

आगे व्यवहारनयसे कहते हैं कि "परद्रव्य मेरा है" ऐसे व्यवहार ही को जो निश्चय मानते हैं, वे अज्ञानतासे ऐसा मानते हैं। यह बात दृष्टांत पूर्वक बतलानेको गाथा कहते हैं—

ववहारभासिएण उ परदव्वं मम भणंति अविदियत्था
जाणंति णिच्छयेण उ ण य मम परमाणुमित्तमवि किंचि
जह को वि णरो जंपइ अह्मं गामविसयणयररट्ठं।
ण य हुंति तस्स ताणि उ भणइ य मोहेण सो अप्पा
एमेव मिच्छादिट्ठी णाणी णीसंसयं हवइ एसो।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणइ ॥२२६॥
तह्मा ण मेति णिच्चा दोण्हं वि एयाण कत्तविवसायं।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहियाणं ॥२२७॥

व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणन्त्यविदितार्थाः।
जानन्ति निश्चयेन तु न च मम परमाणुमात्रमपि किञ्चित् ॥
यथा कोपि नरो जल्पत्यस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम्।
न च भवंति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा ॥
एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निःसंशयं भवत्येषः।
यः परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति ॥ २२६ ॥
तस्मान्न ममेति ज्ञात्वा द्वयेषामप्येतेषां कर्तृव्यवसायम्।
परद्रव्ये जानञ्जानीयात् दृष्टिरहितानाम् ॥ २२७ ॥

अर्थ—नहीं जाना है पदार्थका यथार्थ स्वरूप जिन्होंने ऐसे पुरुष व्यवहारका वचन लेकर कहते हैं कि "पर द्रव्य मेरा है" जो निश्चयनयसे पदार्थके स्वरूपको जानते हैं वे कहते हैं कि "पर द्रव्यमें परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है"। व्यवहारका कहना ऐसा है-जैसे कोई कहे कि " मेरा ग्राम है, मेरा देश है, मेरा

नगर है, मेरे राजका देश है" यहां निश्चयसे विचारा जाय तो वे ग्राम आदिक उसके नहीं हैं, वह आत्मा तो मोहसे मेरा मेरा कहता है इसीतरह जो ज्ञानी होकर भी पर द्रव्यको पर रूप जानता हुआ भी कहता है कि परद्रव्य मेरा है, इस तरह आपको पर द्रव्यका स्वामी बनाता है सो निःसन्देह मिथ्यादृष्टि ही है। इसलिये ज्ञानी परद्रव्य मेरा नहीं है ऐसा जानकर परद्रव्यमें जो लौकिकजनके और मुनिराजके कर्तृत्व व्यापार होता है उससे ऐसा निश्चय करता है कि ये सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। अब इसी अर्थके कलश रूप काव्य कहते हैं—

वसन्ततिलका छन्द

एकस्य वस्तु न इहान्यतरेण सार्द्धं
सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्वम् ॥ ९ ॥

अर्थ—क्योंकि इस लोकमें एक वस्तुका दूसरी वस्तुके साथ जो सम्बन्ध है उसका निषेध किया है कि जहां वस्तु भेद है वहां कर्तृकर्मकी प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए लौकिकजन और मुनिजन भी वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ऐसा ही देखो कि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तुका कर्ता नहीं है। पर द्रव्यको परका अकर्ता ही श्रद्धामें लाओ।

—सवैया इकतीसा—

जीव अरु पुद्गल करम रहैं एक खेत, जदपि तथापि सत्ता न्यारी न्यारी कही है।
लक्षन स्वरूप गुन परजै प्रकृति भेद, दुहूमैं अनादि हीकी दुविधा है रही है॥
एते पर भिन्नता न भासै जीव करमकी, जौ लौं मिथ्याभाव तौं लौं औंधि बाउ बही है
ज्ञानके उदोत होत ऐसी सूधी दृष्टि भई, जीव कर्म पिंडकौ अकरतार सही है॥९॥

आगे कहते हैं जो पुरुष ऐसे वस्तुके स्वभावके नियमको

नहीं जानता है वह अज्ञानी होता हुआ कर्मका कर्ता है सो भाव कर्मके कर्ता होता है-इस तरह अपने भावकर्मका कर्ता अज्ञानतासे चेतन ही है इस सूचनिकाका काव्य—

ये तु स्वभावनियमं कलयंति नेममज्ञानमग्नमहसो वत ते वराकाः ।
कुर्वंति कर्मतत एव हि भावकर्मकर्ता
स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ॥१०॥

अर्थ—जो पुरुष वस्तुके स्वभावके पूर्वोक्त नियमको नहीं जानते हैं उसका खेद प्रगट करते हुए आचार्य कहते हैं—अहो अज्ञानमें मग्न हुआ है पराक्रम रूप तेज जिनका वे पुरुष रंक होते हुए कर्मोंको करते हैं वे ज्ञानसे दूरवर्ती होगये हैं, इसीसे भावकर्मका कर्ता चेतन आप खुद ही होता है, अन्य कोई दूसरा नहीं ।

सारांश—जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टी हैं, वे वस्तुके स्वरूपके नियमको तो जानते नहीं हैं और पर द्रव्यके कर्ता बनते हैं और आप अज्ञानरूप होजाते हैं, इसलिये भावकर्मका कर्ता अज्ञानी ही है दूसरा नहीं है ।

चौपाई—जो दुर्मति विकल अज्ञानी, जिन्हि सुरीति पर रीति न जानी ।
माया मगन भरमके भरता, ते जिय भाव करमके करता ॥१०॥

आगे इसी कथनको युक्ति द्वारा सिद्ध करते हैं गाथा—

मिच्छत्तं जइ पयडी मिच्छाइट्ठी करेइ अप्पाणं ।
तम्हा अचेयणा ते पयडी णणु कारगो पत्तो ॥३२८॥
अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छत्तं ।
तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छाइट्ठी ण पुण जीवो ॥३२९॥
अहजीवो पयडी तह पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं ।
तम्हा दोहिकयं तं दोण्णिवि भुंजति तस्स फलं ॥

अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं
तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ॥३३१॥

मिथ्यात्वं यदि प्रकृतिर्मिथ्यादृष्टिं करोत्यात्मानं।
तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारकः प्राप्तः ॥ ३२८॥
अथवैष जीवः पुद्गलद्रव्यस्य करोति मिथ्यात्वं।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं कुरुते मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः ॥ ३२९ ॥
अथ जीवः प्रकृतिस्तथा पुद्गलद्रव्यं कुरुते मिथ्यात्वं।
तस्मात् द्वाभ्यां कृतं द्वावपि भुञ्जाते तस्य फलम् ॥ ३३० ॥
अथ न प्रकृतिर्न जीवः पुद्गलद्रव्यं कुरुते मिथ्यात्वम्।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं तत्तु न खलु मिथ्या ॥३३१॥

अर्थ–मिथ्यात्व भाव जीव ही के होता है, इसी बातका विचार किया जाता है कि निश्चयसे इसका कर्ता कौन है? यदि ऐसा माना जाय कि मिथ्यात्व नामकी मोहकर्मकी प्रकृति जो पुद्गल द्रव्य है वही प्रकृति जीवको मिथ्यादृष्टि करती है तो ऐसा माननेवाले सांख्यमतीको कहा जाता है कि तेरे मतमें प्रकृति तो अचेतन है तब अचेतन प्रकृति ही जीवके मिथ्यात्व भावका कर्ता ठहरेगा सो ऐसा बन नहीं सकता। अथवा ऐसा माना जाय कि जीव ही पुद्गल द्रव्यके मिथ्यात्वको करता है तो ऐसा माननेसे पुद्गल द्रव्य ही मिथ्यादृष्टि ठहरता है। जीव मिथ्यादृष्टि नहीं ठहरता है। सो यह भी बनता नहीं है। अथवा ऐसा माना जाय कि जीव और प्रकृति ये दोनों ही मिलकर पुद्गल द्रव्यके मिथ्यात्वको करते हैं तो दोनोंसे कियेहुए का फल दोनों ही भोगतेहैं ऐसा ठहरताहै, सो ऐसा भी नहीं बन सकता है। अथवा ऐसा माना जाय कि पुद्गल द्रव्य नामक मिथ्यात्वको प्रकृति भी नहीं करता और जीव भी नहीं करता है किंतु पुद्गल द्रव्य ही मिथ्यात्व है सो ऐसा

मानना क्या झूठ नहीं है ? इससे एसा सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व नामक जीवके भावका कर्ता तो अज्ञानी जीव है और उसके अज्ञानके निमित्तसे पुद्गल द्रव्यमें मिथ्यात्वरूप कर्मकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

भावार्थ—भावकर्मका कर्ता जीवको ही सिद्ध किया गया सो यहां ऐसा जानना कि परमार्थसे अन्य द्रव्य अन्यद्रव्यके भावका कर्ता नहीं है इसलिये जो चेतनके भाव हैं उनका कर्ता चतेन ही है। जीवके अज्ञानसे मिथ्यात्व आदि भाव रूप परिणाम चेतन हैं जड नहीं हैं। शुद्ध नयसे उनको चिदाभास भी कहते हैं। इसलिये चेतन कर्मका कर्ता चेतन ही है यही परमार्थ है। अब इस अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगा कृतिः।
नैकस्याः प्रकृतेराचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न तत्पुद्गलः ॥११॥

अर्थ—कर्म तो कार्य है, वह कार्य विना किये नहीं होता है। वह कर्म जीव और प्रकृति दोनोंसे किया हुवा नहीं है, क्योंकि प्रकृति तो जड है, और जीव चेतन है उन दोनोंको अपने अपने कार्यके फलके भोगनेका प्रसंग आवेगा। यदि ऐसा कहा जाय कि ये एक प्रकृतिके ही कार्य हैं सो भी ठीक नहीं कारण कि प्रकृति तो अचेतन है और भावकर्म चेतन हैं इसलिये इस भावकर्मका कर्ता चेतन ही है, यह भावकर्म जीवही का कर्म है, क्योंकि ये चेतनके ही अनुग अर्थात् अन्वय रूप हैं, और पुद्गल हैं, इससे पुद्गलके नहीं हैं।

चेतनकर्म चेतन ही के होते हैं। पुद्गल तो जड है उसके

चेतन कर्म कैसे हो सकते हैं ?

दोहा-शिष्य कहै प्रभु तुम कह्यौ दुविध करमकौ रूप।
दरव करम पुद्गलमई भावकर्म चिद्रूप ॥
करता दरवित करमकौ जीव न होय त्रिकाल।
अब यह भावित करम तुम कहौ कौनकी चाल ॥
करता याकौ कौन है कौन करे फल भोग।
कै पुद्गल कै आतमा कै दुहुंकौ संयोग ॥ ११ ॥

उत्तर—क्रिया एक करता जुगल यौं न जिनागम मांहि।
अथवा करनी औरकी और करे यौं नाहिं ॥
करै और फल भोगवै और बनै नहीं एम।
जो करता सो भोगता यहै जथावत जेम ॥
भाव करम कर्तव्यता स्वयं सिद्ध नहीं होय।
जो जगकी करनी करै जगवासी जिय सोय ॥
जिय करता जिय भोगता भाव करम जिय चाल।
पुदगल करै न भोगवै दुविधा मिथ्या जाल ॥
तातैं भावित करमकूं करै मिथ्याती जीव।
सुख दुख आपद संपदा भुंजै सहज सदीव ॥ ११ ॥

आगे कहते हैं कि जो कोई भावकर्मका कर्ता जीव ही को मानते हैं उनको समझानेके लिए स्याद्वादसे वस्तुकी मर्यादा कहनेको कलशरूप काव्य कहते हैं—

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृहतकैः क्षिप्त्वाऽऽत्मनः कर्तृतां।
कर्ताऽत्मैष कथञ्चिदित्यचलिता कैश्चित् श्रुतिः कोपिता ॥
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये।
स्याद्वादप्रतिबंधलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥१२॥

अर्थ—किसी आत्माके घातक सर्वथा एकांतवादीने कर्मको ही कर्ता कहकर आत्माको कर्ता न मानकर "यह आत्मा कथंचित् कर्ता है" ऐसा कहनेवाली निर्बाध जिनेश्वर वाणीको क्रोध उपजाया है। कैसा है एकान्तवादी? तीव्र उदयको प्राप्त मोह (मिथ्यात्व) कर्मके उदयसे मुद्रित हुई है बुद्धि जिसकी, उसके ज्ञानकी भलेप्रकार शुद्धि होनेके लिए वस्तुकी मर्यादा कही जाती है। कैसी कही जाती है? स्याद्वादके प्रबन्धसे प्राप्त की है निर्बाध सिद्धि जिसने, ऐसी मर्यादा कही जाती है।

भावार्थ—कोई वादी सर्वथा एकांतसे कर्मका कर्ता कर्म ही को कहते हैं, तथा आत्माको अकर्ता कहते हैं, सो ऐसा कहनेवाले आत्माके स्वरूपके घातक हैं। जिनवाणी ही वस्तुके स्वरूपको निर्बाध सिद्ध करती है, जिनवाणी तो आत्माको कथंचित् कर्ता कहती है, सो जिनवाणीने सर्वथा एकान्तवादियों पर कोप किया है, क्योंकि उनकी बुद्धि मिथ्यात्वसे मंद होरही है, उनके मिथ्यात्वको दूर करनेको आचार्य—

केई मूढ विकल एकंत पच्छ गहै कहैं, आतमा अकरतार पूरन परम है।
तिन्हिसौं जु कोऊ कहै जीव करता है तासौं, फेरि कहैं करमको करता करम है॥
ऐसे मिथ्यामगन मिथ्याती ब्रह्मघाती जीव, जिन्हिकै हिए अनादि मोहको भरम है।
तिन्हिसौं मिथ्यात दूर करिवेको कहैं गुरु, स्याद्वाद परवान आतम धरम है १२

स्याद्वादसे जैसी वस्तुस्थिति होती है उसतरहकी स्थिति गाथाओंमें बतलाते हैं—

कम्मेहि दु अण्णाणी किज्जइ णाणी तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहि सुवाविज्जइ जग्गाविज्जइ तहेव कम्मेहिं २२

कम्मेहि सुहाविज्जइ दुक्खाविज्जइ तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहि य मिच्छत्तं णिज्जइ २ असंजमं चेव ॥३३३॥
कम्मेहि भमाविज्जइ उड्ढमहो चावि तिरियलोयं च।
कम्मेहि चेव किज्जइ सुहासुहं जित्ति यं किंचि ॥३३४॥
जम्हा कम्मं कुव्वइ कम्मं देइ हरत्ति जं किंचि।
तम्हा हु सव्वजीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥३३५॥
पुरिसि च्छियाहिलासी इच्छीकम्मं च पुरिसमाहिलसइ
एसा आयरियपरं परागया एरिसी दु सुई ॥३३६॥
तम्हा ण को वि जीवो अबंभचारी उ अम्ह उवएसे।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसइ इदि भणियं॥३३७॥
जम्हा घाएइ परं परेण घाइज्जए य सा पयडी।
एएणच्छेण किल भण्णइ परघायणामोत्ति ॥३३८॥
तम्हा ण को वि जीवो वघायऊ अत्थि अम्ह उवएसे
जम्हा कम्मं चेवहि कम्मं घाएदि इदि भणियं॥३३९॥
एवं संखुवएसं जे उ परूवींति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे ॥३४०॥
अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणइ।
एसो मिच्छसहावो तुम्हं एयं मुणंतस्स ॥३४१॥
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिऊ उ समयम्हि
ण वि सो सक्कइ तत्तो हीणो अहिऊ य काउं जे ॥३४२

जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाणं लोयमित्तं खु ।
तत्तो सो किं हीणो अहिऊ य कह कुणइ दव्वं॥ ३४३॥
अह जाणऊ उ भावो णाणसहावेण अत्थि इत्ति मयं
तम्हा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणइ ॥३४४॥

कर्मभिस्त्वज्ञानी क्रियते ज्ञानी तथैव कर्मभिः ।
कर्मभिः स्वाप्यते जागर्यते तथैव कर्मभिः ॥ ३३२ ॥

कर्मभिः सुखीक्रियते दुःखीक्रियते तथैव कर्मभिः ।
कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते नीयतेऽसंयमं चैव ॥ ३३३ ॥

कर्मभिर्भ्राम्यते ऊर्ध्वमधश्चापि तिर्यग्लोकं च ।
कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यावद्यत्किंचित् ॥ ३३४ ॥

यस्मात्कर्म करोति कर्म ददाति हरतीति यत्किंचित् ।
तस्मात्तु सर्वजीवा अकारका भवन्त्यापन्नाः ॥ ३३५ ॥

पुरुषःस्त्र्यभिलाषी स्त्रीकर्म च पुरुषमभिलषति ।
एषाचार्यपरम्परागतेदृशी तु श्रुतिः ॥ ३३६ ॥

तस्मान्न कोऽपि जीवोऽब्रह्मचारी त्वस्माकमुपदेशे ।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्माभिलषतीति भणितम् ॥ ३३७ ॥

यस्माद्धन्ति परम्परेण हन्यते च सा प्रकृतिः ।
एतेनार्थेन किल भण्यते परघातनामेति ॥ ३३८ ॥

तस्मान्न कोऽपि जीव उपघातकोऽस्त्यस्माकमुपदेशे ।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्म हन्तीति भणितम् ॥ ३३९ ॥

एवं सांख्योपदेशं ये तु प्ररूपयन्तीदृशं श्रमणाः ।
तेषां प्रकृतिः करोत्यात्मनश्चाकारकाः सर्वे ॥ ३४० ॥

अथवा मन्यसे ममात्माऽऽत्मानमात्मनः करोति ।
एष मिथ्यास्वभावस्तवैव तज्ज्ञानतः ॥ ३४१ ॥

आत्मा नित्योऽसंख्येयप्रदेशो दर्शितस्तु समये ।
नापि स शक्यते ततो हीनोऽधिकश्च कर्तुं यत् ॥ ३४२ ॥
जीवस्य जीवरूपं विस्तरतो जानीहि लोकमात्रं खलु ।
ततः स किं हीनोऽधिको वा कथं करोति द्रव्यम् ॥ ३४३ ॥
अथ ज्ञायकस्तु भावो ज्ञानस्वभावेन तिष्ठतीति मतम् ।
तस्मान्नाप्यात्माऽऽत्मानं तु स्वयमात्मनः करोति ॥ ३४४ ॥

अर्थ—कर्मोंसे जीव अज्ञानी होता है, कर्मोंसे ही ज्ञानी किया जाता है, कर्मोंसे ही सुलाया जाता है, कर्मोंसे ही जगाया जाता है, कर्मोंसे ही सुखी किया जाता है एवं कर्मोंसे ही दुखी किया जाता है। कर्मोंसे ही मिथ्यात्व उत्पन्न किया जाता है, कर्मोंसे ही असंयम प्राप्त किया जाता है, कर्मोंसे ही ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक अधोलोकमें भ्रमण कराया जाता है, जो कुछ भी शुभ अशुभ काम हैं सब कर्मोंसे ही किये जाते हैं। कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हरण करता है, जो कुछ भी किया जाता है वह कर्मसे ही किया जाता है, इससे सब जीव तो अकारक ही प्राप्त हुए—अर्थात् जीव कर्ता नहीं है। आचार्योंकी परम्परासे चली आई श्रुति भी कहती है, कि पुरुषवेद कर्म स्त्रीका अभिलाषी है, स्त्रीवेद नामा कर्म पुरुषकी चाहना पैदा करता है। इसलिए कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं है। हमारे उपदेशमें तो यही कथन है कि कर्म ही कर्मकी अभिलाषा करता है परको मारता है, पर-कर मारा जाता है, ऐसा कहना भी प्रकृति ही है, इसी अभिप्राय से प्रगट रूपसे कहते हैं–कि यह परघात नामकी प्रकृति है, हमारे उपदेशमें तो कोई भी जीव परघात करनेवाला नहीं है क्योंकि कर्म ही कर्मका घातनेवाला होता है। इसतरह जो यति सांख्य मतके उपदेशका प्ररूपण करते हैं उनके प्रकृति ही सब कुछ करने वाली है, आत्मा तो अकर्ता ही है। इस परसे आचार्य कहते हैं

कि आत्माके कर्तृत्वके पक्षके साधनेको तूं ऐसा मानेगा कि मेरा आत्मा ही अपने आपका कर्ता है इसतरह कर्तृत्वका पक्ष भी मैं मानता हूं परन्तु ऐसा जाननेका तेरा मिथ्या स्वभाव है क्योंकि आत्मा नित्य असंख्यात प्रदेशी सिद्धांतमें कहा गया है, उससे हीनाधिक होना अशक्य है। जीवका विस्ताररूप निश्चयसे लोकमात्र जानना चाहिये। इसतरह जीवका ऊपर कहा हुआ प्रमाण हीनाधिक कैसे किया जा सकता है? यदि ऐसा माना जाय कि ज्ञायक भाव ज्ञान स्वभावसे ही रहता है तो उसी हेतुसे ऐसा आया कि आत्मा अपने आपको स्वयं नहीं करता है। इसलिये कर्तृत्वको साधनेके लिए विवक्षा पलटकर पक्ष कहा सो नहीं बना, इससे कर्मका कर्ता कर्म ही को माने तो स्याद्वादसे विरोध ही आवेगा। अतएव कथंचित् अज्ञान अवस्थामें अपने अज्ञान भाव रूप कर्मका कर्ता मानने पर स्याद्वादसे विरोध नहीं है।

भावार्थ – कोई जैन मुनि भी स्याद्वाद वाणीको ठीक २ न समझकर सर्वथा एकांतके अभिप्रायसे विवक्षा पलट कर कहते हैं कि आत्मा भावकर्मका कर्ता नहीं है, कर्म प्रकृतिका उदय ही भावकर्मका कर्ता है। अज्ञान, ज्ञान, सोवना, जागना, सुख, दुख, मिथ्यात्व, असंयम चारों गतियोंमें भ्रमण ऐसे जितने भी शुभ अशुभ भाव हैं उनका कर्ता कर्म ही है, जीव नहीं है। शास्त्रका भी ऐसा ही अर्थ करते हैं कि वेदके उदयसे स्त्री पुरुषका विकार होता है, अपघात..परघात प्रकृतिके उदयसे परस्परमें घात होता है। ऐसा एकान्त पक्ष लेकर जैसे सांख्यमती सब कार्य प्रकृति कृत मानते हैं, पुरुष आत्माको अकर्ता मानते हैं, उसीतरह कोई जैनके मुनि भी बुद्धिके दोषसे ऐसा उपदेश करते हैं। परन्तु जैनवाणी तो स्याद्वादरूप है, सो सर्वथा एकांतरूप माननेवाले पर वाणीका कोप अवश्य होगा। बाकीके वादी लोग कोपके भयसे

विवक्षा पलटकर कहते हैं कि आत्मा अपनें आपका कर्ता है इसलिये भावकर्मका कर्ता तो कर्म ही है ऐसे कथंचित् कर्ता आत्मा को कहनेपर वाणीका कोप न होयगा। सो ऐसा कहना तो मिथ्या ही है। आत्मा द्रव्य दृष्टिसे नित्य लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशी है। इसमें तो कुछ भी नवीन कार्य करना है नहीं। न किसीका ये कर्ता है। भावकर्मरूप जो पर्याय है उसका कर्ता कर्मको बताते हैं ऐसी दशामें आत्मा तो अकर्ता ही रहा तब वाणीका कोप कैसे मिट सकता है?

इसलिये आत्माकी कर्तृत्व और अकर्तृत्वकी यथार्थ विवक्षा मानना ही सांचा स्याद्वाद मानना है। वह इस तरह कि आत्माका ज्ञायक स्वभाव सामान्य अपेक्षा तो है ही, परन्तु ज्ञान विशेष की अपेक्षा आपापरके भेदविज्ञान बिना परको आत्मा जानते हैं अतएव इस अज्ञानरूप अपने भावका कर्ता है। जब उस ज्ञानविशेषकी अपेक्षासे आपापरका भेदविज्ञान होता है उसीसमयसे लेकर भेदज्ञानकी पूर्णता होनेपर आपको आप जाने और ज्ञानपरिणामसे जब परिणामें तब केवल ज्ञाता होता हुआ साक्षात अकर्ता होता है ऐसा मानना ही सच्चे स्याद्वादका प्ररूपण है। अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितछंद

मा कर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः।
कर्तारं कलयंतु तं किल सदा भेदावबोधादधः॥
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं।
पश्यंतु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम्॥१३॥

अर्थ—आर्हता—अहो अर्हतके सिद्धांतको मानने वाले जैनी जन सांख्य मतकी तरह आत्माको सर्वथा अकर्ता मत स्वीकार करो। उस आत्माको भेद ज्ञान होनेके पहिले कर्ता और

भेदज्ञान होनेके बाद उद्धत ज्ञानमदिरमें निश्चित नियमरूप कर्तृत्व से रहित निश्चल एक ज्ञाता ही आप आप प्रत्यक्ष देखो।

विशेषार्थ—सांख्यमती पुरुष (आत्मा) को एकांतसे अकर्ता, शुद्ध, उदासीन, चैतन्यमात्र मानते हैं, ऐसा मानने पर पुरुषको संसारका अभाव सिद्ध होता है। यदि प्रकृतिको संसार माना जाय तो प्रकृति तो जड है उसको सुख दुख आदिका अनुभव कैसे हो सकता है, फिर उसको संसार कैसा ? इत्यादि दोष आते हैं। क्योंकि वस्तुका एकांत स्वरूप तो है नहीं। इसलिये वे सांख्यमती मिथ्यादृष्टि हैं। उसी तरह ऐसा मानने वाले जैनी भी मिथ्यादृष्टि ही है। इसीसे आचार्य कहते हैं कि सांख्यमती की तरह जैनी आत्माको सर्वथा अकर्ता मत मानो। जबतक आपा-परका भेदज्ञान न हो तबतक तो रागादिक अपने चैतन्य रूप भाव कर्मोंका कर्ता मानो भेदज्ञान होने बाद शुद्ध विज्ञानघन, कर्तृत्वसे रहित, एक ज्ञाता ही जानो।

जैसे सांख्यमती कहैं अलख अकरता है सर्वथा प्रकार करता न होय कबही
तैसैं जिनमती गुरुमुख एक पक्ष सुनि याहि भांति मानै मो एकांत तजौ अबही।
जौलौं दुर्मति तौलौं करमको करता है सुमति सदा अकरतार कह्यौ सब ही।
जाके घट ज्ञायक सुभाऊ जग्यौ जबहीं सौं सो तौ जगजालसौं निरालौ भयो तबही

आगे क्षणिकवादी बौद्धमती ऐसा मानते हैं कि कर्ता दूसरा है और भोक्ता दूसरा है उनके ऐसा एकान्त माननेमें दूषण दिखलाते हुए स्याद्वादसे जैसा वस्तुस्वरूप कर्तृत्वभोक्तृत्व है उसको दिखाते हैं—

मालिनीछंद—

क्षणिकमिहमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्वं,
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्रोर्विभेदम्।

अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः
स्वयमयमभिषिँचंश्चिच्चमत्कार एव ॥१४॥

अर्थ—एक बौद्धमती क्षणिकवादी आत्माको क्षणिक मानकर अपने मनमें कर्ता और भोक्तामें भेद मानता है उसका मत है कि कर्ता कोई है और भोक्ता कोई है। उसके अज्ञानको यह चैतन्य चमत्कार आप दूर करता है क्या करता हुवा दूर करता है? नित्य रूप अमृतके समुदयसे सिंचन करता हुवा ऐसा चैतन्य चमत्कार उस अज्ञानको दूर कर देता है।

भावार्थ—क्षणिकवादी बौद्ध कर्ता और भोक्तामें भेद मानता है उसका कहना है कि जो पदार्थ पहिले क्षणमें था वह दूसरे क्षण में नही रहता है। आचार्य उसको कहते हैं कि हम तो क्या समझावे यह चैतन्यका चमत्कार ही उसके अज्ञानको दूर करेगा जो नित्य अनुभवगोचर है—पहिले क्षणमें जो रहता है दूसरे क्षण भी वही पाया जाता है क्योंकि ऐसा कहते हुए सुना जाता है कि पहिले मैंने अमुक काम किया था वही मैं अब ऐसा काम करता हूं, ऐसा स्मरणज्ञान पूर्वक प्रत्यभिज्ञान ही उसकी नित्यता को बतलाता है।

दोहा—बौद्ध क्षणिकवादी कहै क्षणभंगुर तनमाहि।
प्रथम समय जो जीव है दुतिय समय सो नाहिं॥
तातैं मेरे मतविषैं करे करम जो कोइ।
सो न भोगवै सरवथा और भोगता होइ॥

आचार्य समाधान—

यह एकंत मिथ्यात परव दूर करनके काज।
चिद्विलास अविचलकथा भाषैं श्रीजिनराज।
बालापन काहू पुरुष देख्यौ पुर इक कोइ।
तरुन भयें फिरकें देख्यौ कहै नगर यह सोइ॥

जो दुहुपनमें एक थौ तौ तिन सुमिरन कीय।
और पुरुषकौ अनुभवौ और न जानै जीय ॥
जब यह वचन प्रगट सुन्यौ सुन्यौ जैनमत सुद्ध
तब इकंतवादी पुरुष जैन भयौ प्रतिबुद्ध ॥

क्षणिक मानने वालेका युक्तिसे निषेध करते हैं—

वृत्यंशभेदतोऽत्यंतं वृत्तिमन्नाशकल्पनात्।
अन्यः करोति भुंक्तेऽन्यः इत्येकान्तश्चकास्तु मा ॥१५॥

अर्थ—हर एक क्षणमें होने वाले अवस्थाके भेदको वृत्यंश कहते हैं। उसके भेद सर्वथा पृथक् पृथक् माननेसे जिसमें अवस्थाएं पाई जाती हैं ऐसी अवस्थाओंका आश्रयरूप वृत्तिमान पदार्थ के नाशकी कल्पना वाला क्षणिक वादी ऐसा मानता है कि कर्ता तो कोई है और भोक्ता कोई है। इसपरसे आचार्य कहते हैं कि ऐसा एकांत मत मानौ, क्योंकि अवस्थावान् पदार्थका यदि नाश हो जायगा तो अवस्थाएं किसके आश्रयसे रहेंगीं ? इस तरह तो दोनोंका नाश प्राप्त होनेसे शून्यका ही प्रसंग प्राप्त होगा।

सवैया इकतीसा

इक परजाइ एक समै में विनसि जाइ दूजी परजाइ दूजे समै उपजति है।
ताकौ छल पकरिकै बौध कहै समै समै न वौ जीव उपजै पुरातन की छति है॥
तातैं मानै करमकौ करता है और जीव भोगता है और वाके हिए ऐसीमति है।
परजो प्रवानकौ सरवथा दरवजानै ऐसे दुर्बुद्धि कौ अवसि दुर्गति है ॥१५॥

क्यों दुर्गति है ? समाधान रूपमें छंद कहते हैं—

दोहा—कहै अनातमकी कथा चहै न आतम सुद्धि।
रहै अध्यातम सौं विमुख दुराराधि दुर्बुद्धि ॥
दुरबुद्धी मिथ्यामती दुरगति मिथ्याचाल।
गहि एकांत दुरबुद्धिसौं मुकत न होइ त्रिकाल ॥

अब अनेकांतको प्रगट कर इस क्षणिकवादका स्पष्ट निषेध करते हैं—

केहिचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो वा णेयंतो॥३४५॥
केहिचि दु पज्जएहिं विणस्सए णो केहिचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो वा णेयंतो॥३४६॥
जो चेव कुणइ सो चिय ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो॥३४७॥
अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो॥३४८॥

कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः
यस्मात्तस्मात्करोति स वान्यो वा नैकान्तः॥ ३४५॥
कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः।
यस्मात्तस्माद्वेदयते स वान्यो वा नैकान्तः॥३४६॥
यश्चैव करोति स चैव न वेदयते यस्यैष सिद्धांतः।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः॥३४७॥
अन्यः करोत्यन्यः परिभुंक्ते यस्यैष सिद्धान्तः।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः॥३४८॥

अर्थ-जीव नामक पदार्थ कितनी ही पर्यायोंसे तो नष्ट होता है और कितनी ही पर्यायोंसे नष्ट नहीं भी होता है। इसलिये वही जीव कर्ता होता है और नहीं भी होता है अन्य ही कर्ता होता है ऐसा स्याद्वाद है, एकांत नहीं है। जीव कोई पर्यायसे नष्ट होता है कोई से नहीं भी नष्ट होता है। इसलिये वही जीव भोक्ता होता है और नहीं भी होता है।

दूसरा ही भोगने वाला होता है। ऐसा स्याद्वाद है-एकांत नहीं है। जिसका ऐसा सिद्धांत है कि जो जीव कर्त्ता होता है वही भोक्ता नहीं होता है, भोक्ता दूसरा ही होता है, ऐसा जीव मिथ्यादृष्टि होता है। वह आर्हत-अरहंतके मतका मानने वाला नहीं होता है। जिसका ऐसा सिद्धांत है कि अन्य ही कर्त्ता है और अन्य ही भोक्ता है वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है वह भी अरहंत के मतका नहीं है।

भावार्थ-जिनवाणीमें वस्तुका स्वभाव द्रव्य पर्याय रूप कहा गया है। सो वस्तु पर्यायकी अपेक्षा तो क्षणिक है और द्रव्यदृष्टिसे नित्य है ऐसा स्याद्वाद-अनेकांतसे सिद्ध होता है। जीव नामक वस्तु भी द्रव्यपर्याय रूप ही है। सो पर्यायकी अपेक्षा से यदि देखा जाय तो कार्यको करने वाली और पर्याय है और भोगने वाली और ही पर्याय है। जैसे मनुष्य पर्यायमें शुभाशुभ कर्म किये जावें तो उनका फल देवादि पर्यायोंमें भोगा जाता है। द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय तो जो कर्मका करने वाला है वही भोगने वाला है यह सिद्ध होता है। जैसे मनुष्य पर्यायमें जो जीव द्रव्य था उसने शुभाशुभ कर्म किये थे सो वही जीव जब देवादि पर्यायमें गया तब वहां उन किये हुए शुभाशुभ कर्मके फलको भोगता है। इस तरह वस्तुका अनेकांत रूप स्वरूप सिद्ध होनेपर भी जो शुद्धनय में तो संदेह नहीं करते और शुद्धनय के लोभसे वस्तुकी पर्याय वर्तमान पर्यायमें जो एक अंश था उसी को वस्तु मानकर ऋजुसूत्रनयका एकांत पकडकर ऐसा मानता है कि जो कर्ता होता है वही भोगता नहीं होता हैं अन्य ही भोक्ता होता है। जो भोगता है वह कर्ता नहीं होता है अन्य ही कर्ता होता है। ऐसा जीव मिथ्यादृष्टि ही होता है। वह अरहतके मतका नहीं है।

इसी अर्थके कलशरूप काव्य कहते हैं—

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकैः।
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रेरितै-
रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो निःसूत्रमुक्तेक्षुभिः ॥१६॥

अर्थ—आत्माका पूर्णरूपसे शुद्ध होनेके इच्छुक बौद्ध मतीने उस आत्मामें कालकी उपाधिके बलसे अधिक अशुद्धता मानकर अतिव्याप्ति पाकर शुद्ध ऋजुसूत्रनयके प्रेरे हुए चैतन्यको क्षणिक कल्पकर अंधोंने आत्माको छोड दिया। क्योंकि आत्मा द्रव्य पर्यायरूप था सो उसको सर्वथा क्षणिक पर्यायरूप मानकर छोड दिया, इसलिये उनको आत्माकी प्राप्ति न हुई। यहां हारका दृष्टांत है कि जैसे—मोतीके हारमें धागेमें मोती पोये हुये हैं वे सब अलग अलग ही दीखते हैं, जो मनुष्य हारको सूत्र सहित मोती पोये हुए नहीं देखता है, केवल मोतीयोंको ही अलग अलग देखकर ग्रहण करता है, उसको हारकी प्राप्ति नहीं होती है। उसी तरह जो आत्माके एक नित्य चैतन्य भावको ग्रहण नहीं करता है किंतु प्रत्येक समय वर्तना परिणामरूप उपयोगकी प्रवृत्तिको देखकर उसीको हमेशा नित्य मानकर कालकी उपाधिसे अशुद्ध मानकर ऐसा जानता है कि नित्य माने कालकी उपाधि लगनेसे आत्माके अशुद्धिता आती है उससे अतिव्याप्ति दूषण लगता है, इस दूषण के भयसे ही बौद्धने ऋजुसूत्रनयका विषय शुद्ध वर्तमान समयमात्र को क्षणिकपना मानकर आत्माको छोड दिया।

दोहा—केई कहैं जीव क्षनभंगुर केई कहैं करम करतार
केई करम रहित नित जंपत नय अनंत नाना परकार।
जे एकांत गहैं ते मूरख पंडित अनेकांत पख धार।
जैसें भिन्न भिन्न मुकताफल गुन सौं गहत कहावै हार॥

दोहा–यथा सूतसंग्रह विना मुकत माल नहि होइ ।
तथा स्याद्वादी विना मोख न साधै कोइ ॥
पद सुभाव पूरव उदै निहचै उद्यम काल
पच्छपात मिथ्यात पथ सरवंगी सिवचाल ॥१६॥

इसी अर्थ का समर्थन रूप वस्तुके अनुभव करनेको काव्य कहते हैं—

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा,
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव संचिन्त्यताम् ।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचित्
तच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्येव नः ॥१७॥

अर्थ – युक्तिसे कर्ता और भोक्तामें भेद हो अथवा अभेद हो अथवा कर्ता भोक्ता दोनों न होवें वस्तुका ही चिंतवन करो। जैसे चतुर पुरुषोंके द्वारा सूत्र (धागा) में पिरोइ हुई मणियोंकी माला भेदी नहीं जा सकती उसी तरह आत्मामें पिरोइ हुइ चैतन्य रूप चिन्तामणिकी माला कहीं भी किसीके द्वारा भेदी नहीं जा सकती है, ऐसी यह आत्मा रूपी माला हमारेमें प्रकाश रूपसे प्रगट होओ ।

भावार्थ—वस्तु द्रव्य पर्याय रूप अनंत धर्मात्मक है, उसमें विवक्षाके वशसे कर्तृत्व और भोक्तृत्वका भेद है भी और नहीं भी है। कर्ता भोक्ता भी नहीं कहना, केवल शुद्ध वस्तुमात्रके असाधारण धर्म द्वारा उसका अनुभवन करना । इस प्रकार आत्मा नाम वस्तु में अपने असाधारण चैतन्य मात्र भाव द्वारा अनुभवन करते हुए चैतन्यके परिणमन रूप पर्यायके भेदोंकी अपेक्षा कर्ता भोक्ताका भेद है । चिन्मात्रकी अपेक्षा भेद नहीं है। इसतरहका भेद अभेद भले ही हो, लेकिन चिन्मात्रके अनुभवनमें भेद अभेद क्यों कहना चाहिये ? जैसे मणियोंकी मालामें धागा और मोतियों

की विवक्षासे भेद है माला मात्र ग्रहण करने में भेदाभेद विकल्प नहीं हैं, उसी तरह आत्मामें चैतन्यके द्रव्य पर्याय अपेक्षा भेदाभेद है तो भी आत्म पदार्थ मात्रके अनुभव करते समय कोई विकल्प नहीं होता है इसीसे आचार्य ने कहा है कि इस प्रकारके निर्विकल्प आत्माका अनुभव हमारेमें प्रकाश रूप है ऐसा जिन भगवान का वचन है।

जैसे काहू चतुर संवारी है मुकतमाल माला की क्रिया में नाना भांति कौ विज्ञान है
क्रियाकौ विकलप न देखै पहिरनवारी मोतिनकी शोभामें मगन सुखवान है ॥
तैसें न करै न भुंजै अथवा करै सो भुंजै, और करै और भुंजै सबनय प्रवान है।
जदपि तथापि विकलप विधि त्याग जोग निरविकलप अनुभौ अमृत पान है।

इसी कथनको दृष्टांतसे स्पष्ट करनेके लिये नयविभागका काव्य कहते हैं—

रथोद्धताछंदः—

व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ॥१८॥

अर्थ—व्यवहारकी दृष्टिमें कर्ता और कर्म भिन्न दीखते हैं परन्तु जब निश्चयसे वस्तुका विचार किया जाता है तो कर्ता और कर्म हमेशा एक ही दीखते हैं। तात्पर्य ये है कि व्यवहारनय तो पर्यायाश्रित है इसलिये पर्यायनयमें तो भेद ही दीखता है। शुद्धनिश्चय नय द्रव्याश्रित है इसमें अभेदही दीखता है इसीसे व्यवहारमें कर्ता कर्मका भेद है, निश्चयमें अभेद है।

दोहा—दरव करम करता अलख यह विवहार कहाउ।
निहचै जो जैसौ दरब तैसौ ताकौ भाउ ॥१८॥

इसी कथनको दृष्टांतसे गाथाओंमें कहते हैं—

जह सिप्पिऊ उ कम्मं कुव्वइ ण य सोउ तम्मऊ होइ।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वइ ण य तम्मऊ होई ॥३४९॥

जह सिप्पिऊ उ करणेहिं कुव्वइ ण सोउ तम्मऊ होइ।
तहजीवो करणेहिं य कुव्वइ ण य तम्मऊ होई ॥३५०

जह सिप्पिऊ उ करणाणि गिण्हइ ण सो उ तम्मऊ होइ
तह जीवो करणाणि उ गिण्हइ ण य तम्मऊ होइ ॥३५१

जह सिप्पिऊ उ कम्मफलं भुंजइ ण य सो उ तम्मऊ होइ
तह जीवो कम्मफलं भुंजइ ण य तम्मऊ होइ ॥३५२॥

एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिमाणकयं तु जं होइ ॥३५३॥

जह सिप्पिऊ उ चेट्ठं कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वइ हवइ य अणण्णो से ।३५४।

जह चिट्ठं कुव्वंतो उ सिप्पिउ णिच्चदुक्खिओ होइ।
तत्तो सिया अणण्णो तह चिट्ठंतो दुही जीवो ॥३५५॥

यथा शिल्पिकस्तु कर्म करोति न च स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति न च तन्मयो भवति ॥ ३४९ ॥

यथा शिल्पिकस्तु करणैः करोति न स तन्मयो भवति।
तथा जीवः करणैःकरोति न च तन्मयो भवति ॥ ३५० ॥

यथा शिल्पिकस्तु करणानि गृह्णाति न स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवः तु करणानि गृह्णाति न च तन्मयो भवति ॥३५१॥

यथा शिल्पिकस्तु कर्म फलं भुङ्क्ते न च स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवः कर्मफलं भुङ्क्ते न च स तन्मयो भवति॥ ३५२ ॥

एवं व्यवहारस्य तु वक्तव्य दर्शनं समासेन।
श्रुणु निश्चयस्य वचन परिणामकृतं तु यद्भवति ॥ ३५३ ॥

यथा शिल्पिकस्तु चेष्टां करोति भवति च तथाऽनन्यस्तस्मात्!

तथा जीवोपि च कर्म करोति भवंति चानन्यस्तस्मात् ॥ ३५४ ॥
यथा चेष्टां कुर्वाणस्तु शिल्पिको नित्यदुःखितो भवति।
तस्माच्च स्यादनन्यस्तथा चेष्टमानो दुःखी जीवः ॥ ३५५ ॥

अर्थ--जैसे शिल्पी-सुनार आदि कारीगर आभूषणादिक कार्यको करते हुए उन आभूषणादिकसे तन्मय नहीं हो जाते हैं। उसी तरह जीव भी पुद्गल कर्मको करता हुवा उससे तन्मय नहीं हो जाता है। जैसे शिल्पी हथोडा आदि करणों से कार्य को करता हुवा उन हथोडा आदिके साथ तन्मय नहीं हो जाता है उसी तरह जीव भी मन वचन काय आदि करणों से कार्य [कर्म] को करता हुवा भी तन्मय नहीं हो जाता है। जैसे कारीगर करणों [हथोडा आदि] को ग्रहण करता हुआ उनसे तन्मय नहीं हो जाता है उसी तरह जीव भी मन-वचन-काय रूप करणोंको ग्रहण करता हुवा भी तन्मय नहीं हो जाता है। जैसे शिल्पिक आभूषणादिक कर्मोंके फलको भोगता है तो भी उस कर्मफलसे तन्मय नहीं हो जाता है, उसी तरह जीव भी सुख दुख आदि कर्मोंके फलको भोगता है तो भी उनके साथ तन्मय नहीं हो जाता है। इस प्रकार व्यवहारनयका सिद्धांत संक्षेपसे कहने योग्य है। निश्चयके वचन तो अपने ही परिणामोंसे किये जाते हैं। उसीको कहते हैं सो सुनो-जैसे शिल्पिक है सो अपने परिणामोंकी चेष्टा रूप कर्मको करता है, परन्तु शिल्पी उस चेष्टासे अलग नहीं है-तन्मय है। उसी तरह जीव भी अपने परिणाम रूप चेष्टास्वरूप कर्मको करता है परन्तु उस चेष्टासे भिन्न नहीं है किन्तु उस चेष्टा से तन्मय ही है। जिस तरह शिल्पी चेष्टा करता-हुवा निरंतर दुखी होता है उस दुखसे न्यारा नहीं है-उसी तरह जीव भी चेष्टा करता हुआ दुखी होता है परंतु वह उस दुखसे न्यारा नहीं है तन्मय ही है। क्योंकि-

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेन्न
भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवति कर्त देव ततः ॥

अर्थ–अहो मुनि हो तुम यह निश्चय करो कि परिणाम तो निश्चयसे कर्म है और वह परिणाम तो अपने आश्रयको देने वाले परिणामी द्रव्यका ही होता है, अन्यका नहीं होता है। क्योंकि परिणाम तो अपने अपने द्रव्यके आश्रयसे ही होते हैं, अन्यके परिणामका अन्य कोई आश्रय होता नहीं है। कर्म भी बिना कर्ता के नहीं होता है। वस्तु द्रव्यपर्याय स्वरूप है, उसकी एक अवस्था रूप कूटस्थस्थिति आदि होते नहीं हैं, क्योंकि सर्वथा नित्यता तो बाधा सहित होती है। इससे अपने परिणाम रूप कर्मका आपही कर्ता होता है यही निश्चय सिद्धांत है। इसी अर्थका समर्थन रूप काव्य कहते हैं—

पृथ्वीछद—

वहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनन्तशक्तिः स्वयं
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम्।
स्वभावनियतं यतःसकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते ॥१९॥

अर्थ—यद्यपि वस्तु आप प्रकाश रूप अनत शक्ति स्वरूप है तथापि अन्य वस्तु अन्य वस्तुमें प्रवेश नहीं करती है। बाहिर ही लोटती है। क्योंकि संपूर्ण वस्तुएं अपने अपने स्वभावमें नियत हैं ऐसा माना जाता हैं। इसीको आचार्य कहते हैं–कि ऐसा होनेपर भी यह जीव अपने स्वभावसे चलायमान होकर आकुलित होता हुआ मोही होकर क्यों क्लेश रूप होता है? यह बडा अज्ञान है ज्ञानकौ सहज ज्ञेयाकार रूप परिणवे यद्यपि तथापि ज्ञान ज्ञान रूप कह्यो है।

ज्ञेय ज्ञेय रूप यौं अनादि ही की मरजाद काहू वस्तु काहू कौ सुभाव नाहिं गह्यौ है
एते पर कोऊ मिथ्यामती कहै ज्ञेयाकार प्रतिभासनसौं ज्ञान असुद्ध ह्वै रह्यौ है।
याही दुर्बुद्धि सौं विकल भयौ डोलत है समुझै न धरम यौं भरम माहि बह्यौ है

फिर इसी अर्थके दृढ करनेको काव्य कहते हैं—

रथोद्धता छंदः—

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्।
निश्चयोऽयमपरः परस्य कः किं करोति हि वहिर्लुठन्नपि।२०।

अर्थ—जिस कारण इस लोकमें एक वस्तु अन्य वस्तुका नहीं है तिस कारण वस्तु है सो स्वस्वरूप न हो तो वस्तुका वस्तुत्व नहीं रह सकता है यह निश्चय है। ऐसा होने पर अन्य वस्तु अन्य वस्तुके बाहर ही लोटता है तो भी उसका क्या कर सकता है? कुछ भी नहीं कर सकता है। तात्पर्य ये है कि वस्तुका स्वभाव तो ऐसा है कि उसको अन्य कोई वस्तु पलटा नहीं सकता, ऐसी हालतमें अन्यका अन्यने क्या किया? कुछ भी नहीं किया। जैसे चेतन वस्तुके साथ पुद्गल द्रव्य एक क्षेत्रावगाह रूपसे रहना है तो भी चेतन को जड अपने रूप तो नहीं परिणमा सकता तब चेतनका क्या किया? कुछ भी नहीं किया। यह निश्चयका मत है। निमित्तनैमित्तिक भावसे जो अन्य वस्तुके परिणाम होते हैं वे भी उसी वस्तु के ही है, अन्य का कहना तो व्यवहार है वही आगेके काव्यमें बतलाया है।

चौपाई—सकल वस्तु जगमें असहाई, वस्तु वस्तु सौं मिलै न काई।
जीव वस्तु जानै जग जेती, सोऊ भिन्न रहै सब सेती॥२०॥

रथोद्धता छंद—

यस्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः किञ्चनापि परिणामिनः स्वयम्।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात्॥२१॥

अर्थ—जो कोई वस्तु अन्य वस्तुका कुछ करता है सो वह

वस्तु आप परिणामी है क्योंकि एक अवस्थासे दूसरी अवस्था रूप होना वस्तुका पर्याय स्वभाव है, इसीसे परिणामी कहा जाता है। इस प्रकार परिणामी वस्तुका अन्यके निमित्तसे परिणाम हुआ उसीको कहते हैं यह अन्येन किया सो ऐसा कहना व्यवहारनय है। निश्चयनयसे तो अन्यन कुछ किया नहीं है, परिणाम तो आपही का हुवा, किसी दूसरेने तो उसमें कुछ भी लाकर रक्खा नहीं है। ऐसा जानना चाहिये।

दोहा—करम करै फल भोगवे जीव अज्ञानी कोई।
यह कथनी व्यवहारकी वस्तु स्वरूप न होइ ॥ २१ ॥

आगेके गाथाओंसे इस निश्चय व्यवहारनयके कथन को दृष्टांत द्वारा स्पष्ट कहते हैं -

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होई।
तह जाणऊ दु ण परस्स जाणऊ जाणऊ सो दु ॥३५६॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होई।
तह पासऊ दु ण परस्स पासऊ पासऊ सो दु ॥३५७॥
जह सेडिया०।
तह संजऊ दु ण परस्स संजऊ संजऊ सो दु। ३५८।
जह सेडिया०। तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥३५९॥ एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसण चरित्ते सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥३६०॥ जह परदव्वं सेडिया हु सेडिया अप्पणो सहावेण। तह परदव्वं जाणइ णाया वि सयेण भावेण ॥३६१॥ जह परदव्वं०। तह परदव्वं पस्सइ जीवो वि

सयेण भावेण ॥३६२॥ जह परदव्वं०। तह परदव्वं विजहइ णाया वि सयेण भावेण ॥३६३॥ जह परदव्वं तह परदव्वं सद्दहइ सम्मादिट्ठी सहावेण ॥३६४॥ एवं ववहारस्स दु विणिच्छऊ णाणदंसणचरित्ते। भणिऊ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वो ॥३६५॥ दसगं।

छाया—यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति। तथा ज्ञायकस्तु न परस्य ज्ञायको ज्ञायकः स तु ॥ ३५६ ॥

यथा सेटिका०। तथा दर्शकस्तु न परस्य दर्शको दर्शकः स तु ॥ ३५७ ॥ यथा सेटिका०। तथा संयतस्तु न परस्य सयतः संयतः स तु ॥ ३५८ ॥ यथा सेटिका०। तथा दर्शनं तु न परस्य दर्शनं दर्शनं तस्तु ॥ ३५९ ॥ एवं तु निश्चयनयस्य भाषितं ज्ञान दर्शनचरित्रे। श्रुणु व्यवहारनयस्य च वक्तव्यं तस्य समासेन ॥ ३६० ॥ यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन। तथा परद्रव्यं जानाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥ ३६१ ॥ यथा पर० ॥ तथा परद्रव्य पश्यति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥ ३६२ ॥ यथा पर० ॥ तथा परद्रव्यं विजहति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥ ३६३ ॥ यथा पर०। तथा परद्रव्य श्रद्धाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६४॥ एव व्यवहारस्य तु विनिश्चयो ज्ञानदर्शनचरित्रे। भणितोऽन्येष्वपि पर्यायेष्वेवमेव ज्ञातव्यः ॥ ३६५ ॥

अर्थ—जैसे सेटिका—सुपेदी करनेकी कली या खडिया पांडु द्रव्य है, सो पर जो दीवाल आदि उनको सफेद करने वाली है इससे सेटिका कहलाती है सो बात नहीं है किंतु सेटिका तो आप खुद सेटिका है। उसी तरह ज्ञायक अर्थात जानने वाला परद्रव्य

का जानने वाला है इससे ज्ञायक नहीं है, वह तो आप ही ज्ञायक है ॥ जैसे सेटिका परकी सेटिका नहीं हैं, वह तो आप ही सेटिका है । उसी तरह दर्शक देखने वाला परका देखने वाला है इसलिये देखनेवाला नहीं है वह तो आप ही देखने वाला है ॥ जैसे सेटिका परकी सेटिका नहीं है आप ही सेटिका है उसी तरह संयत परका त्यागी है इससे संयत नही है वह तो आप ही संयत हैं । जैसे सेटिका परकी सेटिका नहीं है सेटिका आपही सेटिका है उसी तरह दर्शन-श्रद्धान परके श्रद्धान करने से श्रद्धान नहीं है वह तो आपही श्रद्धान है, इस प्रकार दर्शन ज्ञान चारित्रमें निश्चयनयका वचन है । अब व्यवहारनयका वर्णन संक्षेप रूपमें कहते हैं सो सुनो—जैसे सेटिका अपने स्वभावसे परद्रव्य जो भित्ति आदि उनको सफेद करती है । उसी तरह ज्ञाता जानने वाला परद्रव्यको अपने स्वभावसे जानने वाला है । जैसे सेटिका अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करती है उसी तरह ज्ञाता अपने स्वभावसे परद्रव्यको देखता जानता है। जैसे सेटिका अपने स्वभावसे परद्रव्यको सफेद करती है । उसी तरह ज्ञाता अपने स्वभावसे पर द्रव्यका त्याग करता है । जैसे सेटिका अपने स्वभावसे पर द्रव्यको सफेद करती है, उसी तरह ज्ञाता भी अपने स्वभाव से ही पर द्रव्यका श्रद्धान करता है । इस प्रकार दर्शन ज्ञान चारित्रमें जो व्यवहारका विशेप रूपसे निश्चय कहा है वही दूसरी दूसरी पर्यायोंमें भी ऐसा ही जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—शुद्धनयसे आत्माका स्वभाव एक चैतन्यमात्र है । उसी चैतन्यके देखना, जानना, श्रद्धान करना, पर द्रव्यका त्याग करना परिणाम हैं । यहां निश्चयनयसे विचारा जाय तो आत्मा परद्रव्यका न तो ज्ञायक है, न दर्शक है, न श्रद्धान करने वाला है, और न त्याग करने वाला ही है । क्योंकि पर

द्रव्य और आत्माका निश्चयनयसे कुछ भी संबंध नहीं है। ज्ञाता दृष्टा, श्रद्धान करने वाला, त्याग करने वाला इन भाव रूप आप खुद ही है। भाव भावकका भेद कहना भी व्यवहार ही है। और पर द्रव्यका ज्ञाता, दृष्टा, श्रद्धान करने वाला, त्याग करने वाला कहना भी व्यवहारनय ही है। क्योंकि परद्रव्य और आत्माका निमित्त नैमित्तिक संबंध है। परके निमित्तसे होने वाले भावों को देखकर व्यवहारी जन कहने लगते हैं कि ये पर द्रव्यको जानता है, पर द्रव्यको देखता है, पर द्रव्यका श्रद्धान करता है, पर द्रव्यका त्याग करता है। इस प्रकार निश्चय व्यवहारका प्रकार जानकर यथावत श्रद्धान करना चाहिये।

अब इस अर्थके कलश रूप काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितच्छंद—

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तर जातुचित्।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः।
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः ॥२२॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जिसने शुद्ध द्रव्यके निरूपण करनेमें अपनी बुद्धिको लगायी है तथा जो तत्वका अनुभव करता हैं ऐसे पुरुषके एक द्रव्यमें प्राप्त हुआ अन्य द्रव्य कभी भी कुछ भी नहीं प्रतिभासता है तथा ज्ञान जो अन्य ज्ञेय पदार्थोंको जानता है यह तो ज्ञानके शुद्ध स्वभाव का उदय हैं। लोग अन्य द्रव्यके ग्रहणमें आकुलित बुद्धि वाला होकर शुद्ध स्वरूपसे क्यों चिगता है?

भावार्थ—शुद्धनयकी दृष्टीसे तत्वका विचार करने पर अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यमें प्रवेश नहीं दीखता हैं। ज्ञानमें जो अन्य द्रव्य प्रातिभासता है सो ये तो ज्ञानकी स्वच्छताका

स्वभाव है। ज्ञान उसको कुछ ग्रहण नहीं किये हुए है। यह लोक अन्य द्रव्यका ज्ञानमें प्रतिभास देखकर अपने ज्ञान स्वभावसे छूटकर ज्ञेयके ग्रहण करनेकी बुद्धि करता है सो ये अज्ञान है। आचार्यने इसीसे करुणा बुद्धिसे कहा है कि ये लोक तत्वसे क्यों चिगता हैं ?

कवित्त—

ज्ञेयाकार ज्ञानकी परिणति पै वह ज्ञान ज्ञेय नहिं होय।
ज्ञेय रूप षट् दरब भिन्न पद ज्ञान रूप आतम पद सोय॥
जानै भेदभाव सु विचच्छन गुन लच्छन सम्यक्दृग जोय।
मूरख कहै ज्ञानमय आकृति प्रगट कलंक लखै नहिं कोय॥

चौपाई—निराकार जो ब्रह्म कहावै, सो साकार नाम क्यों पावै।
ज्ञेयाकार ज्ञान जब ताईं, पूरन ब्रह्म नहि तब ताईं॥
ज्ञेयाकार ब्रह्म मल मानै, नास करमको उद्यम जानै।
वस्तु स्वभाव मिटै नहि क्यौं हीं, तातै खेद करै सठ यौंहीं॥

दोहा—मूढ मरम जानै नहीं, गहै एकत कुपक्ष।
स्याद्वाद सर्वंग नय, मानैं दक्ष प्रतक्ष॥
तातै समकितवंत नर, सहज उच्छेदक नाहिं॥
सुद्ध दरव अनुभव करै, सुद्ध दृष्टि घटमाहिं।

इसी अर्थको फिर कहते हैं—

मन्दाक्रांताछंद—

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेष
मन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि।
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव॥२३॥

अर्थ—जिस द्रव्यका जो स्वभाव होता है उसका वही स्वभाव है। आत्माका स्वभाव ज्ञानचेतना है। शुद्ध द्रव्य जो

शुद्ध आत्मा उसका निज रस ज्ञान चेतना है। उस ज्ञान चेतना के होनेपर बाकीके द्रव्य क्या हो सकते हैं? कुछ भी नहीं हो सकते। परमार्थसे उनका कुछ भी संबन्ध नहीं है। अथवा अन्य द्रव्यके ये स्वभाव हो सकेत हैं क्या? कुछ भी नहीं हो सकेत। परमार्थसे उनका कुछ भी संबन्ध नहीं है। जैसे ज्योत्स्ना-चांदनी पृथ्वीको उज्वल करती है सो पृथ्वी क्या चांदनी रूप हो जाती है? कुछ भी नहीं हो जाती हैं। उसी तरह ज्ञान ज्ञेय (जानने लायक पदार्थ) को जानता है, परन्तु ज्ञय ज्ञानका क्या कुछ होता है? कुछ भी नहीं होता है।

भावार्थ शुद्ध नयकी दृष्टिसे देखा जाय तो किसी भी द्रव्यका स्वभाव किसी अन्य द्रव्य रूप नहीं होता है। जैसे चांदनी पृथ्वीको उज्वल करती है परन्तु पृथ्वी चांदनी रूप नहीं हो जाती है॥ उसी तरह ज्ञान ज्ञेयको जानता है परन्तु ज्ञेय ज्ञान रूप नहीं हो जाता है। ज्ञान आत्माका स्वभाव है सो ज्ञानकी स्वच्छतामें ज्ञेय अपने आप झलकते हैं तो भी ज्ञानमें उन ज्ञेयोंका प्रवेश नहीं होता है।

जैसे चन्द किरन प्रगटि भूमि सेत करै,
भूमिसी न दीसै सदा जोतिसी रहति है।
तैसैं ज्ञान सकति प्रकासै हेय उपादेय,
ज्ञेयाकार दीसै पैं न ज्ञेयकौं गहति है॥
शुद्धवस्तु शुद्ध परजाइरूप परिनवै,
सत्ता परवान माहें ढाहें न ढहत है।
सो तो और रूप कबहू न होय सरवथा,
निहचै अनादि जिनवानी यों कहत है॥ २३॥

ज्ञानमें राग द्वेषका उदय कहांतक रहता है? इसके उत्तरमें काव्य कहते हैं–

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न याव—
ज्ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतामेति बोधः ।
ज्ञानं ज्ञान भवतु तदिद न्यक्कृताज्ञानभाव
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभाव. ॥ २४ ॥

अर्थ—जबतक ज्ञान ज्ञानरूप नहीं हो जाय और ज्ञेय ज्ञेयरूप नहीं हो जावें तभीतक राग द्वेषकी उत्पत्ति होती है। इसलिए यह ज्ञानभाव अज्ञान भावको दूर कर ज्ञान रूप होवे, क्योंकि ज्ञानमें जो भाव और अभाव ये दोनों अवस्थाएं होती हैं, सो तो मिट जांय और ज्ञान पूर्णस्वभावको प्राप्त होजाय यह प्रार्थना है।

सवैया तेईसा—

राग विरोध उदै जबलौं तबलौं यह जीव मृषा मग धावै ।
ज्ञान जग्यौ जब चेतनकौ तब कर्मदसा पर रूप कहावै ॥
कर्म विलेछि करै अनुभौ तहां मोह मिथ्यात प्रवेश न पावै ।
मोह गयैं उपजै सुख केवल सिद्ध भयौ जगमांहि न आवै ।२४।

आगे कहते हैं कि राग द्वेष मोहसे दर्शन ज्ञान चारित्रका घात होता है, वे दर्शन ज्ञान चारित्र पुद्गलमें तो होते नहीं हैं, आत्मामें ही पाये जाते हैं, आत्मामें भी अज्ञानतासे राग द्वेष मोह होते हैं और अज्ञानतासे अपना ही घात होता है, ऐसा निर्णय करने को गाथा कहते हैं—

दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे विसये ।
तह्मा किं धादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ॥३६६॥
दंसणणाणचरित्तं किं चि वि णत्थि दु अचेयणे कम्मे ।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तम्मि कम्मम्मि ॥३६७॥
दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे काये ।

तह्मा किं घादयते चेदइदा तेसु कायेसु। ३६८॥
णाणस्स दंसणस्स य भणिऊ घाऊ तहा चारित्तस्स।
ण वि तहिं पुग्गलदव्वस्स को वि विघाऊ उ णिद्दिठो
जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु।
तम्हा सम्माइट्ठिस्स णत्थि रागो उ विसयेसु ॥३७०॥
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा।
एएण कारणेण उ सद्दादिसु णत्थि रागादि ॥३७१॥

दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने विषये।
तस्मात्किं हन्ति चेतयिता तेषु विषयेषु ॥३६६॥
दर्शनज्ञानचरित्रं किञ्चिदपि नास्ति त्वचेतने कर्मणि।
तस्मात्किं हन्ति चेतयिता तत्र कर्मणि ॥३६७॥
दर्शनज्ञानचारित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने काये।
तस्मात्किं हन्ति चेतयिता तेषु कायेषु ॥३६८॥
ज्ञानस्य दर्शनस्य च भणितो घातस्तथा चारित्रस्य।
नापि तत्र पुद्गलद्रव्यस्य कोपि घातस्तु निर्दिष्टः ॥३६९॥
जीवस्य ये गुणाः केचिन्न संति खलु ते परेषु द्रव्येषु।
तस्मात्सम्यग्दृष्टेर्नास्ति रागस्तु विषयेषु ॥३७०॥
रागो द्वेषो मोहो जीवस्यैव चानन्यपरिणामाः।
एतेन कारणेन तु शब्दादिषु न सति रागादयः ॥३७१॥

अर्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र अचेतन विषयोंमें नहीं पाये जाते हैं, इसलिये उन विषयोंमें चेतयिता—आत्मा क्या घात करे? क्योंकि घातनेको कुछ भी नहीं है॥ दर्शन, ज्ञान, चारित्र अचेतन कर्मोंमें भी नहीं पाये जाते, इसलिये उन अचेतन कर्मोंमें चेतयिता आत्मा क्या घात करे? कुछ भी घातनेको नहीं है।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र अचेतन काय (शरीर) में भी नहीं हैं इसलिये चेतयिता आत्मा उस अचेतन कायमें क्या घात करे? कुछ भी घात करनेको नहीं है। घात तो ज्ञानका, दर्शनका और चारित्रका कहा गया है। पुद्गल द्रव्यका तो घात नहीं कहा गया है। जीवके जितने भी गुण हैं वे परद्रव्यमें नहीं पाये जाते हैं, इसलिये सम्यग्दृष्टिको विषयोंमें राग नहीं होता है। राग, द्वेष मोह जीवहीके अनन्य एक अभेद रूप परिणाम हैं, इस कारण रागादिक शब्दादिकोंमें नहीं होते हैं।

भावार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि जीवके जितने गुण होते हैं वे अचेतन पुद्गल द्रव्यमें नहीं होते हैं। राग द्वेष मोह तो आत्माके अज्ञानमय परिणामोंसे होते हैं। उन्हींसे आत्माके दर्शन ज्ञान चारित्रादि गुणोंका घात होता है। राग द्वेष मोह जीव ही के अस्तित्वमें अज्ञानतासे उत्पन्न होते हैं। जब अज्ञानताका अभाव हो जाता है तब जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है, फिर रागादि भाव उत्पन्न नहीं होते हैं। ऐसा होनेपर शुद्ध द्रव्यकी दृष्टिमें पुद्गलमें भी राग द्वेष मोह नहीं हैं, और सम्यग्दृष्टिमें भी नही हैं, इस प्रकार दोनोंमें न होनेपर ये रागादि भाव नहीं ही है। पर्यायदृष्टिमें जीवकी अज्ञान अवस्थामें हैं ऐसा जानना चाहिये। अब इस अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

मंदाक्रान्ताछंद—

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किंचित्।
सम्यग्दृष्टि क्षपयतु ततस्तत्वदृष्ट्या स्फुट तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चि ॥२५॥

अर्थ—इस आत्मामें ज्ञान ही अज्ञान भावसे राग द्वेष रूप परिणमता है। वे रागादि वस्तु रूपसे स्थायि दृष्टिसे देखने पर

कुछ भी नहीं हैं। द्रव्य रूप भिन्न वस्तु नहीं हैं। इससे आचार्य प्रेरणा करते हैं कि सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्वदृष्टिसे उनको प्रगट रूपसे देखकर क्षेपो-नाश करो, जिससे स्वाभाविक ज्ञानज्योतिकी पूर्ण प्रकाश रूप अचल दीप्ति देदीप्यमान प्रकाशे।

विशेषार्थ—राग द्वेष अलग द्रव्य नहीं हैं, ये तो जीवके अज्ञान भावसे उत्पन्न होते हैं, इससे सम्यग्दृष्टि होकर तत्वदृष्टिसे देखा जाय तो ऐसा मालूम हो जावे कि ये राग द्वेषादिक कुछ भी वस्तु नहीं हैं, घाति कर्मोंक नाश होते ही केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

छप्पयछंद—

जीव करम संजोग सहज मिथ्यात रूप धर
राग द्वेष परिनति प्रभाव जानै न आप पर
तम मिथ्यात मिटि गयौ हुवो समकित उदोत ससि
राग दोष कछु वस्तु नहिं छिन माहि गयौ नासि॥
अनुभौ अभ्यास सुख रासि रमि भयौ निपुन तारन तरन।
पूरन प्रकाश निहचल निरखि बनारसि वंदत चरन ॥२५॥

आगे कहते हैं कि अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके गुण नहीं उत्पन्न किये जाते हैं इस सूचनिका का काव्य—

शालिनीछंद—

रागद्वेषोत्पादकं तत्वदृष्ट्या नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि।
सर्वं द्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात् २६

अर्थ—तत्व दृष्टिसे देखा जाय तो राग द्वेपका उत्पादक कोई द्रव्य नहीं है। राग द्वेपके उत्पादक तो चेतनके ही परिणाम हैं। क्योंकि ऐसा न्याय है कि—सर्व द्रव्योंकी उत्पत्ति अपने ही निज स्वभावमें अंतरंगमें अत्यंत प्रगट रूपमें शोभा पाती है। अन्य द्रव्यमें अन्य द्रव्योंके गुण पर्यायोंकी उत्पत्ति

नहीं होती है।

कोऊ शिष्य कहै स्वामी राग द्वेष परिणाम,
ताकौ मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है ?
पुग्गल करम जोग किधौं इन्द्रिनिको भोग,
किधौं धन किधौं परिजन किधौं भौन है।
गुरु कहैं छहौं दर्व अपने अपने रूप,
सबनिसौं सदा असहाई पर नौन है।
कोऊ दरब काहू कौ न प्रेरक कदाचित तातैं,
राग दोष मोह मृषा मदिरा अचौन है ॥२६॥

इसी अर्थ को अब गाथामें कहा हैं—

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरइ गुणुप्पाऊ
तह्मा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यस्य न क्रियते गुणोत्पादः।
तस्मात्तु सर्वद्रव्याण्युत्पद्यन्ते स्वभावेन ॥३७२

अर्थ—अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके गुणका उत्पाद नहीं किया जाता है। क्योंकि ऐसा सिद्धान्त है कि सभी द्रव्य अपने अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ-आत्मामें जो रागादिक उत्पन्न होतेहैं वे आत्माकेही अशुद्ध परिणाम हैं। निश्चयनयसे विचारा जाय तो इनका उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य नहीं है अन्य द्रव्य तो इनका निमित्त मात्र है क्यों कि अन्य द्रव्यके गुण पर्यायोंको अन्य द्रव्य उत्पन्न नहीं करता है ऐसा नियम है। इसलिए जो कोई ऐसा मानते हैं कि मेरे रागादिक का उत्पादक अन्य द्रव्य है ऐसा एकान्त पक्ष करते हैं वे नय विभाग को समझे ही नहीं हैं मिथ्यादृष्टि हैं। ये रागादिक तो जीवके सत्व में ही उत्पन्न होते हैं पर द्रव्य तो निमित्त मात्र

हैं। ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान है । इसलिए आचार्य ऐसा कहते हैं कि हम राग द्वेषकी उत्पत्तिमें दूसरे द्रव्य पर क्यों क्रोध करैं। राग द्वेषके उत्पन्न करनेमें तो आपहीका अपराध है। अब इसी अर्थके कलश रूप काव्य कहते हैं।

मालिनी छंद—

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः,
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र ।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो,
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥ २७ ॥

अर्थ-इस आत्मामें राग द्वेषकी उत्पत्ति होनेमें पर द्रव्यका कुछभी दोष नहीं है। आत्मामें यह अज्ञान ही आप अपराधी होकर फैल रहा है, यह कथन प्रगट रूपसे होऊ, वा यह अज्ञान भी अस्तपनेको प्राप्त होऊ। क्योंकि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान हैं।

मतलब ये है कि अज्ञानी जीव राग द्वेषकी उत्पत्ति परद्रव्यसे मानकर उनपर क्रोध करता है और ऐसा मानता है कि परद्रव्य ही मेरे राग द्वेष उत्पन्न करते हैं। उनको मैं दूर करूं ऐसे अज्ञानीको समझानेके लिए कहा है कि राग द्वेषकी उत्पत्ति अज्ञानतासे अपनमें ही होती है, व आपही के अशुद्ध परिणाम हैं, सो ऐसा अज्ञान नाशको प्राप्त होहु, और सम्यग्ज्ञान प्रगट होहु, तथा आत्मा ज्ञान स्वरूप है ऐसा अनुभव करो। रागद्वेषके उत्पन्न होनेमें परद्रव्यको उत्पादक मानकर उनपर क्रोध मत करो।

दोहा कोउ मूरख यों कहे राग द्वेष परिनाम
पुग्गलकी जोरावरी वरतै आतमराम ॥
ज्यौं ज्यौं पुग्गल वल करै धरि धरि कर्मज भेख
राग दोषको परिनमन त्यों त्यों होई विशेख ॥ २७ ॥

अब इसी अर्थको दृढ करनेको और अगले कथनकी सूचना रूप काव्य कहते हैं—

रथोद्धताछंद–

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयंति ये तु ते।
उत्तरंति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥२९॥

अर्थ—जो पुरुष रागकी उत्पत्ति में पर द्रव्यको ही निमित्त मानते हैं, अपनेको कुछ भी हेतु नहीं मानते हैं वे मोहरूपी नदीके पार नहीं उतर सकते हैं, क्योंकि शुद्धनयके विषयभूत आत्माके स्वरूपके ज्ञानसे रहित अंध बुद्धिवाले हैं।

तात्पर्य ये है कि शुद्धनयके विषयसे आत्मा अनंत शक्तिको लिये चैतन्य चमत्कारमात्र नित्य अभेद एक है। उसमें ऐसी स्वच्छता है कि जैसा निमित्त मिल जाय उसी रूप आप परिणम जाय। ऐसा नहीं है कि निमित्तके परिणमानेसे परिणमता है। अपना कुछ पुरुषार्थ ही नहीं है। ऐसे आत्माके स्वरूपका जिन्हें ज्ञान नहीं है वे ऐसा मानते हैं कि आत्माको परद्रव्य जैसा परिणमाता है वैसा ही परिणम जाता है। ऐसा माननेवाले मोहकी वाहिनी-सेना अथवा नदी रूप राग द्वेषादि परिणाम उनसे पार नहीं होते हैं अर्थात् उनके राग द्वेष नहीं मिटते हैं। क्योंकि अपना पुरुषार्थ रागादिक होनेमें होवे तो उनके मेटनेमें भी हो सकता है। यदि परहीके किये होवें तो सामने वाला किया ही करै, अपना मेटना कैसा? क्योंकि जो अपना किया होय वह अपने मेटनेसे मिटभी सकता है। ऐसा कथंचित मानना सम्यग्ज्ञान है।

दोहा—इह विधि जो विपरीत पख, गहै सद्दहै कोय।
सो नर राग विरोध सौं, कबहूं भिन्न न होय॥
सुगुरु कहैं जगमें रहै पुग्गल संग सदीव।
सहज सुद्ध परिनमनकौ औसर लहै न जीव॥

तातैं चिद्भावनि विषैं समरथ चेतन राउ।
राग विरोध मिथ्यातमैं समकितमैं सिवभाउ ॥२९॥

आगे कहते हैं कि पुद्गल ही स्पर्श रस गंध वर्ण शब्द रूप परिणमता है, वे इन्द्रियोंसे आत्माके जाननेमें आते हैं, तथापि वे जड हैं, किसीको कुछ कहते नहीं हैं कि हमको ग्रहण करो आत्मा ही अज्ञानी होकर उनको भला बुरा मानकर रागी द्वेषी होता है। इसी बातको गाथाओंमें कहते हैं—

णिंदियसंथुयवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुयाणि।
ताणि सुणिऊण रूसइ तूसइ य पुणो अहं भणिऊ ॥३७३
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणयं तस्स जइ गुणो अण्णो।
तह्या ण तुमं भणिऊ किं चि वि किं रूससि अबुद्धो ३७४
असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणइ सुण सु मंति सो चेव।
णय एइ विणिग्गहिउं सोयविसयमागयं सद्दं ॥३७५॥
असुहं सुहं व रूवं ण तं भणइ पिच्छ मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं चक्खुविषयमागयं रूवं ॥३७६॥
असुहो सुहो व गंधो ण तं भणइ जिग्घ मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं घाणविषममागयं गंधं ॥३७७॥
असुहो सुहो व रसो ण तं भणइ रसय मंति सो चेव।
णय एइ विणिग्गहिउं रसणविसयमागयं तु रसं ॥३७८
असुहो सुहो व फासो ण तं भणइ फुससु मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं काय विसयमागयं तु फासं ३७९
असुहो सुहं व गुणो ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव

ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं दव्वं३८०
एयं तु जाणिऊण उवसमं णेव गच्छइ मूढो ।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ३८१

निन्दितसंस्तुतवचनानि पुद्गलाः परिणमति वहुकानि ।
तानि श्रुत्वा रुष्यति तुष्यति च पुनरहं भणितः ॥ ३७२ ॥
पुद्गलद्रव्यं शब्दत्वपरिणतं तस्य गुणोऽन्यः ।
तस्मान्न त्वं भणितः किंचिदपि किं रुष्यस्यवुद्धः ॥ ३७३ ॥
अशुभः शुभो वा शब्दो न त्वां भणति श्रुणु मामिति स एव ।
न चैति विनिर्गृहितुं श्रोत्रविषयमागतं शब्दम् ॥ ३७४ ॥
अशुभं शुभ वा रूपं न त्वां भणति पश्य मामिति स एव ।
न चैति विनिर्गृहितु चक्षुर्विषयमागतं रूपं ॥ ३७५ ॥
अशुभ-शुभो वा गंधो न त्वां भणति जिघ्र मामिति स एव ।
न चैति विनिर्गृहितुं घ्राणविषयमागतं गधम् ॥ ३७६ ॥
अशुभःशुभो वा रसो न त्वां भणति रसय मामिति स एव ।
न चैति विनिर्गृहितुं रसनविषयमागतं तु रसं ॥ ३७७ ॥
अशुभः शुभो वा स्पर्शो न त्वां भणति स्पृश मामिति स एव ।
न चैति विनिर्गृहितुं कायविषयमागत स्पर्शम् ॥ ३७८ ॥
अशुभः शुभो वा गुणो न त्वां भणति बुद्धस्व मामिति स एव ।
न चैति विनिर्गृहितुं बुद्धिविषयमागतं तु गुणं ॥ ३७९ ॥
अशुभ शुभ वा द्रव्य न त्वां भणति वुद्धस्व मामिति ।
न चैति विनिर्गृहितु वुद्धिविषयमागतं द्रव्य ॥ ३८० ॥
एतत्तु ज्ञात्वोपशम नैव गच्छति मूढो ।
विनिग्रहमनाः परस्य च स्वय च वुद्धिं शिवामप्राप्तः ॥ ३८१ दशकं॥

अर्थ—निंदा और स्तुतिके वचन रूप पुद्गल ही वहुत प्रकारसे

परिणमते हैं। उनको सुनकर यह अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि "मुझे कहा गया" ऐसा मानकर रोस (क्रोध) करता है, अथवा संतोष करता है, शब्द रूप पुद्गल द्रव्य परिणमता है, सो ये पुद्गल द्रव्यका गुण है, आत्मासे अन्य है, इसलिए हे अज्ञानी जीव तुझे तो कुछ भी नहीं कहा, तूं अज्ञानी बनकर क्यों रोष करता है? अशुभ अथवा शुभ शब्द है, वह तुझे ऐसा नहीं कहता है कि मुझे सुनो, लेकिन श्रोत्रेन्द्रियके विषयमें आया जो शब्द उसके ग्रहण करनेके लिए अपने स्वरूप को छोड़कर यह आत्मा भी प्राप्त नहीं होता हैं। अशुभ अथवा शुभ रूप तुझे ऐसा नहीं कहता कि तूं मुझे देख। परतु चक्षु इंद्रियके विषय में आये हुए रूपको आत्मा भी ग्रहण करने के लिए अपने प्रदेशोंको छोडकर प्राप्त नहीं होता है, अशुभ अथवा शुभ गंध तुझे ऐसा नहीं कहता कि तूं मुझे सूंघ। पर घ्राण इंद्रिय के विषय में आये हुए गंधको आत्मा भी ग्रहण करनेको अपने प्रदेशोंको छोडकर नहीं प्राप्त होता है। अशुभ अथवा शुभ रस तुझे ऐसा नहीं कहता कि तू मेरा रस ले, पर रसना इंद्रियके विषयमें आये हुए रसको आत्मा भी ग्रहण करनेको अपने प्रदेशको छोडकर नहीं प्राप्त होता है॥ अशुभ अथवा शुभ स्पर्श तुझे ऐसा नहीं कहता है कि तू मुझे स्पर्श कर, पर स्पर्शन इन्द्रियके विषयमें आये हुए स्पर्श को आत्मा भी ग्रहण करने को अपने प्रदेशोंको छोडकर नहीं प्राप्त होता है॥ अशुभ अथवा शुभ द्रव्यका गुण तुझे ऐसा नहीं कहता है कि तू मुझे जान, परतु बुद्धि के विषयमें आया जो गुण उसको वह आत्मा भी ग्रहण करनेके लिये अपने प्रदेशोंको छोड-कर नहीं प्राप्त होता है॥ अशुभ अथवा शुभ द्रव्य तुझे ऐसा नहीं कहता है कि तूं मुझे जान, पर बुद्धि के विषयमें आये हुए द्रव्य को आत्माभी ग्रहण करनेके लिये अपने प्रदेशोंको छोडकर नहीं

प्राप्त होता है ।। यह मूढ़ जीव इस तरह जानकर भी उपशम भावको प्राप्त नहीं होता है और पर पदार्थोंके ग्रहण करनेको मन करता है। क्योंकि आप खुद अब तक सम्यग्ज्ञानको नहीं प्राप्त हुआ है।

भावार्थ—आत्मा शब्दको सुनकर, रूपको देखकर, गंध को सूंघकर, रसको चखकर, स्पर्शको स्पर्शकर, गुणद्रव्यको जानकर, भला बुरा मानकर राग द्वेष उत्पन्न करता है यही अज्ञान है क्योंकि वे शब्दादिक तो पुद्गलके गुण हैं, वे आत्माको कुछ कहते तो हैं नहीं, कि हमको ग्रहण करो। और आत्मा भी अपने प्रदेशोंको छोडकर उनको ग्रहण करनेकेलिये उनमें जाता नहीं है। जैसे दीपक घटपटादिकको प्रकाशता है, उसी तरह आत्मा उन सबको जानता है, ऐसा वस्तुका स्वभाव है, तो भी आत्मा उसमें राग द्वेष उत्पन्न करता है यही अज्ञान है । इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं–

शार्दूलविक्रीडितछंद —

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादय
यायात्कामपि विक्रिया तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव ।
तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयीभवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ।।२९।।

अर्थ–यह बोद्धा–ज्ञानी पूर्ण, एक, च्युत नहीं, शुद्ध-विकार से रहित, ऐसे ज्ञान स्वरूप महिमावाला है । ऐसा बोद्धा बोध्य-ज्ञेय पदार्थोंके द्वारा किसी प्रकारकी विक्रियाको प्राप्त नहीं होता है। जिस प्रकार दीपक प्रकाशने योग्य घटपटादिक पदार्थोंसे विक्रियाको प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकारकी वस्तुकी मर्यादाके ज्ञानसे शून्य बुद्धिवाले होते हुए अज्ञानी जीव, अपनी स्वाभाविक उदासीनताको क्यों छोडते हैं ? और राग द्वेष मय क्यों होते

हैं ? ऐसा आचार्यने सोच किया है।

विशेषार्थ- ज्ञानका स्वभाव ज्ञेयको जाननेका है। जैसे दीपकका स्वभाव घटपट आदिकके प्रकाशनेका है, यह वस्तु स्वभाव है। ज्ञेयको जानने मात्रसे ज्ञानमें विकार नहीं होता है। ज्ञेयको जानकर भला बुरा मानकर आत्मा रागी द्वेषी होकर विकारी होता है सो ये अज्ञान है। उसीका आचार्यने सोच किया है कि वस्तुका स्वभाव तो ऐसा है, पर ये आत्मा अज्ञानी होकर रागद्वेष रूप क्यों होता है ? अपनी स्वाभाविक उदासीनता रूप क्यों नहीं रहता ? ऐसा आचार्यका सोच करना ठीक भी है क्योंकि जब तक शुभ राग है तब तक प्राणियोंको अज्ञानसे दुखी देख करुणा उत्पन्न होती है उससे सोच होता है।

दोहा-ज्यौं दीपक रजनी समे चहु दिसि करै उदोत।
प्रगटै घटपटरूपमैं घटपट रूप न होत॥
त्यौं सुज्ञान जानै सकल ज्ञेय वस्तुकौ मर्म।
ज्ञेयाकृति परिनमै पै तजै न आतम धर्म॥
ग्यान धर्म अविचल सदा गहै विकार न कोय।
राग विरोध विमोहमय कवहू भूलि न होय॥
ऐसी महिमाज्ञानकी निहचै है घट मांहिं।
मूरख मिथ्यादृष्टिसौं सहज विलोकै नांहि॥२९॥
पर स्वभावमें मगन ह्वै ठानै राग विरोध।
धरै परिग्रह धारना करै न आतम शोध॥

अब अगले कथनकी सूचनिका रूप काव्य कहते हैं—

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः।
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात्॥
दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चञ्चच्चिदर्च्चिर्मयी
विंदन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य सञ्चेतनाम्॥३०॥

अर्थ-रागद्वेष रूप विभावसे रहित है तेज जिनका, नित्य ही अपने चैतन्य चमत्कार मात्र स्वभावके स्पर्शने वाले, पहिले किये समस्त कर्म और आगे होने वाले समस्त कर्मों से रहित, वर्तमानकालमें आनेवाले कर्मके उदयसे भिन्न ऐसे ज्ञानी जीव अतिशय कर स्वीकार किये हुए चारित्रके विभव (पर द्रव्यका त्याग) के बलसे चञ्चत्–चमकती या जागती जो चैतन्य रूप ज्योति तिसमयी तथा अपने ज्ञानरूपी रससे तीन लोकको सींचनेवाली ऐसी ज्ञानकी सम्यक्प्रकार चेतनाका अनुभव करते हैं। यहां ऐसा जानना-जिनका राग द्वेष गया और जिन्होंने अपने चैतन्य स्वभावको अंगीकार किया तथा अतीत, अनागत, वर्तमान काल के कर्मोंका ममत्व जिनका गया ऐसे ज्ञानी जीव संपूर्ण पर द्रव्योंसे भिन्न होकर चारित्रको स्वीकार करते हैं, उस चारित्रके बलसे कर्म चेतना और कर्मफल चेतनासे भिन्न अपने चैतन्यके परिणमन रूप ज्ञान चेतनाका अनुभव करते हैं। अर्थात कर्मचेतना और कर्मफल चेतनासे भिन्न अपनी ज्ञान चेतनाका स्वरूप आगम, अनुमान, स्वसंवेदन प्रमाणसे जानते और उसका श्रद्धान प्रतीति दृढ करते, सो यह तो अविरत, देशविरत, प्रमत्त अवस्थामें भी होता है। जब अप्रमत्त अवस्था होती है तब अपने स्वरूप का ही ध्यान करते हैं उस समय ज्ञान चेतनाका जैसा श्रद्धान किया हो उसीमें लीन हो जाते हैं और श्रेणी चढकर केवल ज्ञान उत्पन्न कर साक्षात ज्ञान चेतना रूप हो जाते हैं ऐसा जानना।

जहां शुद्ध ज्ञान है वहां चारित्र है–

सवैया इकतीसा—

जहां सुद्ध ज्ञानकी कला उदोत दीसैं तहां सुद्धता प्रवान शुद्ध चारितको अंश है
ता कारन ज्ञानी सब जानै ज्ञेय वस्तु मर्म वैराग विलास धर्म वाकौ सरवस है॥

राग दोस मोहकी दसासौं भिन्न रहै जातै सर्वथा त्रिकाल कर्म जालकौं विधुंस है
निरुपाधि आतम समाधिमैं विराजै तातैं कहिये प्रगट पूरन परम हंस है ॥३०॥

दोहा—ग्यायक भाव जहां तहां सुद्ध चरन की चाल।
तातैं ज्ञान विराग मिलि सिव साधै समकाल॥
ज्ञान जीवकी सजगता करम जीवकी भूल।
ग्यान मोख अंकूर है करम जगतको मूल॥

अतीत कर्मोंसे ममत्व छोड़ना प्रतिक्रमण है। आगामी न करनेकी प्रतिज्ञा करना सो प्रत्याख्यान है। वर्तमानमें उदयमें आये कर्मोंका ममत्व छोडना सो आलोचना है ऐसे चारित्रके विधानको गाथाओंमें कहते हैं— .

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥३८२॥
कम्मं जं सुहमसुहं जह्मि य भावह्मि बज्झइ भविस्सं।
तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया ॥३८३॥
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपदि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जं चेयइ सो खलु आलोयणं चेया ॥३८४॥
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं पडिक्कमदि यो य
णिच्च आलोचेयइ सोहु चरित्त हवइ चेया ॥३८५॥

छाया—कर्म यत्पूर्वकृतं शुभाशुभमनेकविस्तरविशेषम्।
तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणम् ॥३८२॥
कर्मयच्छुभमशुभं यस्मिंश्च भावे बध्यते भविष्यत्।
तस्मान्निवर्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता ॥३८३॥
यच्छुभमशुभमुदीर्णं संप्रति चानेकविस्तर विशेषम्।

तं दोषं यश्चेतयेत स खल्वालोचनं चेतयिता ॥ ३८४ ।
नित्य प्रत्याख्यान करोति नित्य प्रतिक्रामति यश्च ।
नित्यमालोचयति स खलु चरित्र भवति चेतयिता ॥ ३८५ ॥

अर्थ—पूर्वे अतीतकालमें किये जो शुभ अशुभ ज्ञानावरणादि अनेक प्रकार विस्तार विशेष रूप कर्म उससे जो चेतयिता-आत्मा अपने आत्माको निवर्त्तन करता अर्थात् छुडाता है वह आत्मा प्रतिक्रमण स्वरूप है। जो आगामी कालमें शुभ तथा अशुभ कर्म जिस भावके होने पर बंधते हैं उस अपने भावसे जो आत्मा निवृत्त होता है यह आत्मा प्रत्याख्यान स्वरूप है। जो वर्तमान कालमें शुभ तथा अशुभ कर्म अनेक प्रकार ज्ञानावरण आदि विस्तार रूप विशेषोंको लेकर उदय आया उस दोषको जो चेतयिता चेतरूप होकर चेतता (अनुभव करता) है उसका स्वामिपना कर्तापना छाडता सो आत्मा आलोचना स्वरूप है। इस प्रकार जो आत्मा नित्य प्रत्याख्यान करता है, नित्य प्रतिक्रमण करता है, नित्य आलोचना करता है वह चेतयिता चारित्र स्वरूप है।

भावार्थ—यहां निश्चय चारित्रकी प्रधानता से कथन किया गया है—चारित्र में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनाका विधान है लगे हुए दोषोंसे आत्माको अलग करना सो प्रतिक्रमण है। आगामी दोष लगानेका त्याग करना सो प्रत्याख्यान है। वर्तमान दोषस आत्माको अलग करना सो आलोचना है। निश्चय से विचारा जाय तब तीनों काल संबन्धी कर्मोंसे आत्मा को भिन्न जानना, श्रद्धान करना, अनुभवना, ऐसा करनेसे आत्माही प्रतिक्रमण है; आत्माही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही आलोचना है। तीनों स्वरूप निरंतर आत्माका अनुभवही चारित्र है। निश्चय चारित्र ही ज्ञानचेतनाका अनुभव है। इसही अनुभव

से साक्षात ज्ञान चेतना स्वरूप केवलज्ञानमय आत्मा प्रगट होता है

आगे ज्ञान चेतना और अज्ञान चेतना जो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना उनका स्वरूप प्रगट करनेको कलशरुप काव्य कहते हैं—

उपजाति छंद—

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।
अज्ञानसञ्चेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः॥३१

अर्थ—ज्ञानकी संचेतनासे ही ज्ञान निरंतर अत्यंत शुद्ध प्रकाशमान रहता है। अज्ञानकी चेतनासे कर्मोंका बन्ध होता है। वह दौडता हुवा ज्ञानकी शुद्धताको रोकता हैं, अर्थात् ज्ञानकी शुद्धता नहीं होने देता है। संचेतना जो जहां जिससे एकाग्र होकर उस ही का अनुभवन रूप स्वाद लिया करता है, उस स्वरूप चेतना संचेतना कहलाती है। जब ज्ञान ही से एकाग्र उपयुक्त हो उसी तरफ चेत राखै तब ज्ञान चेतना है। इससे तो ज्ञान अत्यत शुद्ध रूप प्रकाशमान होता है। जब केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब संपूर्ण ज्ञानज्ञानचेतना नाम पाता है। अज्ञान माने कर्म और कर्मके फल रूप उपयोग का करना, उसही ओर एकाग्र होकर अनुभव करना सो अज्ञान चेतना है। इससे कर्मका बन्ध होता है यह ज्ञानकी शुद्धताको रोकती है।

दोहा—ज्ञान चेतना के जगे प्रगटे केवलराम।
कर्म चेतना में बसैं कर्मबन्ध परिनाम॥३१॥

अब इस कथनको गाथाओंमें कहते हैं—

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणइ जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ३८६
वेदंतो कम्मफलं मए कयं मुणइ जोदु कम्मफलं सोतं.

वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा सोतं०

वेदयमानः कर्मफलमात्मानं करोति यस्तु कर्मफलम् ।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीज दुःखस्याष्टविधम् ॥३८६॥
वेदयमानः कर्मफलं मया कृतं जानाति यस्तु कर्मफलं। स तत्०
वेदयमानः कर्मफल सुखितो दुःखितश्च भवति यश्चेतयिता ।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधम् ॥३८८॥

अर्थ—ज्ञानसे भिन्न जो अन्यभाव उसमें ऐसा अनुभव करना कि 'यह मैं हू" सो अज्ञान चेतना है। यह अज्ञान चेतना दो प्रकारकी है (१) कर्मचेतना (२) कर्मफलचेतना । ज्ञान को छोडकर अन्य भावोंमें ऐसा अनुभव करना कि 'इसका मैं करता हूं' यह तो कर्मचेतना है। ज्ञान सिवाय अन्य भावोंमें ऐसा अनुभव करना कि 'इनको मैं वेदता हूं-भोगता हूं' सो कर्मफल चेतना है। ऐसें दो प्रकारकी अज्ञान चेतना है । यही ससारकी बीज है। क्योंकि संसारका बीज आठ प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्म हैं। उनका यह अज्ञान चेतना बीज है। इससे कर्म उत्पन्न होते हैं अर्थात् बन्धते हैं। इसलिये जो मोक्षके अभिलाषी पुरुष हैं वे अज्ञान चेतनाके नाश करनेकेलिये समस्त कर्मकी सन्यासभावना·पटक देनेकी भावनाको नृत्य कराकर फिर संपूर्ण कर्मोंके फलके त्यागकी भावनाको नचाकर अपने स्वभावभूत जो ज्ञानवती भगवती एक ज्ञान चेतना है उसीका नित्य नृत्य कराते हैं। सबसे पहिले संपूर्ण कर्मके त्यागकी भावना का नृत्य करानेको कलश रूप काव्य कहते हैं—

आर्याछन्द—

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषय मनोवचनकायैः ।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥३२॥

अर्थ—अतीत (भूत) अनागत [भविष्यत] वर्तमान काल संबधी संपूर्ण कर्मोंको कृत, कारित, अनुमोदना और मन, वचन, कायसे त्यागकर उत्कृष्ट निष्कर्म दशाका मैं अवलबन करता हू। इस प्रकार सब कर्मोंको त्याग करनेवाला ज्ञानी प्रतिज्ञा करता है।

सब कर्मोंके त्याग करनेके कृत, कारित, अनुमोदना वा मन वचन कायसे गुनचास [४९] भंग होते हैं। अतीत काल संबन्धी कर्मके त्याग करनेको प्रतिक्रमण कहते हैं। पहिले उसके गुणचास भेद कहे गये हैं— टीकामें संस्कृत पाठ ऐसा है— यदहमकार्षं यदचीकर यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञास मनसा वाचा कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ॥

अर्थ— प्रतिक्रमण करनेवाला ऐसा कहता है कि जो मैंने दुष्कृत किये, अतीत कालमें पापकर्म किये, अन्यको प्रेरणा कर कराये, अन्य करते हुएकी अनुमोदन की, भला माना मनसे वचन से कायसे सो मेरा पापकर्म मिथ्या होहु। विशेष जाननेके लिये आत्मख्यातिकी संस्कृत टीका वा जयचन्द्जीकी भाषा टीका देखनी चाहिये।

चौपाई—जब लग ग्यान चेतना न्यारी, तब लग जीव विकल ससारी
जब घट ग्यान चेतना जागी, तब समकिती सहज वैरागी ॥
सिद्ध समान रूप निज जानै, पर संजोग भाव परमानै ।
सुद्धातम अनुभव अभ्यासै, त्रिविध कर्म की ममता नासै ॥३१॥

दोहा ग्यानवंत अपनी कथा, कहै आप सौं आप।
मैं मिथ्यातदसा विषै, कीनै बहुविध पाप॥

हिरदै हमारे महामोहकी विकलताई तातैं हम करूना न कीनी
जीव घातकी ।
आप पाप कीनै औरनिकौं उपदेस दीनै
हूती अनुमोदना हमारे याही बातकी ॥

मन वच कायमैं मगन ह्वै कमाये कर्म
धाये भ्रम जालमैं कहाये हम पातकी।
ग्यानके उदय भए हमारी दसा एसी भई
जैसे भानु भासत अवस्था होत प्रातकी ॥

सब मिलकर गुणचास भगोंके होनेके कथनका कलश रूप काव्य कहते हैं—

आर्याछंद—

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥३३॥

अर्थ—मैंने मोहसे-अज्ञानसे अतीत कालमें जो कर्म किये हैं उन सबको प्रतिक्रमण रूप कर और समस्त कर्मोंसे रहित चैतन्य स्वरूप आत्मामें अपने आप निरन्तर वर्तता हू, ज्ञानी ऐसा अनुभव करे। अतीत कालमें किये हुए कर्मोंका गुणचास भंग रूप मिथ्याकार प्रतिक्रमणकर ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मामें लीन होकर निरतर अनुभव करे उसीका ये विधान है। मिथ्या कहनेका प्रयोजन यह है कि-जैसे किसीने पहिले धन कमाकर घरमें रक्खा था पीछे उससे ममत्व छोड दिया। फिर उसके भोगनेका उसका अभिप्राय नहीं है, कमाया न कमाया एकसा, उसी प्रकार कर्म बांधा था उसको अहित कर जान उससे ममत्व छोड दिया उसके फलमें लीन नहीं होता, तब बांधा न बांधा एकसा रहा, वह तो मिथ्या ही है। इस तरहका प्रतिक्रमण-कल्प है। अब आलोचना को कहते हैं। संस्कृत टीकाका पाठ ऐसा है कि 'न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्य समनुजानामि मनसा वचसा कायेन चेति' इसमें वर्तमान पनेका निषेध है कि मैं कर्मको न करता हूं, न दूसरे को प्रेरणा करके कराता हू, न दूसरे कर्ताको अच्छा मानता हू मनसे वचनसे कायसे। ऐसा

प्रथम भग है इसमें कृत, कारित, अनुमोदना पर मन वचन काय लगानेसे तीन तीन अककी समस्यासे तेतीसका भग कहा जाता है इनके गुणचास भग जाननेके लिये सस्कृत टीका देखनी चाहिये।

सवैया इकतीसा

ज्ञानभान भासत प्रवान ज्ञानवान कहै
करुनानिधान अमलान मेरौ रूप है।
कालसौं अतीत कर्मजालसौं अजीत,
जोग जालसौं अभीत जाकी महिमा अनूप है॥
मोहका विलास यह जगत कौ वास मैं तो,
जगतसौं सुन्य पाप पुन्य अंध कूप है।
पाप किन कियौ कौन करै करि है, सु कौन
क्रियाकौ विचार सुपने की दौर धूप है॥

दोहा—

मैं कीनौ मैं यौं करौं अब मेरौ यह काम।
मन वन काया मैं बसै ए मिथ्या परिनाम॥
मन वच काया करमफल करम दसा जड अंग।
दरवित पुग्गल पिंडमय भावित भरम तरग॥
जातैं आतम धरमसौं करम स्वभाव अपूठ।
कौन करावै को करै कोसल है सब झूठ॥२३॥

अब इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

आर्या छन्द—

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥३४॥

अर्थ—निश्चय चारित्रको अगीकार करने वाला कहता है कि मोहके विलाससे फले तथा उदयको प्राप्त होते हुए वर्तमान कर्म को आलोचनामें लेकर संपूर्ण कर्मोंसे रहित चैतन्य रूप आत्मामें

मैं अपने आप निरन्तर वर्तता हू । वर्तमान कालमें कर्मका जो उदय आता है उसको ज्ञानी ऐसा विचार करता है कि जो पूर्वमें बांधा है उसीका ये कार्य है, मेरा ये कार्य नहीं है, इस लिये मैं इसका नहीं हू, मैं तो शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा हू उसकी ज्ञान दर्शन रूप प्रवृत्ति है, उससे इस उदय रूप हुए कर्मका देखने जानने वाला हू, मैं तो अपने स्वभावमें ही वर्तता हू ऐसा अनुभव करना ही निश्चय चारित्र है । इस प्रकार आलोचनाकल्प समाप्त किया ।

दोहा— करणी हित हरनी सदा मुकति वितरनी नाहिं ।
गनी बध पद्धति विषैं सनी महादुख माहि ॥३४॥

आगे प्रत्याख्यानकल्प कहते हैं-संस्कृत टीकामें उसका ऐसा पाठ है—

न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा वचसा कायेन चेति ।

अर्थ—प्रत्याख्यान करने वाला ऐसा विचार करता है कि आगामी कालमें मैं कर्म को नहीं करूगा, दूसरेको प्रेरणा करके न कराऊगा, करते हुए दूसरेको देखकर अच्छा नहीं मानूगा मनसे, वचनसे और कायसे । ऐसा प्रथम भंग है । इसमें कृत, कारित, अनुमोदना इन तीनोंपर मन, वचन, काय ये तीनों लगानेसे तीन तीनमें तेतीसकी समस्याका भग हुआ । अन्य भगोंके जाननेके लिये संस्कृत टीका देखनी चाहिये । इसके भी गुणचास भंग होते हैं ।

करनीकी धरनीमैं महामोहराजा वसै
करनी अज्ञान भाव राकिसकी पुरि है ।
करनी करम काया पुग्गलकी प्रतिछाया
करनी प्रगट माया मिसरीकी छुरी है ॥

करनीके जालमैं उरझि रह्यौ चिदानंद
करनीकी वोट ग्यान भान दुति दुरी है।
आचारज कहैं करनीसौं विवहारी जीव
करनी सदैव निहचै सुरूप वुरी है ॥२४॥

अब इस अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं —

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्मणि नित्यमात्मनावर्ते॥३५॥

अर्थ--प्रत्याख्यान करने वाला ज्ञानी कहता हैं कि आगामी समस्त कर्मोंको मैं प्रत्याख्यान रूप त्याग कर नष्ट हुआ है मोह जिसका ऐसा होता हुआ कर्मसे रहित चैतन्य स्वरूप आत्मामें अपने आप वर्तता हू ।

भावार्थ—निश्चय चारित्रमें प्रत्याख्यानका विधान ऐसा है कि मैं समस्त आगामी कर्मसे रहित अपने शुद्ध चैतन्यकी प्रवृत्ति रूप शुद्धोपयोगमें वर्तता हूं । ज्ञानी आगामी समस्त कर्मोंका प्रत्याख्यान कर अपने चैतन्य स्वरूपमें वर्तता है यहां ऐसा जानना चाहिये कि व्यवहार चारित्रमें तो प्रतिज्ञामें जो दोष लगता है उसका प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान होता है। यहां प्रधानतासे निश्चय चारित्र का कथन है। सुद्धो-पय गसे विपरीत संपूर्ण कर्म आत्माके दापरूप हैं उन मवही कर्मचेतना स्वरूप परिणामका ज्ञानी तीन कालके कर्मका प्रतिक्र-मण, आलोचना, प्रत्याख्यानकर संपूर्ण कर्मचेतनासे भिन्न अपने शुद्धोपयोग रूप आत्माका ज्ञान श्रद्धानकर उसमें स्थिर होनेका विधानकर निष्प्रमाद दशाको प्राप्त होता है, श्रेणी चढकर केवल ज्ञान उत्पन्न करनेके संमुख होता है। यह ज्ञानीका कार्य है। इस प्रकार प्रत्याख्यान कल्पका वर्णन किया।

चौपाई–मृषा मोहकी परिनति फैली तातैं करम चेतना मैली।
ग्यान होत हम समझी ऐती जीव सदीव भिन्न परसेती ॥३५

आगे सकल कर्मके क्षेपणाकी भावनाका नृत्य कराकर कथन पूरन करनेका काव्य कहते हैं–

समस्तमित्येवमपास्यकर्म त्रैकालिक शुद्धनयावलम्बी।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे ॥३६॥

अर्थ—शुद्धनयका अवलवन करनेवाला कहता है कि इस प्रकार तीन काल सबंधी कर्मका निराकरण कर शुद्धनयका अवलबन करनेवाला ज्ञानी मैं हों सो विलय हुवा है मोह·मिथ्यात्व कर्म जिसका ऐसा होता हुवा अब संपूर्ण विकारोंसे रहित चैतन्य-मात्र आत्माका अवलम्बन करता हूं। अब सपूर्ण कर्मोंके फलके सन्यास (त्याग)की भावनाका नृत्य कराता हू ॥३६॥

दोहा–जीव अनादि स्वरूप मम करम रहित निरुपाधि।
अविनासी असरन सदा सुखमय सिद्ध समाधि ॥३६॥

सकल कर्मके सन्यासका टीकाका सस्कृत पाठ ऐसा है प्रथम समुच्चय अर्थका काव्य कहते हैं—

विगलतु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव।
सञ्चेतयेऽहमचल चैतन्यात्मानमात्मानम् ॥३७॥

अर्थ-संपूर्ण कर्मफलकी सन्यास भावना करनेवाला कहता है कि कर्म रूपी विषवृक्षके फल मेरे भोगे विना ही खिरजाओ, मैं अपने चैतन्य रूप आत्माका निश्चल अनुभव करता हू। ज्ञानी कहता है कि जो कर्मका फल उदयमें आता है उसको मैं ज्ञाता दृष्टा होता हुवा देखता हू, उसके फलका भोक्ता नहीं बनता हू, इसलिये मेरे भोगे विना ही कर्म खिर जाओ। मैं मेरे चैतन्य स्वरूप आत्मामें लीन हुवा उनका देखने जाननेवाला ही हूं।

चौ०—मैं त्रिकाल करनी सौं न्यारा चिद्‌विलास पद जग उजयारा।
राग विरोध मोह मम नाहीं, मेरो अवलंबन मुझ माहीं ॥३७॥

सवैया तेईसा—

सम्यकवंत कहै अपने गुन मैं नित राग विरोध सौं रीतौ।
मैं करतूति करूं निरवंछक मोहि विषै रस लागत तीतौ।
सुद्ध सुचेतनको अनुभौ करि मैं जग मोह महा भट जीतौ।
मोख समीप भयौ अब मो कहुं काल अनंत इही विध बीतौ ॥३७॥

इसी अर्थके कलश रूप काव्य कहते हैं—

वसंततिलका छद

निःशेषकर्मफलसन्यासनान्ममैवं सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता॥

अर्थ—संपूर्ण कर्मोंके फलका त्याग करने वाला और ज्ञान चेतनाकी भावना करनेवाला ज्ञानी कहता है कि—इस प्रकार संपूर्ण कर्मोंके फलका सन्यास करनेवाला मैं कैसा हूं? चैतन्य लक्षणवाले आत्मतत्वका अतिशयकर भोगनेवाला हूं इस सिवाय अन्य जो उपयोगकी तथा बाह्यक्रिया उसमें प्रवर्तनसे रहित वृत्तिवाला होकर अचल हू। मेरे यह कालकी आवली प्रवाह रूप अनन्त है, सो इसीको भोगनेमें जाओ। उपयोगकी प्रवृत्ति अन्य विषैं मत जाओ। ऐसी भावना करनेवाला ज्ञानी ऐसा तृप्त होता है कि भावना करते हुए मानों साक्षात केवली ही हो गया है। ऐसाही रहना अनत काल तक चाहता है, सो ठीकही है, ऐसी भावनासे ही केवली होते हैं। केवल ज्ञान उत्पन्न होनेका वास्तविक उपाय यही है। वाह्य व्यवहार चारित्र इसहीका साधक है, इस विना व्यवहार चारित्र शुभ कर्मका ही बंध करनेवाला है। मोक्षका उपाय नहीं है।

दोहा—कहै विचच्छन मैं रह्यौ सदा ज्ञान रस राचि।
सुद्धातम अनुभूति सौं खलित न होइ कदाचि ॥
पुव्वकरम विषतरु भयें उदै भोग फलफूल।
मैं इनको नहिं भोगता सहज होहु निरमूल ॥३८॥

यःपूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां
भुंक्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं
निःकर्म शर्ममयमेति दशान्तरं स ॥३९॥

अर्थ—जो पुरुष पहिले अज्ञानभावोंसे किये हुए कर्म रूपी विषवृक्षके उदयमें आये हुए फलको नहीं भोगते हैं निश्चयसे अपने आत्मस्वरूपमें ही तृप्त रहते हैं अन्य किसी प्रकारकी तृष्णा नहीं करते हैं वे पुरुष वर्तमान कालमें तो सुन्दर रमने योग्य और भविष्यतमें जिसका फल सुन्दर रमने योग्य है ऐसे कर्मोंसे रहित स्वाधीन सुखमई ऐसी दशा जो संसार अवस्था में पहिले कभी नहीं प्राप्त हुई ऐसी अन्य स्वरूप दशाको प्राप्त होते हैं।

इस ज्ञान चेतनाकी भावनाका यह फल है। इसकी भावनासे अत्यंत तृप्ति होती है, दूसरी तरहकी तृष्णा नहीं रहती है, और आगामी केवलज्ञान उत्पन्न कर सब कर्मोंसे रहित मोक्ष अवस्थाको प्राप्त होता है।

दोहा—जो पूरवकृत करम फल रुचि सौं भुंजै नांहि।
मगन रहै आठौं पहर सुद्धातम पद मांहि ॥
सो बुध करम दसा रहित पावैं मोख तुरत।
भुंजैं परम समाधि सुख आगमकाल अनत ॥३९॥

अब उपदेश करते हैं कि इस प्रकार कर्मचेतना और कर्म-

फल चेतनाके त्यागकी भावनासे अज्ञान चेतनाके अभावको प्रगट नचा कर ज्ञान चेतनाके स्वभावको पूर्णकर उसको नचाते हुए ज्ञानीजन सदाकाल आनद रूप रहते हैं। इस अर्थके कलश रूप काव्य कहते हैं—

स्रग्धराछंद—

अत्यत भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्ट नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसञ्चेतनायाः।
पूर्ण कृत्वा स्वभाव स्वरसपरिगत ज्ञानसञ्चेतनां स्वां।
सानंद नाटयित्वा प्रशमरसमितः सर्वकाल पिबन्तु ॥४०॥

अर्थ ज्ञानीजन कर्मसे और कर्मके फलसे अत्यंत विरक्त भावनाको निरंतर भाकर सपूर्ण अज्ञानचेतनाके नाशको स्पष्ट रूपसे नृत्य कराकर अपने निजरसमें प्राप्त किये स्वभाव रूप ज्ञानचेतनाको आनद सहित जैसे हो उस तरह पूर्ण कर, नृत्य कराते हुए यहांसे आगे प्रशम रस जो कर्मके अभाव रूप आत्मिक अमृत रस उसको सदाकाल पियो। ऐसो ज्ञानी जनोंको प्रेरणा है।

विशेष—पहिले तो तीन काल संबंधी कर्मका कर्तृत्व रूप कर्मचेतनाके गुणपचास भंगरूप त्यागकी भावना कराई। पीछे एकसौ अडतालीस कर्मप्रकृतियोंके उदय रूप कर्मके फलके त्यागकी भावना कराई, इस प्रकार अज्ञान चेतनाका नाश कराकर ज्ञानचेतनामें प्रवर्तनेका उपदेश दिया है। यह ज्ञानचेतना सदा आनंद रूप अपने हीस्वभावका रूप है उसको ज्ञानीजन सदा भोगो यह श्रीगुरुका उपदेश है।

छप्पयछंद—

जो पूरवकृतकरम विरखविषफल नहिं भुंजै।
जोग जुगति कारिज कर न ममता न प्रयुंजै।
राग विरोध निरोध सग विकलप सब छंडइ।

सुद्धातम अनुभौ अभ्यासि शिव नाटक मंडइ ।
जो ज्ञानवत इह मग चलत पूरन व्है केवल लहै ।
सो परम अतिंद्रिय सुख विषैं मगन रूप संतत रहैं ।४०।

अब अन्य द्रव्य और अन्य द्रव्योंके भावोंसे ज्ञानको भिन्न दिखलानेके लिये काव्य कहते हैं—

वंशस्थ वृत्त—

इत· पदार्थप्रथनावगुंठनाद्विनाकृतेरेकमनाकुले ज्वलत् ।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्विवेचित ज्ञानमिहात्रतिष्ठते॥४१॥

अर्थ—यहांसे आगे इस ज्ञानके अधिकारमें सब वस्तुओंसे भिन्न किया हुआ ज्ञान निश्चल ठहरता है । कैसा हुआ निश्चल ठहरता है ? पदार्थकी प्रथना- कहिये फैलनेके अव-गुंठन- ज्ञेय ज्ञान संबन्धसे एकसे दीखना उससे भई अनेक रूप कृति- कर्तृत्वभाव रूप क्रिया उस क्रियाके विना एक ज्ञान क्रिया मात्र सर्व आकुलतासे रहित दैदीप्यमान होता हुआ ठहरता है । और सब वस्तुओंसे भिन्न ज्ञानको प्रगट दिखाता है ।

निरभै निराकुल निगम वेद निरभेद जाके परगासमैं जगत माइयतु है ।
रूप रस गध फास पुदगल कौ विलास,
ता सौं उदवास जाकौ जस गाइयतु है ॥
विग्रह सौं विरत परिग्रह सौं न्यारौ सदा,
जामैं जोग निग्रह चिहन पाइयतु है ।
सौ है ज्ञान परवांन चेतन निधान ताहि,
अविनासी ईश जानि सीस नाइयतु है ॥४१॥

इसी बातको गाथाओंमें कहते हैं—

सत्थं णाणं ण हवइ जम्हा सत्थं ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥३८९॥
सद्दो णाणं ण हवइ जम्हा सद्दो, ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दो जिणा विंति ॥३९०॥
रूवं णाणं ण हवइ जम्हा रूवं ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ॥३९१॥
वण्णो णाणं ण हवइ जम्हा वण्णो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ॥३९२॥
गंधो णाणं ण हवइ जम्हा गंधो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ॥३९३॥
ण रसो दु हवइ णाणं जम्हा दु रसो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं रस य अण्णं जिणा विंति ॥३९४॥
फासो ण हवइ णाण जह्मा फासो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ॥३९५॥
कम्म णाणं ण हवइ जह्मा कम्मँ ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्ण णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥३९६॥
धम्मो णाण ण हवइ जह्मा धम्मो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्ण णाण अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥३९७॥
णाणमधम्मो ण हवइ जह्मा धम्मो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्ण णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति ॥३९८॥

कालो णाणं ण हवइ जम्हा कालो ण याणए किंचि
तम्हा अण्ण णाणं अण्ण कालं जिणा विंति ॥३०९॥
आयासं पि ण णाणं जम्हाऽऽयासं ण याणए किंचि ।
तम्हाऽऽयासं अण्ण अण्ण णाणं जिणा विंति ॥४००॥
ण अज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाण तहा अण्णं ४०१॥
जह्मा जाणइ णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणऊ णाणी ।
णाणं ण जाणयादो अव्वदिरित्त मुणेयव्वम् ॥४०२॥
णाण सम्मादिट्ठं तु सजम सुत्तमगपुव्वगय ।
धम्माधम्म त्र तहा पव्वज्ज अब्भुवंति बुहा ॥४०३॥

छाया–शास्त्रं ज्ञान न भवति यस्माच्छास्त्र न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यच्छास्त्र जिना विन्दन्ति ॥३८९॥
शब्दो ज्ञान न भवति यस्माच्छब्दो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं शब्दं जिना विन्दन्ति ॥३९०॥
रूप ज्ञान न भवति यस्माद्रूप न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यद्रूपम् जिना विन्दन्ति ॥३९१॥
वर्णो ज्ञान न भवति यस्माद्वर्णो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्य वर्णं जिना विन्दन्ति ॥३९२॥
गंधो ज्ञान न भवति यस्माद्गंधो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यम् गंधं जिना विन्दन्ति ॥३९३॥
न रसस्तु भवति ज्ञानं यस्मात्तु रसो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानम् रस चान्य जिना विन्दंति ॥३९४॥
स्पर्शो न भवति ज्ञानम् यस्मात्स्पर्शो न जानाति किंचित् ।

तस्मादन्यज्ज्ञानमन्य स्पर्श जिना विन्दन्ति ॥३९५॥
कर्म ज्ञानं न भवति यस्मात्कर्म न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यत्कर्म जिना विन्दन्ति ॥३९६॥
धर्म्मो ज्ञानम् न भवति यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित्,
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यम् धर्मं जिना विन्दन्ति ॥३९७॥
ज्ञानमधर्मो न भवति यस्मादधर्मो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यमधर्मं जिना विन्दन्ति ॥३९८॥
कालो ज्ञानम् न भवति यस्मात्कालो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यम् कालम् जिना विन्दन्ति ॥३९९॥
आकाशमपि न ज्ञान यस्मादाकाशम् न जानाति किंचित् ।
तस्मादाकाशमन्यदन्यज्ज्ञानम् जिना विन्दन्ति ॥४००॥
नाध्यवसानम् ज्ञानमध्यवसानमचेतनम् यस्मात् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमध्यवसानम् तथान्यत् ॥४०१॥
यस्माज्जानाति नित्यम् तस्माज्जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी ।
ज्ञानं च ज्ञायकादव्यतिरिक्तम् ज्ञातव्यम् ॥४०२॥
ज्ञान सम्यग्दृष्टिं संयमं सूत्रमंगपूर्वगतम् ।
धर्माधर्मं च तथा प्रव्रज्यामभ्युपयान्ति बुधाः ॥४०३॥

अर्थ—शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र (खुद) कुछ नहीं जानता है, जड है। इसलिए शास्त्र अलग है और ज्ञान अलग है। ऐसा भगवान जिनेन्द्र जानते हैं कहते हैं। शब्द भी ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ जानता नहीं है इसलिए ज्ञान भिन्न है शब्द भिन्न है ऐसा जिनदेवने कहा है। रूप ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप भी कुछ जानता नहीं है। इसलिए रूप भिन्न है, ज्ञान भिन्न है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। वर्ण भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि वर्ण भी कुछ जानता नहीं है इसलिए ज्ञान भिन्न है, वर्ण भिन्न है ऐसा भगवान जिनदेव जानते हैं। गंध भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि

गध कुछ जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अन्य है गन्ध अन्य है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। रस भी ज्ञान नही है क्योंकि रस भी कुछ जानता नहीं है। इसलिए ज्ञान भिन्न है रस भिन्न है ऐसा जिनें भगवान कहते हैं। स्पर्श भी ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श कुछ जानता नही है। इसलिए ज्ञान भिन्न है स्पर्श भिन्न है, ऐसा जिनेन्द्र देव कहते हैं। कर्म है सो भी ज्ञान नही है क्योंकि कर्म भी कुछ जानता नहीं है। इसलिए कर्म भिन्न है ज्ञान भिन्न है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। धर्मद्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्मद्रव्य भी कुछ जानता नहीं है अतएव ज्ञान अलग है धर्म द्रव्य अलग वस्तु है ऐसा जिनेन्द्र देव कहते हैं। अधर्मद्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्मद्रव्य भी कुछ जानता नहीं है इसलिए ज्ञान अलग है अधर्मद्रव्य अलग है ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव कहते हैं। आकाश द्रव्य भी ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश द्रव्य भी कुछ जानता तहीं है इसलिए ज्ञान अलग है और आकाश अलग है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। कालद्रव्य भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि वह भी कुछ जानता नहीं है इसलिए कालद्रव्य अलग है, ज्ञान अलग चीज है ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव कहते हैं। अध्यवसान है सो भी ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवसान कुछ जानता नहीं है, अचेतन है इसलिए ज्ञान अन्य है अध्यवसान अन्य है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं जीव है सो ज्ञायक है वही ज्ञान है क्योंकि यह निरंतर जानता है। ज्ञान ज्ञायक से अभिन्न है अलग नही है। ऐसा जानना चाहिये। ज्ञानही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही सयम है। ज्ञानही पूर्वगत सूत्र है धर्म अधर्म भी ज्ञान ही है। प्रव्रज्या–दीक्षाभी ज्ञान ही है।

ज्ञानी जन ऐसाही स्वीकार करते हैं। मतलब ये है कि सर्व परद्रव्योंसे भिन्न अपनी पर्यायोंसे अभेद ऐसा ज्ञान एक दिख·

लाया हैं। देखना तीन तरहका माना है—एक तो शुद्धनयका ज्ञान कर के उसका श्रद्धान करना, यह तो अविरत आदि अवस्थामें भी मिथ्यात्वके अभावसे होता है। दूसरा ज्ञान श्रद्धान होने के बाद बाह्य संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग कर उसका अभ्यास करना, उपयोगको ज्ञानहीमें थामना, जैसे शुद्धनयसे अपने स्वरूपको सिद्ध समान जाना वा श्रद्धान किया, वैसाही ध्यानमें लेकर एकाग्र चित्तको ठहराना, बार २ इसीका अभ्यास करना, ऐसा देखना अप्रमत्त दशामें होता है, सो जहांतक ऐसे अभ्याससे केवल ज्ञान उपजै वहांतक ऐसा अभ्यास निरंतर रहता है। यह देखनेका दूसरा प्रकार है। यहां तक तो पूर्ण ज्ञानका शुद्धनयके आश्रयसे परोक्ष देखना है। तीसरा ऐसा है कि केवल ज्ञान उत्पन्न होनेपर साक्षात देखना होता है। उस समय सब विभावोंसे रहित सब का देखने जाननेवाला ज्ञान होजाता है सो यह पूर्ण ज्ञानका प्रत्यक्ष देखना हैं। जो ज्ञान है सोही आत्मा है। अभेद विवक्षामें ज्ञान कहो या आत्मा कहो कोई विरोध नहीं है। इसी अर्थके कलश रूप काव्य कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छंद

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथाऽवस्थितम्।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुर-
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥४२॥

अर्थ—यह ज्ञान ऐसा अवस्थित हुआ है जिससे इस की महिमा निरंतर उदय रूप रहे, उसका प्रतिपक्षी कोई कर्म न रहे। कैसा अवस्थित हुवा है? । अन्येभ्यो व्यतिरिक्तं--परद्रव्योंसे न्यारा ही अवस्थित हुवा है। फिर कैसा है?। आत्मनियतं-अपने आपमें ही निश्चित है। फिर कैसा है? पृथक् वस्तुतां बिभ्रत्-अलग

ही वस्तुपनाको धारण कर रहा है, वस्तुका स्वरूप तो सामान्यविशेषात्मक है इसलिये ज्ञानभी सामान्यविशेष रूपका धारण करनेवाला है। फिर कैसा है? आदानोज्झनशून्य-ग्रहण और त्यागसे रहित है-ज्ञानमें कुछभी ग्रहण और त्याग नहीं है। फिर कैसा है? अमलम्-कोई प्रकारके विकारसे रहित है-जिसमें किसी प्रकारके रागादि मल नहीं हैं। इस ज्ञानकी महिमा नित्य उदय रूप रहती है, सो कैसा है? मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः-मध्य, आदि, अन्त ऐसे विभागोंसे रहित स्वाभाविक फैले हुए प्रकाशसे देदीप्यमान है। फिर कैसा है? शुद्धज्ञानघनः-शुद्धज्ञानका समूह ऐसी जिस ज्ञानकी महिमा सदा उदयको प्राप्त है वह ज्ञान सदा अवस्थित है।-ज्ञानका पूर्ण रूप तो सबका जानना है, जब वह प्रगट होता हैं तब ऊपरके विशेषणोंसहित प्रगट होता है, उसकी महिमाको कोई बिगाड़ नहीं-सकता, सदा उदयमान रहता है।

जैसौ निरभेदरूप निहचै अतीत हुतौ तैसौ निरभेद अब भेद कौन कहैगौ।
दीसै कर्म रहित सहित सुख समाधान पायौ निजथान फिर बाहरि न बहैगौ।
कबहूं कदाचि अपनौ सुभाव त्यागि करि राग रस राचिकैं न परवस्तु गहैगौ।
अमलान ज्ञान विद्यमान परगट भयौ याहि भांति आगम अनंतकाल रहैगौ॥४२

अब कहते हैं कि ऐसे ज्ञानस्वरूपका धारण करनाही कृतकृत्यपना है

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत्।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह॥४३॥

अर्थ—समेट ली है सर्व शक्ति जिसने ऐसे पूर्णस्वरूप आत्माका आत्माही में धारण करना ही छोडने लायक छोडना और ग्रहण करने लायक ग्रहण करना है, यही कृतकृत्यपना है॥

जब ही तैं चेतन विभावसौं उलटि आपु

समै पाइ अपनौ स्वभाव गहि लीनौ है।
तबही तैं जो जो लैने जोग सो सो सब लीनौ
जो जो त्याग जोग सो सो सब छांडि दीनौ है॥
लैवेकौं न रही ठौर त्यागवेकौं नाहीं और
बाकी कहा उबर्यो जु कारज नवीनौ है।
संग त्यागि अंगत्यागि वचन तरग त्यागि
मन त्यागि बुद्धि त्यागि आपा शुद्धकीनौ है॥४३॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानके देह नहीं होती है—

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेव ज्ञानमवस्थितं
कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोस्य शंक्यते॥४४॥

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकार परद्रव्यसे भिन्न ज्ञान अवस्थित होता हुआ ठहरा है। ऐसा ज्ञान आहारक—कर्मनोकर्म रूप आहार करने वाला कैसे हो सकता है? जब आहारक नहीं तब इसके देह की शंका कैसे की जा सकती है? नहीं की जा सकती।

दोहा—सुद्ध ग्यानकैं देह नहिं मुद्रा भेष न कोय।
तातैं कारन मोखकौ दरव लिंग नहि होय॥४४॥

इसी अर्थको गाथाओंमें कहते हैं—

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारऊ हवइ एवं
आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पुग्गलमऊ उ ४०४
ण वि सक्कइ घित्तुं जं ण विमोत्तुं जं य जं परद्दव्वं
सो को वि य तस्स गुणो पाउ गिऊ विस्ससो वा वि ४०४
तम्हा उ सो विसुद्धो चेया सो णेव गिण्हए किंचि।
णेव विमुंचइ किंचि वि जीवाजीवाण दव्वाणं ४०५

आत्मा यस्यामूर्तो न खलु स आहारको भवत्येवम्।

आहारः खलु मूर्तो यस्मात्स पुद्गलमयस्तु ॥४०४॥
नापि शक्यते ग्रहीतुं विमोक्तुं यच्च यत्परद्रव्यम् ।
स कोऽपि च तस्य गुणः प्रायोगिको वैस्रसो वाऽपि ॥४०५
तस्मात्तु यो विशुद्धश्चेतयिता स नैव गृह्णाति किञ्चित्
नैव विमुंचतिकिञ्चदपि जीवाजीवयोर्द्रव्ययोः ॥४०६॥

अर्थ—इस प्रकार जिसका आत्मा अमूर्तीक है वह निश्चयसे आहारक नहीं हो सकता। क्योंकि आहार तो मूर्तीक है। पुद्गल मय है। जो परद्रव्य है वह भी ग्रहण नहीं किया जा सकता और न छोडा ही जा सकता है। आत्माका कोई ऐसा ही गुण है, जो प्रायोगिक है तथा वैस्रसिक है। इसलिये जो विशुद्ध चेतयिता—आत्मा है वह कुछ भी जीव अजीव रूप परद्रव्यको ग्रहण नहीं करता है। और न पर द्रव्यको छोडता ही है, इसलिये॥ आत्माका पुद्गलमय देहस्वरूप लिंग—भेष-वाह्यचिन्ह मोक्षका कारण नहीं है।

इसी अर्थका सूचनिका रूप काव्य कहते हैं—

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिंगं मोक्षकारणम् ॥४५॥

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकार शुद्ध ज्ञानकै देह ही नहीं है इसलिये ज्ञातार्कें देहमय लिंग है, चिन्ह है, भेष है सो मोक्षका कारण नहीं है।

दोहा—द्रव्यलिंग न्यारो प्रगट वचन कला विज्ञान
अष्ट महारिधि अष्ट सिधि एऊ होंहि न ज्ञान ॥४५॥

भेषमें न ज्ञान नहिं ज्ञान गुरु वर्तनमें,
जंत्र मंत्र तंत्रमें न ज्ञानकी कहानी है।
ग्रंथमैं न ज्ञान नहि ज्ञान कवि चातुरीमैं,
वातनिमैं ज्ञान नहि ज्ञान कहा वानी है।
तातैं भेष गुरुता कवित्त ग्रंथ मंत्र वात,

इनतैं अतीत ज्ञान चेतना निसानी है।
ज्ञान ही में ग्यान नहि ज्ञान और ठौर कहूं,
जाके घट ज्ञान सोई ग्यानकी निदानी है॥

इसी अर्थको गाथाओंमें बतलाते हैं—

पाखंडिलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व वहुप्प याराणि
घित्तुं वदंति मूढा लिंग मिणं मोक्खमग्गोत्ति ४०७
ण दु होइ मोक्खमग्गो लिंगं जं णिम्ममा आरिहा
लिंगं मुंचित्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति ॥४०८॥

पाखण्डिलिंगानि वा गृहिलिंगानि वा बहुप्रकाराणि
गृहीत्वा वदन्ति मूढा लिंगमिदं मोक्षमार्ग इति ॥४०७॥
न तु भवति मोक्षमार्गो लिंग यद्देहानिर्ममा अर्हन्तः।
लिंग मुक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते॥४०८॥

अर्थ—पाखंडिलिंग गृहिलिंग इस प्रकार वहुतसे बाह्यलिंग हैं उनको ग्रहणकर मूढ अज्ञानीजन ऐसा कहते हैं कि लिंग ही मोक्ष का मार्ग है। आचार्य कहते हैं—लिंग मोक्षका मार्ग नहीं है क्योंकि अर्हतदेव देह में निर्ममत्व होते हुए लिंगको छोडकर सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र की सेवा करते हैं। भाव ये है कि यदि देहमय द्रव्य लिंग ही मोक्षका कारण होता तो अरहंतादिक देहका ममत्व छोडकर सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रकी क्यों सेवा करते ? द्रव्यलिंग से ही मोक्ष प्राप्त कर लेते। इसलिये ऐसा निश्चय करना चाहिये कि देहमय लिंग मोक्षमार्ग नहीं है।

फिर कहते हैं—

ण वि एस मोक्खमग्गो पाखंडिगिहिमयाणि लिंगाणि
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ४०९

नाप्येष मोक्षमार्गः पाखंडिगृहिमयानि लिंगानि ।
दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गं जिना विन्दन्ति ॥४०९॥

अर्थ— पाखंडिलिंग और गृहिलिंग ये मोक्षमार्ग नहीं हैं । दर्शन ज्ञान चारित्र ही मोक्षमार्ग हैं । ऐसा जिनेंद्र देवने कहा है । भाव ये है कि मोक्ष तो सब कर्मोंका अभाव रूप आत्माका परिणाम है । इस लिए मोक्ष भी आत्माका परिणाम ही होना चाहिए । सम्यग्दर्शनादि तो आत्माके ही परिणाम हैं, अतएव वे ही मोक्षके मार्ग हैं । आत्माके साथ रहने वाला देह मोक्षका कारण नहीं हो सकता । परमार्थसे विचार किया जाय तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी नहीं करता है ।

तह्मा जहित्तु लिंग सागार अणगारएहिं वा गहिए।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥४१०॥

तस्मात्तु जहित्वा लिङ्गानि सागारैरनगारैर्वा गृहानि ।
दर्शनज्ञानचारित्रे आत्मान युंक्ष्व मोक्षपथे ॥४१०॥

अर्थ— क्योंकि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है इस लिये गृहस्थ और मुनिके लिंगको छोडकर अपने आत्माको दर्शन ज्ञान चारित्ररूप मोक्षमार्गमें युक्त करो ।

भावार्थ—यहां द्रव्य लिंगको छुडाकर दर्शन ज्ञान चारित्रमें लगानेका वचन है सो यह सामान्य परमार्थ वचन है । कोई ये समझे कि मुनि श्रावकके व्रत छुडानेका उपदेश है सो नहीं है । जो कोई केवल द्रव्यलिंग ही को मोक्षमार्ग जानकर भेष धारण करते हैं उनकी पक्ष छुडाई है कि भेपमात्रसे मोक्ष नहीं मिलता । परमार्थभूत मोक्षमार्ग आत्माके परिणाम दर्शन ज्ञान चारित्र ही हैं। आचारसूत्रमें जो व्यवहार कहा है उसके अनुसार मुनिऔर श्रावकके बाह्यव्रत हैं वे व्यवहारसे निश्चयमोक्षमार्गके साधक हैं। उनको

छुडाते नहीं हैं। ऐसा कहते हैं कि निमित्तका भी ममत्व छोडकर परमार्थ रूप मोक्षमार्ग में लगने से मोक्ष होता है, केवल भेषमात्र से मोक्ष नहीं होता है। इसी अर्थको दृढ करनेके लिये कलश रूप काव्य कहते हैं—

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्म तत्त्वमात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥४६॥

अर्थ—क्योंकि आत्माका तत्व कहिये यथार्थ रूप दर्शन ज्ञान चारित्रका त्रिकस्वरूप है इसलिये मोक्ष के इच्छुक पुरुषके द्वारा एक ही यह मोक्षमार्ग सदा सेवन करने योग्य है ॥ ४६ ॥

दोहा — जो दयालता भाव सो प्रगट ज्ञानको अंग।
पै तथापि अनुभव दसा वरतै विगत तरंग ॥
दरसन ज्ञान चरन दसा करै एक जा कोय।
थिर ह्वै साधै मोखमग सुधी अनुभवी सोय ॥ ४६ ॥

यह ही उपदेश गाथा द्वारा देते हैं—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहिं तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु॥४११॥

मोक्षपथे आत्मानं स्थापय तं चैव ध्यायस्व तं चेतयस्व।
तत्रैव विहर नित्य मा विहार्षीरन्यद्रव्येषु ॥ ४११ ॥

अर्थ—हे भव्य तू अपने आत्माको मोक्षमार्गमें स्थापन कर, उसीका ध्यान कर, उसीका अनुभव कर, उस आत्मामें ही निरतर विहार कर, अन्य द्रव्योंमें मत विहार कर। परमार्थ रूप आत्मा का परिणाम दर्शन ज्ञान चारित्र हैं वे ही मोक्षमार्ग हैं उन्हींमें आत्माको स्थाप, उनहीका ध्यान कर, उनहीका अनुभव कर, उन्हींमें अपनी प्रवृत्ति कर। अन्य द्रव्योंमें नहीं प्रवर्तना यह ही पारमार्थिक उपदेश है। केवल व्यवहारमें मूढ न रहना चाहिये।

इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकः ।
तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिश ध्यायेच्च त चेतसि ॥
तस्मिन्नेव निरतर विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन् ।
सोऽवश्य समयस्य सारमचिरान्नित्योदय विन्दति ॥४७॥

अर्थ—दर्शन ज्ञान चारित्र रूप यह एक मोक्षमार्ग है। जो पुरूष उसही में स्थिर होते है, उसहीका निरंतर ध्यान करते हैं, उसहीका अनुभव करते हैं और अन्य द्रव्योंको नहीं स्पर्श करते हुए निरतर उसीमें विहार करते हैं वह पुरूष थोडेही काल में समयसार जो शुद्ध आत्माका रूप जिसका नित्य ही उदय रहता है उसीका अनुभव करते हैं अर्थात् उसको पालेते हैं। निश्चय मोक्षमार्गके सेवनसे थोडेही कालमें मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है यह नियम है।

सवैया इकतीसा—

जाइ दृग्ज्ञान चरनातम मैं वैठि ठोर,
भयो निरदौर पर वस्तुकों न परसै ।
सुद्धता विचारै ध्यावै सुद्धता मैं केलि करै,
सुद्धतामैं थिर है अमृतधारा वरसै ॥
त्यागि तन कष्ट हैं सपष्ट अष्ट करमको,
करि थान भ्रष्ट नष्ट करै अरु करसै ।
सो तौ विकलप विजई अलपकाल मांहि,
त्यागि भौ विधान निरवान पर परसै ॥ ४७ ॥

चौ०— गुन परजै मैं दृष्टि न दीजै
निरविकलप अनुभौ रस पीजै ।
आप समाइ आप मैं लीजैं
तनुपौ मेहि अपनुयौ कीजै ॥

आगे कहते हैं कि द्रव्यलिंग ही को मोक्षमार्ग मान कर उसमें ममत्व भाव रखने वाले मोक्ष नहीं पाते हैं—

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितनात्मना ।
लिङ्गे द्रव्यमये वहंति ममतां तत्त्वाववोधच्युताः ।
नित्योद्योतमखंडमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा—
प्राग्भार समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यंति ते ॥४८॥

अर्थ—जो पुरुष इस पूर्वोक्त परमार्थस्वरूप मोक्षमार्गको छोडकर व्यवहार मार्गमें स्थापन किये हुए अपने आत्मासे द्रव्यमय जो यह बाह्यभेष उसमें ममत्व करते हैं, ऐसा जानते हैं कि येही हमको मोक्ष प्राप्त करा देगा। वे पुरुष तत्त्वके यथार्थ ज्ञानसे रहित होते हुए 'मुनिपद लिया है' तो भी नित्य है उदय जिसका कोई भी प्रतिपक्षी जिसके उदयका विच्छेदन कर सके, अखंड-जिसका अन्य ज्ञेय आदिके द्वारा खडन हो सके, एक—पर्यायोंके द्वारा अनेक अवस्था होनेपर भी जो अपने एकपनेको नहीं छोडता है, अतुला लोक-जिसकी बरावरी दूसरा न कर सके ऐसा है प्रकाश जिसका सूर्यादिकके प्रकाशकी ज्ञानके प्रकाशको उपमा नहीं हो सकती। अपने स्वभावकी प्रभाके प्राग्भारको धारण करने वाला-जिसके भार को काई दूसरा सम्भाल न सके। अमल—रागादि विकारी मल से रहित ऐसे समयसार शुद्ध परमात्माके स्वरूपको वे स्पर्श नहीं करते हैं।

सवैया इकतोसा

केई मिथ्यादृष्टि जीव धरैं जिनमुद्रा भेष
क्रियामैं मगन रहैं कहैं हम जती हैं।
अतुल अखंड मल रहित सदा उदोत
ऐसे ज्ञानभानसौं विमुख मूढमती हैं।
आगम सम्हालैं दोष टालैं विवहार भालैं
पालैं व्रत जदपि तथापि अविरति हैं।
आपुकों कहावैं मोखमारगके अधिकारी

मोखसौं सदीव रुष्ट दुष्ट दुरमती हैं ॥४८॥

इसी अर्थकी गाथा कहते हैं—

पाखंडिलिंगेसु वं गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तं तेहि ण णाय समयसारम् ॥४१३॥

पाखंडिलिंगेषु वा गृहिलिंगेषु वा बहुप्रकारेषु
कुर्वंति ये ममत्व तैर्न ज्ञातः समयसारः ॥४१२॥

अर्थ—जो पुरुष बहुत प्रकारके पाखडि लिंगोंमें वा गृही लिंगोंमें ममता करते हैं कि हमें तो ये ही मोक्षके देनेवाले हैं जानना चाहिये कि उन पुरुषोंने समयसारको जानाही नहीं है।

विशेषार्थ—जो अनादि कालके परद्रव्यके संयोगसे हुए व्यवहारमें मोही हैं वे ऐसा समझते हैं कि ये बाह्य महाव्रतादि रूप भेष ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा किन्तु भेदज्ञान जिससे होता है एस निश्चयनयको जो जानते नहीं, उनको सत्यार्थ- परमार्थ रूप समयसारकी प्राप्ति नहीं होती है। इसी अर्थका कलश रूप काव्य कहते हैं—

वियोगिनीछंद

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तन्दुलम् ॥४८॥

अर्थ—जो जन व्यवहारमें ही मोह करनेवाली है बुद्धि जिनकी ऐसे हैं वे परमार्थको जानते ही नहीं हैं। जैसे लोकमें जो पुरुष तुषही के ज्ञानमें विमूढ बुद्धि हैं वे तुषहीको तन्दुल समझते हैं, तंदुलको तंदुल नहीं जानते हैं।

मतलब ये है कि जो परमार्थसे आत्माके स्वरूपको नहीं जानते, व्यवहारही में मूढ हो रहे हैं शरीरादि परद्रव्यको ही

आत्मा जानते हैं, वे परमार्थ (सच्चे) आत्माको नहीं जानते हैं। जैसे कोई मनुष्य तुष तंडुलका भेद तो जानते नहीं और पराल (पोची धान) को ही धान मानकर कूटते हैं उनको तंडुल (चांवल) की प्राप्ति नहीं हो सकती वे तुष तुडुलका भेद जानने पर ही तडुल पा सकते हैं।

चौं. जैसे मुगध धान पहिचानै तुष तंदुलको भेद न जानै।
तैसै मूढमती विवहारी लखे न बध मोख मगि न्यारी ॥४९॥

दोहा-जे विवहारी मूढनर परजै बुद्धि जीव।
तिनकौ वाहिज क्रिया विषैं है अवलत्र सदीव॥
कुमती वाहिज दृष्टिसौं वाहिज क्रिया करत।
मानैं मोख परपरा मनमैं हरष धरत।
सुद्धातम अनुभौ कथा कहै समकिती कोय।
सो सुनकैं तासौं कहै यह सिवपंथ न होय॥

इस ही अर्थके दृढ करनेको कहते हैं—

स्वागताछन्द—

द्रव्यलिंगममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिंगमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः॥५०॥

अर्थ—द्रव्यलिंगके ममकारसे मिच गई हैं आंखें जिनकी ऐसे अंधे व्यक्ति समयसारको देखते ही नहीं हैं। क्योंकि इस लोकमें द्रव्यलिंग तो अन्य द्रव्यसे होता है और ज्ञान अपने आत्मद्रव्यसे ही होता है।

कवित्त—जिनकें देह बुद्धि घट अंतर मुनि मुद्रा धरि क्रिया प्रवानहिं।
ते हिय अंध बंध के करता परम तत्त को भेद न जानहिं॥
जिनके हिए सुमतिकी कनिका वाहिज क्रिया भेष परवानहिं।
ते समकिती मोख मारग मुखकर प्रस्थान भवास्थिति भानहिं॥५०॥

आगे कहते हैं कि व्यवहारनय तो मुनि श्रावक इन दोनों

लिंगोंको मोक्षमार्ग कहता है परंतु निश्चयनय किसीको भी मोक्षमार्ग नहीं कहता है—गाथा

ववहारिऊ पुणनऊ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे
णिच्चयणऊ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ४१३

छाया—व्यावहारिकः पुनर्नयो द्वे अपि लिंगे भणति मोक्षपथे।
निश्चयनयो नेच्छति मोक्षपथे सर्वलिंगानि ॥४१३॥

अर्थ—व्यवहार नय तो मुनि श्रावकके भेदसे दो प्रकारके लिंग को मोक्षमार्ग कहता है परंतु निश्चयनय किसी भी लिंगको मोक्षमार्गमें इष्ट नहीं मानता है।

तात्पर्य-व्यवहारनयका विषयभेदरूप है सो तो अशुद्ध द्रव्यको विषय करता है,वह यथार्थ नहीं है। निश्चयनयका विषय अभेदरूपहै,वही परमार्थ है। जा व्यवहार ही को निश्चय मानकर प्रवृत्ति करते हैं, उनको समयसारकी प्राप्ति नहीं होती है। और जो परमार्थको परमार्थ जानते हैं, उनको समयसारकी प्राप्ति होती है, वही मोक्ष पाते हैं ॥४१३॥

आगे कहते हैं बहुत कहनेसे क्या एक परमार्थका ही चिन्तवन करना—

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चेतसां नित्यमेकः।
स्वरसविरसपूर्णज्ञानविस्फूर्तिम त्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥५१॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि बहुत कहनेसे और बहुत विकल्पोंके करने से ही पूर पडो, इस अध्यात्म ग्रंथमें एक परमार्थ ही का निरंतर अनुभव करना, क्योंकि निश्चयसे अपने रसके फैलावसे पूर्ण जो ज्ञान उसके स्फुरायमान होने पर समयसार-परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ भी सार नही दीखता है।

आचारज कहैं जिन धरमकौ विस्तार
अगम अपार है कहेंगे हम कितनो।
बहुत बोलिये सौ न मकसूद चुप भलौ
बोलिये सुवचन प्रयोजन है जितनौ।
नाना रूप जलपसौं नाना विकलप उठैं
तातैं जैतो कारज कथन भलो तितनो।
शुद्ध परमातमाको अनुभौ अभ्यास कीजै
यहै मोखपंथ परमारथ है इतनौ ॥५१॥

अब इस समयसारको पूर्ण करनेके लिए काव्य कहते हैं—

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्।
विज्ञानघनमानदमयमध्यक्षतां नयेत् ॥५२॥

अर्थ— आनन्दमय विज्ञानघन जो शुद्ध आत्मा उसको प्रत्यक्ष प्राप्त कराता हुआ, तथा जिसका कभी नाश न हो ऐसा जगतका अद्वितीय नेत्रसमान यह समयप्राभृत नामका ग्रंथ, वह पूर्णताको प्राप्त होता है।

भाव ये है कि यह समयप्राभृत ग्रंथ वचनरूप तथा ज्ञान रूप दोनों प्रकारसे नेत्रसमान है। जैसे नेत्र घटपटादिको प्रत्यक्ष दिखाते हैं उसी तरह यह शुद्ध ग्रंथ आत्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष अनुभव गोचर कराता है ॥५२॥

सुद्धातम अनुभव क्रिया शुद्धज्ञान दृग दौर।
मुकति पंथ साधन यहै वागजल सब और॥
जगतचक्षु आनन्द मय ग्यान चेतनाभास।
निरविकलपसासुत सुथिर कीजै अनुभौ तास ॥५२॥

अब आचार्य इस ग्रन्थको पूर्ण करते हुए इस ग्रन्थके पढनेके फलको कहते हैं

जो समयपाहुडमिण पडिहूण अत्थतच्चऊ णाउं
अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्ख ॥४१०॥

अर्थ—जो चेतयिता भव्यजीव पुरुष इस समय प्राभृत ग्रन्थको पढकर, अर्थ और तत्वसे जानकर इसके अर्थमें स्थिर रहेगा वह सुख स्वरूप होगा।

भावार्थ-इस शास्त्रका नाम समयप्राभृत है। समय नाम पदार्थका है उसका ये कहने वाला है। तथा समय नाम शुद्ध आत्माका है उसका भी कहने वाला है। आत्मा सब पदार्थोंका प्रकाशने वाला है उसको ये कहता है। जो सब पदार्थोंका कहने वाला हो उसको शब्दब्रह्म कहते हैं। ऐसे आत्माको कहनेसे इस शास्त्रको शब्दब्रह्म सरीखा कहना चाहिये। शब्दब्रह्मतो द्वादशांग शास्त्र है, उसकी उपमा इस शास्त्रको भी है, सो यह शब्दब्रह्म परब्रह्म जो शुद्ध आत्मा परमात्मा उसको साक्षात दिखलाता है। इस शास्त्रको पढकर जो कोई इसके यथार्थ अर्थमें ठहरेगा वह परब्रह्मको पावेगा। ऐसा श्रीगुरूका उपदेश है।

अब सर्व विशुद्धज्ञानके अधिकारको पूर्ण करनेको कहते हैं—

इतीदमात्मनस्तत्व ज्ञानमात्रमवस्थितम्।
अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ॥ ५२ ॥

अर्थ-इस प्रकार अखण्ड अनेक ज्ञेयाकारोंसे तथा प्रतिपक्षी कर्मोंसे खण्ड खण्ड दीखता है तो भी ज्ञानमात्रमें खण्ड नहीं हैं इसी से एक रूप है। अचल-ज्ञानरूपसे कभी चलायमान नहीं अर्थात् ज्ञेयरूप नहीं होनेवाला, स्वसंवेद्य-अपने आपही अपने आपके द्वारा जानेन योग्य। अबाधित-किसी भी खोटी युक्तियों से बाधा रहित, ऐसा आत्माका परमार्थभूत स्वरूप ज्ञानमात्र निश्चित ठहरा ॥ ५२ ॥

दोहा-अचल अखडित ज्ञानमय पूरन वीत ममत्व।
ज्ञानगम्य बाधा रहित सो है आतम तत्व ॥ ५२ ॥

इस प्रकार समयसारके निजानन्दमार्तडका सर्वविशुद्धि अधिकार पूर्ण हुआ।

अब यहां टीकाकार विचार करते हैं कि इस ग्रथमें ज्ञानकी प्रधानतासे आत्माको ज्ञानमात्र कहते आये, परतु कोई ऐसा तर्क करे कि जैनमत तो स्याद्वाद है, ज्ञानमात्र कहना एकान्त ठहरता है, इससे तो स्याद्वादसे विरोध आता है, तथा एक ही ज्ञानमें उपायतत्व और उपेयतत्व ए दोनों कैसे बन सकते हैं? इस प्रकारकी शंकाके निवारण करने के लिए कुछ और कहाजाता है-उसी का श्लोक —

अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते ॥१॥

अर्थ—इहां इस अधिकारमें स्याद्वादकी शुद्धिताके लिये वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था है उसीका विचार यहां किया जाता है, तथा एकही ज्ञानमें उपायभाव और उपेयभाव हैं उनका कुछ थोडासा विचार किया जाता है

चौपाई—अद्भुत ग्रंथ अध्यातम वानी, समुझै कोऊ विरला ग्यानी
यामैं स्याद्वाद अधिकारा, ताकौ जो कीजै विसतारा ॥
तो गरथ अति शोभा पावै, वह मंदिर यह कलश कहावै ।
तव चित अमृत वचन गढिखोले, अमृतचन्द्र आचारज बोले
अमृतचद्र बोल मृदुवानी, स्य द्वादकी सुनो कहानी ॥
कोऊ कहै जीव जग माहीं, कोऊ कहै जीव है नाहीं ॥
दोहा—एक रूप कोऊ कहै काऊ अगनित अग (अनेक
छिनभगुर काऊ कहै, कोऊ कहै अभग ॥
नै अनत इहविधि कही, मिलै न काहू कोइ ।
जो सव नै साधन करै, स्याद्वाद है सोइ ॥
स्याद्वाद अधिकार अव, कहौं जैन को मूल ।
जाक जानत जगतजन, लैहैं जगत जन कूल ॥

यद्यपि यहां ज्ञानमात्र आत्मतत्व कहा है तथापि वस्तुका स्वरूप सामान्य विशेषात्मक अनेक धर्मस्वरूप है, वह स्याद्वादसे ही सधता है। ज्ञानमात्र आत्मा भी वस्तु है, उसकी व्यवस्था स्याद्वादसे साधी जाती है। इस ज्ञानहीमें उपाय भाव और उपेय भाव साध्य साधकभाव हैं सो उसका भी विचार किया जाता है स्याद्वाद सपूर्ण वस्तुओंका साधनेवाला एक निर्बाध अर्हत्सर्वज्ञ का शासन है। सर्व वस्तु अनेकान्तात्मक हैं ऐसा स्याद्वाद कहता है। क्योंकि सबही वस्तु अनेक धर्मरूप स्वभाववाली हैं उसको असत्यार्थ कल्पना करके नहीं कहता है वस्तुका जैसा स्वभाव है वैसा ही वतलाता है। यहां आत्मा नामक वस्तुको ज्ञानमात्र कहने में स्याद्वादका प्रकोप नहीं है ज्ञान मात्र आत्म वस्तुके भी स्वयमेव अनेकान्तरूपना है। अनेकांतका ऐसा स्वरूप है कि जो वस्तु तत्स्वरूप है वही वस्तु अतत्स्वरूप है। जो वस्तु एकरूप है वही अनेक स्वरूप है। जो सत्स्वरूप है वही असतस्वरूप है। एकही

वस्तु नित्य रूप है, अनित्य रूप है, इस प्रकार एक वस्तुमें वस्तु-पनेकी उत्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकाशना ही अनेकांत है।

प्रश्न—आत्मवस्तुमें ज्ञानमात्रपना होने परभी ज्ञान स्वयमेव अनेकांतपनेको प्रकाशता है फिर अर्हंत भगवान उसके साधनपनेसे अनेकांतका किस लिये उपदेश करते हैं?

उत्तर—अज्ञानी जनको ज्ञानमात्र आत्म वस्तुके प्रसिद्ध करनेके लिये उपदेश करते हैं। निश्चयसे अनकांत विना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ही प्रसिद्ध नहीं होती है। वही बतलाते हैं- स्वभाव ही से बहुत भावोंसे भरा जो यह लोक उसमें सभी भावोंमें अपने अपने स्वभावसे अद्वैतपना है। तो भी द्वैतपनका निषेध नहीं किया जा सकता है। क्योंकि संपूर्ण पदार्थ अपने स्वरूपमें प्रवृत्ति और पररूपसे व्यावृत्ति इन दोनों रीतिसे दोनों भावोंके आश्रित हैं युक्त हैं। यही ज्ञानमात्र भावमें लगाना है। यहां एकांत वादियोंके चौदह नयभेद हैं उनका वर्णन किया जाता है जैसा कि भाषा छंद में बतलाया है—

ज्ञानको कारन ज्ञेय आतमा त्रिलोकमय,
ज्ञेय सौं अनेक ग्यानमेल ज्ञेय छांही है।
जौलौं ज्ञेय तौलौं ग्यान सर्व दर्वमें विग्यान,
ज्ञेय क्षेत्र मान ग्यान जीव वस्तु नाही है॥
देह नसै जीव नसै देह उपजत लसै,
आतमा अचेतन है सत्ता अंस माही है।
जीव छिन भगुर अग्यायक सहजरूपी
ग्यान ऐसी एकांत अवस्था मूढ माही है॥

अर्थ १. ज्ञेय २. त्रैलोक्यमय ४. ज्ञेयका प्रतिबिंब ५. ज्ञेय काल ६. द्रव्यमय ज्ञान ७. क्षेत्रयुत ज्ञान ८. जीव नास्ति

९. जीव विनाश १० जीव उत्पाद ११ आत्मा अचेतन १२. सत्ता अंश १३. क्षणभंगुर और १४. अज्ञायक। ऐसे १४ नय हैं। जो कोई एक नयको ग्रहण कर शेषको छोड देता है वह एकांती मिथ्यादृष्टि है। अब हर नयका संक्षेपमें सामान्यार्थ कहते हैं—

१. ज्ञेय–एक पक्ष ऐसा है कि ज्ञानके होनेमें ज्ञेय कारण है।

२. त्रैलोक्य प्रमाण–एक पक्ष ऐसा है कि आत्मा तीन लोकके बराबर है।

३. अनेकज्ञान–एक पक्ष ऐसा है कि ज्ञेय अनेक हैं इसलिए ज्ञान भी अनेक है।

४. ज्ञेयका प्रतिबिंब–एक पक्ष ऐसा है कि ज्ञानमें ज्ञेय प्रतिबिंबित होते हैं।

५. ज्ञेयकाल–एक पक्ष यह है कि जबतक ज्ञेय हैं। तबतक ज्ञान है। ज्ञेयके नाश होनेपर ज्ञानका भी नाश हो जाता है।

६. द्रव्यमय ज्ञान–एक पक्ष ऐसा है कि सब द्रव्य ब्रह्मसे अभिन्न हैं इससे सभी पदार्थ ज्ञानरूप हैं।

७. क्षेत्रयुत ज्ञान–एक पक्ष यह है कि ज्ञेयके क्षेत्रके बराबर ज्ञान है इससे बाहर नहीं।

८. जीवनास्ति–एक पक्ष यह है कि जीव पदार्थका अस्तित्व ही नहीं है।

९. जीवविनाश–एक पक्ष ऐसा है कि देहके नाश होतेही जीवका नाश हो जाता है।

१०. जीव उत्पाद–एक पक्ष ऐसा है कि देहके उत्पन्न होतेही जीव उत्पन्न हो जाता है।

११. आत्मा अचेतन–एक पक्ष यह है आत्मा अचेतन है क्योंकि ज्ञान अचेतन है।

१२. सत्ता अंश–एक पक्ष ऐसा है कि आत्मा सत्ताका ही अंश है सत्तासे भिन्न नहीं है।

१३. क्षणभंगुर–एक पक्ष ऐसा है कि जीवका सदा परिणमन होता है इसलिये क्षणभंगुर है।

१४. अज्ञायक-एक पक्ष ऐसा है कि ज्ञानमें जाननेकी शक्ति नहीं इसलिये अज्ञायक है।

इस प्रकार चौदह भंगोंसे ज्ञानमात्र आत्माका एकांतसे अभाव होना और अनेकांतसे आत्माका ठहरना दिखाया। छह भंग तो तत् अतत् एक अनेक, नित्य अनित्य रूप हुए और सत्व असत्व के द्रव्य क्षेत्र काल भावसे आठ भंग किये इस प्रकार १४ भंग जानना चाहिये। इनके कलश रूप १४ काव्य कहे जाते हैं।

बाह्यार्थैःपरिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्
विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।
यत्तत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन–
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति ॥२॥

अर्थ–पशु, अज्ञानी, तिर्यंचसमान सर्वथा एकान्तीका ज्ञान, बाह्य ज्ञेय पदार्थोंसे सर्वथा पिया गया, ऐसा होने पर छोडी जो अपनी व्यक्ति, उससे रीता होता हुआ संपूर्ण रूपसे पर रूपमें विश्रांत हुवा रह गया, अपना रूप तो कुछ भी नहीं रहा–नष्ट हो गया। स्याद्वादीका ज्ञान अपने स्वरूपसे तत्स्वरूप ही है–ज्ञानस्वरूप ही है, इस प्रकार तत्स्वरूप होता हुआ अतिशय रूपसे प्रगट हुआ जो ज्ञानका समूहरूप स्वभाव उसके भारसे संपूर्ण उदयरूप प्रगट होता है। यहां कोई सर्वथा एकांतवादी ज्ञान ज्ञेयाकार मात्र ही है ऐसा मानता है सो उसके ज्ञानको तो ज्ञेय पी गया आप कुछ न रहा। स्याद्वादी का ज्ञान तो अपने स्वरूपसे ज्ञान ही है

ज्ञेयाकर होने पर भी ज्ञानपनेको नहीं छोडता है। इसलिये तत्व रूप ज्ञान प्रगट प्रकाशमान है ॥२॥

कोऊ मूढ कहै जैसे प्रथम सवांरी भींति
पीछें ताके ऊपर सुचित्र आछ्यौ लेखिये।
तैसें मूल कारण प्रगट घटपट जैसौ
तैसौ तहां ज्ञानरूप कारज विशेखिये॥
ज्ञानी कहै जैसी वस्तु तैसौ ही स्वभाव ताकौ,
तातै ज्ञान ज्ञेय भिन्न भिन्न पद पेखिये।
कारण कारज दोऊ एक ही मैं निहचै पै,
तेरो मत सांचो विवहार दृष्टी देखिये ॥२॥

द्वितीय पक्ष स्पष्टीकरण और खंडन—

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकल दृष्टवा स्वतत्वाशया
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते।
यत्तत्तत्‌पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन—
विंश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्वं स्पृशेत् ॥ ३ ॥

अर्थ-पशु—सर्वथा एकांतवादी अज्ञानी, समस्त ज्ञेय पदार्थ ज्ञानमय हैं ऐसा विचारकर, संपूर्ण जगतको निजतत्वकी आशा से देखकर, आप सपूर्ण वस्तु रूप होकर, तिर्यचकी तरह स्वच्छंद चेष्टा करता है। स्याद्वादका देखने वाला उस ज्ञानके स्वरूपको ऐसा देखता है कि अपने ज्ञानस्वरूपसे तत्स्वरूप है वही पर जो ज्ञेयका स्वरूप उससे अतत्त्वरूप है—तत्स्वरूप नहीं है। इस तरह समस्त वस्तुसे भिन्न और संपूर्ण ज्ञेय वस्तुओंसे बना तो भी उन ज्ञेयस्वरूप नहीं—ज्ञेयाकार होनेपरभी भिन्न ही ज्ञानस्वरूपका अनुभव करता है।

भावार्थ—जो वस्तु अपने स्वरूपसे तत्स्वरूप है वही वस्तु पर के स्वरूपसे अतत्स्वरूप है ऐसा स्याद्वादी देखता है। ज्ञान अपने

स्वरूपसे तत्स्वरुप हैं। उसी तरह जो भी वह ज्ञान पर ज्ञेयोंके आकार हुवा है तो भी उनसे भिन्न ही है। इससे अतत्वरूप है। एकांतवादी ज्ञानको समस्त वस्तु स्वरूप मानकर तथा अपनेको उन ज्ञेयरूप मानकर अज्ञानी होकर पशुकी तरह स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है। ऐसा अतत्स्वरूपका भंग है।

कोऊ मिथ्यामती लोकालोक व्यापी ज्ञान मानि
समुझें त्रिलोक पिंड आतम दरव है।
याही तें सुछन्द भयौ डोलैं मुख हू न बोलें,
कहै या जगतमैं हमारौइ परव है।
तासौं ज्ञाता कहै जीव जगतसौं भिन्न पै,
जगतकौ विकासी तोही याहीतें गरब है
जो वस्तु सो वस्तु पर रूपसौं निराली सदा,
निहचै प्रमान स्याद्वादमैं सरब है ॥ ३ ॥

तृतीय पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन—

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोल्लसज्
ज्ञेयाकार विशीर्णशक्तिरभितस्त्रुटचन् पशुर्नश्यति।
एकद्रव्यतया सदाव्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसयन्।
नैक ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकान्तवित्॥ ४ ॥

अर्थ—पशु-अज्ञानी सर्वथा एकांती ऐसा मानता है कि ज्ञान का स्वभाव बाह्य ज्ञेय पदार्थके ग्रहण रूप है, उसके भारसे समस्त अनेक रूप उदय हुए, प्रगट रूपसे ज्ञानमें आये जो ज्ञेयोंके आकार उनसे खण्ड खण्ड बिगडी है शक्ति जिसकी, ऐसा होता हुआ संपूर्ण रूपसे टूटता-खण्ड खण्ड होता हुआ आप नष्ट होता है। अनेकांतका जाननेवाला सदा उदय रूप ज्ञानके एक द्रव्यपनेसे ज्ञेयोंके आकार होनेमे हुआ जो सर्वथा भेदका भ्रम उसको दूर करता हुआ निर्बाध अनुभवन स्वरूप ज्ञानको देखता है—

भावार्थ-ज्ञान ज्ञेयोंके आकार परिणमता है इसलिये अनेक दीखता है उसको सर्वथा एकांतवादी अनेक खंड २ रूप देखता हुवा ज्ञानमय अपने आपका नाश करता है। स्याद्वादी ज्ञानके ज्ञेयाकार होनेपर भी उसको सदा उदय रूप द्रव्यपनेसे एकही देखता है। यह एकस्वरूप भंग है ॥४॥

कोऊ पशु ज्ञानकी अनंत विचित्रताई देखे
ज्ञेयके अकार नानारूप विसतर्यो है।
ताहीको विचारि कहै ज्ञानकी अनेक सत्ता
गहिकै एकांत पक्ष लोकनिसौं लर्यो है।
ताकौ भ्रमभंजिवेकों ज्ञानवत कहै ज्ञान
अगम अगाध निराबाध रस भर्यो है।
ज्ञायक सुभाइ परजाय सौं अनेक भयौ
जद्यपि तथापि एकता सौं नाहि टर्यो है ॥४॥

चतुर्थ पक्षका स्पष्टीकरण और खण्डन—

ज्ञेयाकारकलंकमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पय-
न्नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकांतवित् ॥५॥

अर्थ—पशु-सर्वथा एकांतवादी अज्ञानी ज्ञेयोंके आकारोंके कलंकसे अनेकाकार रूप मलिन जो चैतन्य उसमें एक चैतन्यमात्र आकार करनेकी इच्छासे धोवनेकी कल्पना करता हुवा ज्ञान अनेकाकार प्रगट है तो भी उसको नहीं मानता हुआ एकाकार ही मानकर ज्ञानका अभाव करता है। स्याद्वादी-अनेकांतका जाननेवाला ज्ञेयाकारसे ज्ञानका विचित्रपना है तो भी ज्ञान एकपनेको प्राप्त होता है सो आप स्वयमेव प्रक्षालन किया हुवा शुद्ध है एकाकार है पर्यायोंसे ही उसकी अनेकताका अनुभव करता है ऐसा

मानता है ।

भावार्थ—एकांतवादी तो ज्ञानमें ज्ञेयाकारको मैला जानकर एकाकार करनेको ज्ञेयाकारको धोकर-दूर कर ज्ञानका नाश करता है । अनेकांतवादी ज्ञानको स्वरूपसे ही अनेकाकार मानता है सो ऐसा वस्तुस्वभाव सत्यार्थ है यह अनेक स्वरूप भंग है ॥५॥

कोऊ कुधी कहै ज्ञान महि ज्ञेयको अकार
प्रतिभास रह्यौ है कलंकताहि धोइयै ।
जब ध्यान जलसौं पखारिकै धवल कीजै,
तब निराकार सुद्ध ज्ञानमय होइये ॥
तासौं स्याद्वादी कहै ज्ञानकौ सुभाव यहै
ज्ञेयकौ अकार वस्तु माँहि कहा खोइयै ।
जैसे नाना रूप प्रातिबिंबकी झलक दीखै
जद्यपि तथापि आरसी विमल जोइये ॥५॥

पांचवें पक्षका स्पष्टीकरण और खण्डन-

प्रत्यक्षालिखितस्फुटास्थिरपरद्रव्यास्तितावाचितः ।
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति ।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुण सद्यः समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु निशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति ॥६॥

अर्थ – पशु-अज्ञानी एकांतवादी, प्रत्यक्षप्रमाणसे चितेरा हुवा दीखता स्फुट प्रगट स्थूल और स्थिर ऐसे परद्रव्यको देखकर उस के अस्तित्वसे ठगा हुवा अपने निजात्मद्रव्यका अस्तित्व नहीं देखनेसे समस्तपने सर्वथा शून्य होता हुवा अपना नाश करता है पर स्याद्वादी ज्ञानस्वरूप तेजसे अपने आत्मद्रव्यके अस्तित्वको देखकर आप जीवता है अपने आपका नाश नहीं करता है । यह स्वद्रव्य अपेक्षा अस्तित्वका भंग है ॥६॥

कोऊ अज्ञ कहै ज्ञेयाकार ज्ञान परिनाम
जौलौं विद्यमान तौलौं ज्ञान परगट है
ज्ञेयके विनाश होत ज्ञानको विनाश होइ
ऐसे वाके हिरदै मिथ्यातकी अलट है ।
तासौं समकितवंत कहै अनुभौ कहानि
पर्जय प्रमान ज्ञान नानाकार नट है ।
निरविकलप अविनश्वर दरव रूप
ज्ञान ज्ञेय वस्तुसौं अव्यापक अघट है ॥६॥

छट्ठे पक्षका स्पष्टिकरण और खंडन—

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति ।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानान्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥७॥

अर्थ—पशु-अज्ञानी एकांतवादी पुरुष-आत्माको सर्व द्रव्यमई एक कल्पकर कुनयकी वासनासे वासित हुआ प्रगट रूपसे पर द्रव्यमें स्वद्रव्यका भ्रम कर विश्राम करता है। स्याद्वादी संपूर्ण वस्तुओं में परद्रव्य स्वरूपमें नास्तिताको जानता हुआ निर्मल है शुद्ध ज्ञान की महिमा जिसकी ऐसा होता हुआ स्वद्रव्य का ही आश्रय करता है ।

भाव—एकान्तवादी तो सर्वद्रव्य मय एक आत्माको मान कर पर द्रव्यकी अपेक्षा नास्तिताका लोप करता है, परन्तु स्याद्वादी सबमें परद्रव्यकी अपेक्षा नास्तिता मानकर अपने निज द्रव्यमें रमता है। यह परद्रव्य अपेक्षा नास्तिताका भंग है ॥ ७ ॥

कोऊ मंद कहै धर्म अधरम आकाश काल,
पुद्गल जीव सब मेरो रूप जगमैं ।

जाने न मरम निज माने आपापर वस्तु,
बांधै दृढ करम धरम खोवै डगमैं ॥
समकिती जीव शुद्ध अनुभौ अभ्यासै तातै,
परकौ ममत्व त्याग करै पग पगमैं ।
अपने स्वभावमैं मगन रहे आठों जाम,
धारावाही पंथक कहावे मोखमगमैं ॥ ७ ॥

सप्तमपक्षका स्पष्टीकरण और खण्डन—

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठ सदा
सीदत्येव बहिः पततमभितः पश्यन् पुमांसं पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन–
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ॥ ८ ॥

अर्थ–पशु अज्ञानी एकांतवादी भिन्न क्षेत्रमें रहने वाले ज्ञेय पदार्थ में ज्ञेयज्ञायक सबन्ध रूप निश्चित व्यापार में रहते हुये पुरुषको सर्व प्रकार बाह्य ज्ञेय पदार्थों में ही पडता हुवा–उनको देखता हुवा कष्टहीको प्राप्त होता है स्याद्वादका जानने वाला अपने क्षेत्रमें अपने आस्तित्वसे रोका है अपना रभस–वेग जिसने ऐसा होता हुआ आत्माही में आकार रूप हुये ज्ञेयोंके निश्चित व्यापारकी शक्ति रूप होता हुआ अपने क्षेत्रमें ही अस्ति रूप रहता है।

भावार्थ–एकांतवादी तो भिन्न क्षेत्रमें ज्ञेय पदार्थ हैं उनके जाननेके व्यापार रूप होते पुरुषको बाह्य पडता ही मानकर नष्ट करता है स्याद्वादी अपने क्षेत्रमें ही रहनेवाला पुरुष अन्यक्षेत्रमें रहने वाले ज्ञेयोंको जानता हुवा अपने क्षेत्रोंमें ही अस्तित्वको रखता है ऐसा मानता हुआ आत्मामें ही रहता है। यह स्वक्षेत्रमें अस्तित्वका भंग है ॥ ८ ॥

कौऊ सठ कहै जेतौ ज्ञेयरूप परवांन
तेतौ ज्ञान तातैं कहूं अधिक न और है।
तिहूं काल परक्षेत्र व्यापी परनयौ मानै
आपा न पिछानै ऐसी मिथ्यादृग दौर है।
जैनमती कहै जीव सत्ता परवांन ज्ञान
ज्ञेयसौं अव्यापक जगत सिरमौर है।
ज्ञानकी प्रभामैं प्रतिबिंवित विविध ज्ञेय
जदपि तथापि थिति न्यारी २ ठौर है ॥७॥

आठवें पक्षका स्पष्टीकरण और खण्डन

स्वक्षेत्रास्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रास्थितार्थोज्झना-
त्तुच्छीभूय पशुःप्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामानि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ॥९॥

अर्थ—पशु अज्ञानी एकांतवादी, अपने क्षेत्रमें रहनेके लिये अलग २ परक्षेत्रमें रहते हुए ज्ञेय पदार्थके छोडनेसे नष्ट होकर अपने चैतन्यके ज्ञेय रूप आकारोंको परज्ञेय पदार्थोंके साथ वमता हुआ जैसे अर्थोंको छोडता है उसी प्रकार चैतन्यके आकारोंको भी छोड देता है, तब आप तुच्छ रहा। इसप्रकार आपका नाश करता है। स्याद्वादी अपने क्षेत्रमें रहता हुआ पर क्षेत्रमें अपनी नास्तिकताको जानता हुआ यद्यपि पर क्षेत्रके ज्ञेय पदार्थोंको छोड देता है तो भी अपने चैतन्यके ज्ञेय रूप आकार हुए उनको पर से खेंचने वाला होता हुआ नष्ट नहीं होता है। मतलब यह है कि एकांती तो पर क्षेत्रमें रहनेवाले ज्ञेय पदार्थोंके जो आकार चैतन्य के आकार हुए उनको जैसे पदार्थोंको छोडता है उसीप्रकार चैतन्यके आकारोंको भी छोड देता है ऐसा मानता है। यदि चैतन्य के आकारोंको अपना करूंगा तो अपना क्षेत्र छूट जायगा इसलिए

आप चैतन्यके आकारसे रहित होकर नष्ट होजाता है। स्याद्वादी ज्ञेय पदार्थोंको छोडता है, तो भी अपने चैतन्यके आकारोंको नहीं छोडता है, अपने क्षेत्रमें रहता हुआ पर क्षेत्रमें अपनी नास्तिकताको जानता हुआ नष्ट नहीं होता। यह क्षेत्र अपेक्षा नास्तिता का भंग है ॥९॥

कोऊ सुन्नवादी कहै ज्ञेयके विनास होत ज्ञानकौ विनास होइ कहौ कैसे जीजिये।
तातैं जीवितव्यताकी थिरता निमित्त सब, ज्ञेयाकार परिनामानकौ नास कीजिये॥
सत्यवादी कहै भैया हूजे नाहि खेदभिन्न, ज्ञेयसौं विरचि ज्ञान भिन्न मान लीजिये।
ज्ञानकी सकति साधि अनुभौ दसा अराधि करमकौं त्यागिकै परम रस पीजिये॥

नवमें पक्षका स्पष्टीकरण और खण्डनः—

पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्।
सीदत्येव न किञ्चिनापि कलयन्नत्यन्ततुच्छः पशुः॥
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः।
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यस्त्वपि॥ १०॥

अर्थ—पशु अज्ञानी एकांतवादी, पूर्व कालमें अवलंबे हुए ज्ञेय पदार्थोंके नाश होनेके समयमें ज्ञानके नाशको भी जानता हुआ अज्ञानी होकर नाशको प्राप्त होता है। स्याद्वादी आत्माका अपने कालमें अस्तित्वको जानता हुआ बाह्य वस्तु रूप बारबार होकर भी नष्ट नहीं होता है परन्तु आप पूर्ण मौजूद रहता है।

भावार्थ—पहिले ज्ञेय पदार्थ जाने थे वे उत्तर कालमें विनश गये उनको देखकर एकांती अपने ज्ञानका नाश मानकर अज्ञानी हुआ आत्माका नाश करता है। स्याद्वादी ज्ञेय पदार्थोंके नाश होनेपर भी अपना अस्तित्व अपने ही कालमें मानता हुआ नष्ट नहीं होता है। यह स्वकाल अपेक्षा अस्तित्वका भंग है॥१०॥

कोऊ क्रूर कहै कायाजीव दोऊ एकपिंड, जब देह नसैगी तबहिं जीव मरैगौ।
छायाकौसौ छल किधौं मायाकौसौ परपच कायामैं समाइ फिरि कायाकौ न धरैगौ॥

सुधी कहैं देहसौं अव्यापक सदीव जीव, मर्म पाइ परकौ ममत्व परिहरैंगौ ।
अपनै सुभाई आइ धारना धरामैं धाइ, आपमैं मगन ह्वै कैं आप सुद्ध करैंगौ ॥

दोहा–ज्यौं तन कंचुक त्याग सौं विनसै नाहिं भुजंग ।
त्यौं शरीरके नाशतैं अलख अखंडित अंग ॥

दशवें पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन–

अर्थालंबनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि–
र्ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा भ्रम्यन् पशुर्नश्यति ।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन–
स्तिष्ठत्यात्मनि खातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन् ॥११॥

अर्थ–पशु अज्ञानी एकांतवादी, ज्ञेय पदार्थके आलम्बनकाल में ही ज्ञानका अस्तित्व जानता हुआ, बाह्य ज्ञेयके अवलंबनमें चित्तको अनुराग सहित कर वाह्य भ्रमता हुआ नाशको प्राप्त होता है । स्याद्वादके वेदी परकालसे अपने आत्माके नास्तित्व कों जानता हुआ आत्मामें उकीरा जो नित्य स्वाभाविक ज्ञानपुंज उस रूप होता हुआ रहता है, नष्ट नहीं होता है । भाव ये है कि एकान्ती तो ज्ञेयके आलंवनके काल ही में ज्ञानका सत्त्व जानता है इसलिये ज्ञेयके आलंवनके कालमें ही मन लगाकर वाह्य भ्रमता हुआ नष्ट होता है। पर स्याद्वादी ज्ञेयके कालमें अपना अस्तित्व नहीं जानता है अपने ही कालमें अपना अस्तित्व जानता है इसलिये ज्ञेयसे अलग ही अपने ज्ञानका पुंजरूप होता हुआ नष्ट नहीं होता है । यह परकाल अपेक्षा नास्तित्व का भंग है ॥११॥

कोऊ दुर्बुद्धि कहै पहिले न हुतो जीव देह उपजत अब उपज्यौ है आइकैं ।
जौलौं देह तौलौं देहधारी फिर देह नसै रहैगौ अलख ज्योति जोतिमैं समाइकैं ।
सदवुद्धि कहै जीव अनादिकौ देहधारी जब ज्ञानी होइगौ कबहू काल पाइकैं ।
तब ही सौं पर तजि अपनौ सरूप भजि पावैगौ परमपद करम नसाइकैं॥११॥

ग्यारहवें पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन–

विश्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु ।
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकांतनिश्चेतनः ॥
सर्वस्मिन्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन् ।
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः ॥१२॥

अर्थ—पशु अज्ञानी एकांतवादी, परभावको अपना भाव जानता हुआ बाह्य वस्तुओंमें विश्राम करता हुआ अपने स्वभावकी महिमामें एकान्तसे निश्चेतन हुआ-जड़ होता हुआ आप नाशको प्राप्त होता है। स्याद्वादी सब वस्तुओंमें अपना निश्चित नियमरूप जो स्वभाव भावका भवनस्वरूप ज्ञान, उस ज्ञानसे न्यारा होता हुआ सहज स्वभावका स्पष्ट प्रत्यक्ष अनुभव रूप किया है प्रतीति रूप जानपना जिसने, ऐसा होता हुआ नाशको प्राप्त नहीं होता है।

तात्पर्य ये है कि एकांती तो परभावको निजभाव जानकर बाह्य वस्तुओंमें ही विश्राम करता हुआ आत्माका नाश करता है, लेकिन स्याद्वादी अपना ज्ञानभाव यद्यपि ज्ञेयाकार होता है, तो भी ज्ञान ही को अपना भाव जानता हुआ अपना नाश नहीं होने देता। यह अपने भावकी अपेक्षा अस्तित्वका भंग है ॥१२॥

कोऊ पक्षपाती जीव कहै ज्ञेयके अकार,
परिनयौ ग्यान तातैं चेतना असत है।
ज्ञेयके नसत चेतनाको नास ता कारन,
आतमा अचेतन त्रिकाल मेरा मत है॥
पंडित कहत ग्यान सहज अखंडित है,
ज्ञेयकौ आकार धरै ज्ञेयसौं विरत है।
चेतनाके नास होत सत्ताकौ विनास होइ
यातैं ग्यान चेतना प्रवान जीव तत है ॥१२॥

बारहवें पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन—

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः ।
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति ॥
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा-
दारूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कम्पितः ॥१३॥

अर्थ—पशु अज्ञानी एकांतवादी, अपने स्वभावमें सर्वज्ञेय पदार्थोंका होना निश्चयकर शुद्ध ज्ञानस्वभावसे च्युत होता हुआ सर्व पदार्थोंमें निःशंक-स्वेच्छाचारी होकर क्रीड़ा करता है। अर्थात् अपने भावका लोप करता है। स्याद्वादी अपनेही भावमें सर्वथा आरूढ होकर परभावका अपने भावमें अभाव है ऐसा निश्चित करता हुवा शुद्धही शोभायमान होता है।

तात्पर्य ये है कि एकांती तो परभावोंको ही अपने जानकर अपने शुद्ध स्वभावसे अलग होकर सर्वत्र निःशंक होकर स्वेच्छासे प्रवृत्ति करता है, पर स्याद्वादी परभावोंको जानता है, तो भी उनसे भिन्न अपने आत्माको शुद्ध ज्ञान स्वभाव रूप अनुभव करता हुवा शोभा पाता है। यह परभावकी अपेक्षा नास्तित्वका भंग है।

कोऊ महामूरख कहत एकपिंड मांहि जहा लो अचित चित अंग लहलहै हैं।
जोग रूप भोगरूप नानाकार ज्ञेयरूप जेते भेद करमके तेते जीव कहै हैं ॥
मतिमान कहै एक पिंड माहि एक जीव ताहीके अनत भाव अस फैलि रहे हैं।
पुदगलसौं भिन्न कर्म जोगसौं सदा अखिन्न उपजै विनसै थिरता सुभाव गहै है १३

तेरहवें पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन—

प्रादुर्भावविराममुद्रितवहद्ज्ञानांशनानात्मना
निर्ज्ञानात् क्षणभंगसंगपतितः प्रायः पशुर्नश्यति ।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं
टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिमज्ञान भवन् जीवति ॥ १४ ॥

अर्थ—पशु अज्ञानी एकांतवादी, उत्पादव्ययसे लक्षित-प्राप्त जो ज्ञान उस ज्ञानके अंशोंसे नाना स्वरूपके निर्णयके ज्ञानसे क्षणभंगके

क्षणभंगके संगमें पडा प्राय अपना नाश करता है। स्याद्वादी चैतन्य स्वरूपसे चैतन्य वस्तुको नित्य उदय रूप अनुभव करता हुआ टिंकोत्कीर्ण घन स्वभाव है महिमा जिसकी ऐसा ज्ञान स्वभाव होता हुआ जीवित रहता है। अर्थात् अपना नाश नहीं करता है।

भावार्थ—एकांती ज्ञेयके आकारवत् ज्ञानको उपजता विनशता देखकर क्षणभंगकी सगतीवत् अपना नाश करता है, पर स्याद्वादी ज्ञान ज्ञेयके साथ ही उपजता विनशता है तो भी चैतन्य भावके नित्य उदयका अनुभव करता ज्ञानी होता हुआ जिन्दा रहता है। यह नित्यत्वका भंग है ॥१४॥

कोई एक छिनवादी कहै एक पिंड माहि एक जीव उपजत एक विनशत है।
जाही समै अंतर नवीन उतपति होत ताही समै प्रथम पुरातन नसत है ॥
सरवांगदवादी कहै जैसे जलवस्तु एक सोई जल विविध तरंगति लसत है।
तैसैं एक आतम दरब गुन पवजैसौं अनेक भयौ पै एकरूप दरसत है।१४।

चौदहवें पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन—

टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वशया
वाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किञ्चन ।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तु वृत्तिक्रमात् ॥१५॥

अर्थ—पशु अज्ञानी एकान्तवादी, टंकोत्कीर्ण निर्मल ज्ञानके फैलाव रूप एक आकार जो आत्मतत्व उसकी आशासे और आप में उछलती जो निर्मल चैतन्यकी परिणति उससे कुछ भिन्न आत्मा को चाहते हैं सो कुछ भी नहीं है। स्याद्वादी नित्य ज्ञान अनित्यताको प्राप्त होते हुए भी उज्ज्वल दैदीप्यमान चैतन्य वस्तुकी प्रवृत्तिके क्रमसे ज्ञानके अनित्यत्वका अनुभव करता हुआ ज्ञानको स्वीकार करता है।

भाव ये है कि एकान्ती तो ज्ञानको एकाकार नित्य ग्रहण करनेकी इच्छासे ज्ञान–चैतन्यकी परिणति जो उपजती नष्ट होती है उससे भिन्न कुछ मानता है, लेकिन परिणामको छोडकर परिणामी कुछ भिन्न है नहीं। स्याद्वादी–यद्यपि ज्ञान नित्य है तो भी चैतन्यकी परिणति क्रमसे उपजती विनशती है उसी क्रमसे ज्ञानकी अनित्यता मानते हैं क्योंकि वस्तु स्वभाव ऐसा ही है। यह अनित्यपने का भंग है ॥ १५ ॥

काऊ बालबुद्धि कहै ग्यायक सकति जौलौ
तौलौं ज्ञान असुद्धजगत मध्य जानियै।
ज्ञायक सकति काल पाइ मिटि जाइ जब
तब अविरोध बोध विमल बखानियै॥
परम प्रवीन कहैं एसी तौ न बनै बात
जैसें विन परगास सूरज न मानियै।
तैसें विन ग्यायक सकति न कहावै ग्यान
यह तौ न परोच्छ परतच्छ परवांनियै॥१५॥

अब कहते हैं कि ऐसा अनेकांत, अज्ञानसे मोहित बुद्धिवालोंको आत्मतत्वको ज्ञान मात्र साधते हुए स्वयमेव अनुभवमें आता है—

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन्
आत्मतत्वमनेकान्तः स्वयमेवानुभूयते ॥१६॥

अर्थ—ऐसें पूर्वोक्त प्रकार अनेकान्त अज्ञानसे मूढ प्राणियोंके समझानेके लिये आत्म-तत्वका ज्ञान मात्र साधता हुआ अपने आप अनुभव गोचर होता है। अनादि काल के प्राणी स्वयं तथा एकान्तवादके उपदेशसे आत्म-तत्वके ज्ञानके अनुभवसे अनेक प्रकारके पक्षपातसे आत्माका नाश करते हैं, उनके समझानेके लिए आत्माका स्वरूप ज्ञान मात्र ही कहकर और उसको अनेकान्त

स्वरूप प्रगट कर स्याद्वादसे दिखाया है सो यह असत्‌रूपकल्पना नहीं है ज्ञान मात्र वस्तु अनेक धर्म सहित अपने आप अनुभव गोचर प्रत्यक्ष प्रतिभासमें आती है। बुद्धिमान मनुष्य अपने आत्माकी तरफ देखकर अनुभव करो। ज्ञान तत्स्वरूप अतत्-स्वरूप, एकस्वरूप अनेकस्वरूप अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे सत्-स्वरूप, परद्रव्य क्षेत्र काल भावसे असत्स्वरूप, नित्यस्वरूप, अनित्यस्वरूप इत्यादि रूपसे प्रत्यक्ष अनुभव गोचर कर अनेक धर्मस्वरूप प्रतीतिमें लाओ यही सम्यग्ज्ञान है सर्वथा एकान्त मानना मिथ्याज्ञान है।

दोहा—इहि विधि आतम ग्याग हित स्यादवाद परवान।
जाके वचन विचारसौं मूरख होय सुजान ॥१६॥

अब अनेकान्तकी महिमा कहते हैं—

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम्।
अलंघ्यं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ॥

अर्थ—इसप्रकार वस्तुकी यथार्थ स्वरूपकी व्यवस्था करके, अपने स्वरूपको आप ही स्थापन करता हुआ अनेकान्त व्यवस्थित होता हुआ निश्चित ठहरा। कैसा है अनेकान्त—अलंघ्यं—किसीके द्वारा जीतनेमें न आवे ऐसा जिनेन्द्रका शासन-मत है। आत्माके जितने धर्म हैं वे सब ज्ञानके परिणमन स्वरूप ही हैं। यद्यपि उनमें लक्षणके भेदसे भेद है तो भी प्रदेश भेद नहीं है। इसलिए एक असाधारण ज्ञानके कहनेसे इसमें सभी धर्म गर्भित होजाते हैं। इसीसे इस आत्माका ज्ञान मात्र एक भाव है, उसीमें गर्भित अनंत शक्तियां उदय होती हैं उनमें से कुछ को कहते हैं—

आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारणलक्षणा जीवत्वशक्तिः—आत्म द्रव्यको कारणभूत चैतन्य मात्र भाव जो भाव प्राण उसका धारण करना ही है लक्षण जिसका ऐसी जीवत्व नामकी शक्ति

है। अजडत्वात्मिका चितिशक्तिः—जड न होनेवाली ऐसी चेतना शक्ति वाली चिति शक्ति है। अनाकारोपयोगमयी दृशिशक्तिः—जिसमें ज्ञेय रूप आकारका विशेष नहीं भासता ऐसी अनाकारोपयोग-सत्ता मात्र पदार्थमें उपयुक्त होना रूप दर्शनक्रिया शक्ति है। साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्तिः—ज्ञेय पदार्थके आकार विशेषसे जुडने वाला ज्ञान ज्ञानशक्ति है। अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः-आकुलता रहित है लक्षण जिसका ऐसी सुखशक्ति है। स्वरूपनिर्वर्तन-सामर्थ्यरूपा वीर्यशक्ति—अपने निजात्म रूपकी रचनाकी सामर्थ्य रूप वीर्यशक्ति है। अखण्डितप्रतापस्वातन्त्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्तिः—अखण्डित है प्रताप जिसका और स्वाधीनतासे शोभनीक है लक्षण जिसका ऐसी प्रभुत्व शक्ति है। सर्वभाव-व्यापकभावरूपा विभुत्वशक्तिः—सर्व भावोंमें व्यापक एक भाव रूप विभुत्वशक्ति है। विश्वसामान्यभावपरिणतात्म-दर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्तिः—सम्पूर्ण पदार्थोंकी समुदाय रूप लोकालोक के सत्ता मात्र देखने रूप परिणमा है स्वरूप जिसका ऐसी देखना रूप सर्वदर्शित्व शक्ति है। विश्वविश्वविशेषभावपरिण-तात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्तिः—संपूर्ण पदार्थोंका समुदाय रूप लोकालोकके संपूर्ण विशेष भाव—आकार सहित भाव उनके जानने रूप हुवा है स्वरूप जिसका ऐसी ज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति है। नीरूपात्मप्रदेशप्रकाशमानलोकालोकाकारमेचकोपयोगलक्षणा स्वच्छत्वशक्तिः—अमूर्तीक आत्माके प्रदेशोंमें प्रकाशमान लोका-लोकके आकारसे मेचक—अनेकाकाररूप दीखता हुआ उपयोग है लक्षण जिसका ऐसी स्वच्छत्व शक्ति है। स्वयम्प्रकाशमानविशद-स्वसंवित्तिमयी प्रकाशशक्तिः—अपने आप प्रकाशमान विशद-स्पष्ट अपने अनुभव रूप प्रकाशशक्ति है। क्षेत्रकालानवच्छिन्नाचि-

द्विलासात्मिकाऽसङ्कुचितविकासत्वशक्तिः—क्षेत्र काल से अमर्यादरूप जो चैतन्यका विलास उस रूप असंकुचित्विकासत्व नामकी शक्ति है। इसी प्रकार अकार्यकारणत्व, परिणाम्यपरिणामात्मक, त्यागोपादानशून्यत्व, अगुरुलघुत्व, उत्पादव्ययध्रुवत्व, अस्तित्वमात्रपरिणामत्व, अमूर्तत्व, अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व, निष्क्रियत्व, नियतप्रदेशत्व, स्वधर्मव्यापकत्व आदि ४७ शक्तियां हैं।

स्याद्वाद आतम दसा ता कारन बलवान।
सिव साधक बाधा सहित अखै अखण्डित आन ॥१७॥

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं—

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं
तद्द्रव्यपर्ययमयं, चिदिहास्ति वस्तु ॥१८॥

अर्थ—इस प्रकार ऊपर ४७ शक्तियां बतलाई गई, उनको आदि लेकर अनेक अपनी शक्तियोंसे अच्छी प्रकार हुवा भाव अपने ज्ञानमयपने को नहीं छोडता है ऐसा चैतन्य रूप, क्रम अक्रम रूप विशेष वर्तने वाले परिणमनकी विकार रूप अवस्थाओंसे नाना प्रकार होकर प्रवर्ताने वाला आतमा इस लोकमें द्रव्य पर्यायमयी वस्तु है।

विशेषार्थ—कोई जानेगा कि ज्ञानमात्र कहा सो आत्मा एक रूप ही होगा सो ऐसा नहीं है। वस्तुका स्वरूप द्रव्यपर्यायमयी है, चैतन्य भी वस्तु है। वह भी अनंत शक्तियोंसे भरा हुआ है, तथा क्रम और अक्रम रूप अनेक परिणामोंके विकारोंके समूह रूप अनेकाकार है। ज्ञान असाधारण भाव है, सो चैतन्यको छोडता नहीं है। ज्ञानकी सर्व अवस्थाएं परिणाम रूप हैं, और ये परिणाम ज्ञान रूप ही हैं।

कोई जीव वस्तु अस्ति प्रमेय अगुरुलघु अभोगी अमूरतीक परदेसवन्त है।
उतपतिरूप नासरूप अविचलरूप रतनत्रयादि गुन भेदसौं अनन्त हैं॥
सोई जीव दरब प्रमान सदा एक रूप ऐसौ सुद्ध निहचै सुभाउ निरतत है।
स्यादवाद मांहि साध्यपद अधिकार कह्यौ अब आगे कहिवेकौ साधक सिद्धंत है॥१॥

दोहा–साध्य सुद्ध केवल दसा अथवा सिद्ध महंत।
साधक अविरत आदिवुध छीन मोह परजंत॥

इस अनेक स्वरूप वस्तुको जो जानता है, श्रद्धान करता है, अनुभव करता है, उसकी प्रशंसा करने को कलश रूप काव्य कहते हैं—

नैकांतसङ्गतदृशां स्वयमेव वस्तु,
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः।
स्याद्वादशुद्धमधिकामधिगम्य सन्तो,
ज्ञानीभवंति जिननीतिमलंघयन्तः॥२॥

अर्थ–'वस्तुस्वयमेव अनेकान्त स्वरूप है' इस तरह की वस्तुतत्वकी व्यवस्थाको अनेकांतमें प्राप्तकी हुई दृष्टि से देखनेवाले सज्जन पुरुष जिनेश्वर देवके स्याद्वाद न्यायको उलघन नहीं करते हुए स्याद्वादकी अधिक सुद्धिको अंगीकार करनेसे ज्ञानी होजाते हैं

भावार्थ—यह आत्मा अनादि कालसे मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्रको पालता हुवा ससारमें भ्रमण करता आ रहा हैं। जब व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको अंगीकार करता है तब अनुक्रमसे अपने स्वरूपके अवलंबनकी वृद्धि करता हुआ निश्चय सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रकी पूर्णतासे संपूर्ण कर्मोंका नाशकर साक्षात मोक्ष पालेता है यही सिद्ध रूप भाव है। इन दोनों भाव रूप एक ज्ञानहीका परिणमन है और वही उपायोपेय भाव है। इस प्रकार दोनोंही भावोंमें ज्ञानमात्र का ही अनन्यपना है।

उससे नित्य निरन्तर नहीं चिगता जो एकवस्तु उसका निष्कम्प परिग्रहण करनेसे उसी समय मोक्ष चाहनेवाले पुरुषोंको अनादि संसारसे लगाकर कभी जिन्होंने नहीं पाई ऐसी भूमिकाका लाभ होता है। उससे वे सत्पुरुष वहां सदा निश्चल रहते हुए आपही क्रम और अक्रमरूप होनेवाले अनेक धर्मोंकी मूर्ति रूप होते हुए साधक भावसे है उत्पत्ति जिसकी ऐसी परमप्रकर्षकी हद्द रूप सिद्धावस्थाके पात्र हो जाते हैं। जिसमें अनेक धर्म गर्भित है ऐसे ज्ञानमात्र एक भाव रूप भूमिको जो प्राप्त नहीं होते हैं वे नित्य अज्ञानी होते हुए ज्ञानमात्र भाव न होने तथा पररूप होते हुए श्रद्धान करते हुए, जानते हुए, आचरण करते हुए, उसी रूपका मिथ्यादृष्टि मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्री होते हुए, उपायोपेय भावसे भ्रष्ट होकर संसार में ही भ्रमण करते हैं।

ज्ञानदृष्टि जिनके घट अंतर निरखैं दरव सुगुन परजाइ।
जिनकै सहज रूप दिन-दिन प्रति स्यादवाद साधन अधिकाइ।
जे केवलि पुनीत मारग मुख चितैं चरन राखैं ठहराइ।
ते प्रवीन करि खीन मोहमल अविचल होहि परमपद पाइ ॥२॥

अब इस अर्थका कलश रूप काव्य कहते है—

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां
भूमिं श्रयंति कथमप्यपनीतमोहः।
ते साधकत्वमधिगम्य भवंति सिद्धा
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥ २ ॥

अर्थ—जो भव्यपुरुष किसी प्रकासे भी दूर हुआ है मोह-अज्ञान या मिथ्यात्व जिनका ऐसे हैं वे अज्ञानमात्र निजभावमयी निश्चय भूमिकाको आश्रय करते हुवे साधकपनेको स्वीकारकर सिद्ध होजाते है और जो मूढ है अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं वे इस भूमिकाको न पाकर संसारमें भ्रमण करते हैं।

चाकसौ फिरत जाकौ ससार निकट आयौ
पायौ जिन सम्यक मिथ्यात नास करिकैं।
निरदुंद मनसा सुभूमि साधि लिनी जिन
कीनी मोख कारण अवस्था ध्यान धरिकैं।
सोही सुद्ध अनुभौ अभ्यसी अविनासी भयौ
गयौ ताकौ करम भरम रोग गरिकैं।
मिथ्यामती अपनौ सरूप न पिछानै तातैं
डोलै जगजालमैं अनंत काल भरिकैं ॥३॥

अब कहते हैं कि वह भूमिका ऐसे पाते हैं कि—

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां यो,
भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्त।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री पात्रीकृतः,
श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो पुरुष स्याद्वाद नयका प्रवीणपन और निश्चल व्रत, समिति, गुप्ति रूप संयम, इन दोनोंसे अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा में उपयोग लगाता हुआ आत्माको निरंतर मानता है, वही पुरुष ज्ञाननय और क्रियानय इन दोनोंमें परस्पर हुए तीव्र मैत्री भाव, का पात्र होता हुवा निज भावमयी भूमिकाको पा जाता है।

विशेषार्थ—जो ज्ञाननयको ग्रहणकर क्रियानयको छोड देता है वह प्रमादी स्वच्छन्द होता हुआ इस भूमिकाको नहीं पाता है। जो क्रिया नय कोही ग्रहणकर ज्ञाननयको नहीं जानता है वह भी शुभकर्ममें संतुष्ट होकर निष्कर्म भूमिकाको नहीं पाता है। ज्ञानको पाकर निश्चल संमयको अंगीकार करने वालोंके ज्ञाननय और क्रियानयमें परस्पर अत्यंत मित्रता होती है वे ही इस भूमिका को पा जाते हैं। इन दोनों नयोंके ग्रहणत्यागका रूप वा फल पंचास्तिकायके अंतमें कहा गया है सो वहांसे जानना

चाहिये ॥४॥

जे जीव दरवरूप तथा परजायरूप दोऊ नै प्रवांन वस्तु सुद्धता गहतु हैं।
जे असुद्ध भावनिके त्यागी भये सरवथा विषैंसौं बिमुख ह्वै विरागता वहतु हैं॥
जेजे ग्राह्य भाव त्याग भाव दोऊ भावनिकौं अनुभौ अभ्यास विषैं एकता करतु हैं।
तेई ज्ञानक्रियाके अराधक सहज मोखमारगके साधक अबाधक महतु हैं ॥४॥

दोहा—विनसि अनादि असुद्धता होइ सुद्धता पोख।
ता परिनतिको बुध कहैं ग्यान क्रियासौं मोख॥
जगी सुद्ध समकित कला वगी मोख मग जोइ।
वहै करम चूरन करै क्रम क्रम पूरन होइ॥
जाके घट ऐसी दसा साधक ताकौ नाम।
जैसै जो दीपक धरै सो उजियारौ धाम॥

अब कहते है कि जो इस भूमिका को पाता है वही आत्माको पाता है—

चित्पिंडचंडिमविलासिविकासहासः
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः।
आनंदसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥५॥

अर्थ—जो पुरुष ऊपर कहे अनुसार भूमिकाको पा जाता है उसी पुरुषका-चैतन्यके पिंडका निरर्गल विलास करने वाला विकास-प्रफुल्लित होना उस रूप है फूलना जिसका तथा शुद्ध प्रकाशके समूहसे अच्छी तरह प्रभात सरीखी है उदय रूप दीप्ति जिसकी तथा जो आनंदसे अच्छी तरह कभी नहीं चिगता है एक रूप जिसका, तथा अचल ज्ञान रूप है दीप्ति जिसकी ऐसा आत्मा उदय को प्राप्त होता है।

भावार्थ—यहां उदय होने वाले आत्माके चार विशेषण बतलाये हैं उनमेंसे चित्पिंड इत्यादिसे तो अनंतदर्शनका प्रगट

होना बतलाया तथा शुद्ध प्रकाश इत्यादिसे अनंतज्ञानका प्रगट होना बतलाया है, आनंदसुस्थित इत्यादिसे अनंतसुखका प्रगट होना बतलाया तथा अचलार्चि इत्यादिसे अनंतवीर्यका प्रगट होना बतलाया है ॥५॥

जाकैं घट अंतर मिथ्यातअंधकार गयौ,
भयौ परगास सुद्ध समकित भानकौ ।
जाकी मोह निद्रा घटी ममता पलक फटी,
जान्यौ जिन मरम अवाचौ भगवानकौ ॥
जाकौ ग्यान तेज वग्यौ उद्दिम उदार जग्यौ,
लगौ सुख पोख समरस सुधाधानकौ ।
ताही सुविच्छनकौ संसार निकट आयौ,
पायौ तिन मारग सुगम निरवानकौ ॥ ५ ॥

अब कहते हैं हमारे भी ऐसा ही आत्मस्वभाव प्रगट होओ—

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे,
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ।॥ ६ ॥

अर्थ—मुझमें स्याद्वादसे प्रकाश रूप अतएव लहलहाट करता है तेजः पुंज जिसमें, तथा शुद्ध स्वभावकी है महिमा जिसमें ऐसा ज्ञानका प्रकाश उदय होते हुए बंधमोक्षके मार्ग में पटकने वाले अन्य भावोंसे क्या साध्य हो सकता है ? मुझमें तो केवल अनत चतुष्टय रूप अपना स्वभाव निरंतर उदय रूप होता हुआ स्फुरायमान होओ ।

तात्पर्य—स्याद्वादके मार्गसे यथार्थ आत्मज्ञान होजाने के बाद इसका फल पूर्ण आत्माका प्रगट होना है, सो मोक्षका चाहने

वाला पुरुष यही प्रार्थना करता है कि मुझे पूर्ण स्वभाव वाले आत्माका उदय होओ ; अन्य भाव तो बंध मोक्ष मार्गकी कथा रूप हैं उनसे क्या प्रयोजन है ?

सवैया इकतीसा

जाके हिरदैमैं स्यादवाद साधना करत सुद्ध आतमाकौ अनुभौ प्रगट भयो है।
जाके संकलप विकलपके विकार मिटि सदाकाल एकीभाव रस परिनयौ है ॥
जिन बंधविधि परिहार मोख अंगीकार ऐसौ सुविचार पच्छ सोऊ छांडि दयो है।
ताकौ ज्ञान महिमा उदोत दिन दिन प्रति सोही भवसागर उलंघि पार गयो है ॥

अब कहते हैं कि नयोंसे आत्माकी सिद्धि कीजाती है, परंतु नयोंपर ही दृष्टि रहे तो नयोंमें तो परस्पर विरोध है इसलिये मैं तो नयोंके विरोध रहित आत्माका अनुभव करता हूं—

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक-
मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥ ७ ॥

अर्थ—यह आत्मा अनेक प्रकारकी अपनी शक्तियोंके समुदाय रूप है सो नयोंकी दृष्टिसे भेदरूप कियागया तत्काल खण्ड खण्ड रूप होकर नाशको प्राप्त होता है। अतएव मैं मेरे आत्माका ऐसा अनुभव करता हूंकि— नहीं निराकरण किये गये हैं खंड जिसमें ऐसा होनेपर भी भेद रहित अखंड हूं, एक हूं, एकांत शांतरूप हूं,—जिसमें कर्मके उदयका लेश भी नहीं ऐसा शांतभावरूप हूं, अचल हूं—कर्मके उदय के होनेपर भी चलायमान नहीं हूं ऐसा मैं चैतन्यमात्र मह (तेजस्वी) वस्तु हूं।

भावार्थ—आत्मामें अनेक शक्तियां हैं। एक एक शक्तिका ग्राहक एक एक नय है। जब नयोंको एकांत दृष्टिसे देखते हैं तब आत्माका खंड खंड होकर नाश हो जाता है. इसलिए स्याद्वादी

नयोंसे होनेवाले विरोधको दूरकर चैतन्यमात्र वस्तु, अनेक शक्तियोंका समूह, सामान्यविशेषस्वरूप, सर्व शक्तिमय, एक ज्ञानमात्र का अनुभव करता है। क्योंकि वह इस प्रकारके वस्तुके स्वरूपके होनेमें कोई विरोध नहीं पाता है।

अब अखंड आत्माका वह कैसे अनुभव करता है? इस बात को कहते हैं...

न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि न भावेन खण्डयामि, सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रो भावोऽस्मि ॥

अर्थ—ज्ञानी शुद्धनयका अवलंबन लेकर ऐसा अनुभव करता है कि मैं अपने शुद्धात्म स्वरूपको द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे खण्डित नहीं करता हूं। मैं तो विशुद्ध निर्मल एक ज्ञानमय भाव वाला हूं।

तात्पर्य ये है कि शुद्धनयसे देखा जाय तब द्रव्यक्षेत्र काल· भावसे शुद्ध चैतन्यमात्र भावमें कुछ भी भेद नहीं दीखता है, इसलिये ज्ञानी अभेद ज्ञानस्वरूपमें भेद नहीं करता है।

अस्तिरूप नासति अनेक एक थिररूप
　　अथिर इत्यादि नाना रूप जीव कहिये ।
दीसै एक नयकी प्रतिपक्षी न अपर दूजी,
　　नै कौ न दिखाइ वाद विवादमैं रहिये ॥
थिरता न होइ विकलपकी तरंगनिमैं,
　　चचलता बढै अनुभौ दसा न लहिये ।
तातैं जीव अचल अवाधित अखंड एक,
　　एसौ पद साधिकैं समाधि सुख गहिये ॥७॥
जेमैं एक पाकौ आंव फल ताकै चार अस,
　　रस जाली गुठली छीलक जब मानिये ।
यौं तौ न बनै पै ऐसे बनै जैसे वहै फल,

रूप रस गंध फास अखंड परमानिये ॥
तैसें एक जीवको दरब क्षेत्र काल भाव,
अंस भेद करि भिन्न भिन्न न बखानियै ॥
दर्व रूप खेत रूप काल रूप भाव रूप,
चारों रूप अलख अखण्ड सत्ता मानिये ॥

अब कहते हैं कि मैं तो ज्ञान रूप हूं और ज्ञेय ज्ञेयरूप है—

शालिनी छद—

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि ज्ञेयो ज्ञेयो ज्ञानमात्रः स नैव ।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन् ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ॥८॥

अर्थ—मैं जो ज्ञानमात्र भाव हूं सो ज्ञेयका ज्ञातामात्र ही नहीं जानना । तो फिर ज्ञानमात्र भाव कैसा जानना ? समाधान—ज्ञेयोंके आकारजो ज्ञानके कल्लोल हैं वे ही ज्ञान हैं, वेही ज्ञेय हैं, और वेही ज्ञाता हैं । इस प्रकार ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता इन तीन भावों सहित आत्म वस्तुको जानना चाहिये ।

भावार्थ—अनुभव करते समय ज्ञानमात्रका अनुभव करे, उस समय बाह्य ज्ञेय तो अलग ही रहते हैं, वे कुछ ज्ञानमें तो बैठे नहीं हैं । ज्ञेयोंके आकारकी झलक ज्ञानमें रहती है । वह ज्ञान भी ज्ञेयाकार रूप दीखता है, सो ये ज्ञानके ही कल्लोल हैं । ऐसा ही ज्ञानका स्वरूप है, आपके द्वारा आप जानने योग्य है, अत एव आप ही ज्ञेय है, आप ही आपको जानने वाला है इसलिये ज्ञाता है । इस प्रकार तीनों भाव स्वरूप एक ही ज्ञान है । इसीसे इसको सामान्य विशेषात्मक एक वस्तु जानना चाहिये, तन्मात्र होनेसे ज्ञानमात्र कहा जाता है । सो अनुभव करने वाला तो इस प्रकारही अनुभव करे कि ज्ञानस्वरूप मैं ही हूं । दूसरा कोई नहीं ।

कोऊ ज्ञानवान कहै ग्यान तौ हमारौ रूप ज्ञेय षट दर्व सो हमारौ रूप नाहीं है।
एक नै प्रवान ऐसैं दूजी अब कहूं जैसैं सारस्वती अक्खर अरथ एक ठाहीं है॥
तैसौ ज्ञाता मेरौ नाम ग्यान चेतना विराम ज्ञेय रूप सकति अनंत मुझ पाहीं है।
ताकारन वचनके भेद-भेद कहै कोऊ ग्याता ज्ञान ज्ञेयकौ विलास सत्ता माहीं है ८

चौ० स्वरूप प्रकाशक सकति हमारी, तातैं वचन भेद भ्रम भारी।
ज्ञेय दसा दुविधा परगासी, निजरूपा पररूपा भासी॥

दोहा— निज रूपा आतम सकति पर रूपा पर वस्त।
जिन लखि लीनौं पेंच यह तिन लखि लियौ समस्त॥

अब कहते हैं कि अनुभवकी दशामें अनेक रूप दीखता है तो भी यथार्थ ज्ञाता निर्मल ज्ञानको नहीं भूलता है।

पृथ्वी छन्द—

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचकं,
क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः,
परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत्॥९॥

अर्थ— अनुभव करने वाला कहता है कि मेरा आत्मतत्त्व कहीं तो मेचक माने अनेकाकार दीखता है और कहीं अमेचक माने शुद्ध एकाकार दीखता है, कहीं मेचक अमेचक दोनों रूप दीखता है, तो भी जो निर्मलबुद्धि वाले हैं उनके मनको भ्रम रूप नहीं करता है। कैसा मेरा आत्मतत्त्व है? परस्पर अच्छी तरह मिलीं जो प्रगट अनेक शक्तियां उनके समुदाय रूप स्फुरायमान है।

भावार्थ—आत्मतत्व अनेक शक्तियोंको लिये हुए है। कोई अवस्थामें तो कर्मके उदयके निमित्तसे अनेकाकार अनुभवमें आता है, कोई अवस्थामें शुद्ध एकाकार अनुभवमें आता है और कोई अवस्थामें शुद्धाशुद्ध दोनों रूप अनुभवमें आता है, तो भी यथार्थ ज्ञानी स्याद्वादके बलसे भ्रम रूप नहीं होता है। जो जैसा है उसको

वैसा ही मानता है। ज्ञानमात्रसे च्युत नहीं होता है।

करम अवस्थामैं असुद्धसौ विलोकियत करम कलंकसौं रहित सुद्ध अंग है।
उभयनै प्रवान समकाल सुद्धासुद्ध रूप ऐसौ परजाइ धारी जीव नाना भंग है॥
एक ही समैमैं त्रिधा रूप पै तथापि याकी अखंडित चेतना सकति सरवंग है।
यहै स्यादवाद याकौ भेद स्यादवादी जानै मूरख न मानै जाकौ हियौ दृग भंग है

अब कहते हैं कि अनेक रूपको धारण करनेवाले इस आतमाका अद्‌भुत आश्चर्यकारी विभव हैं....

पृथ्वीछंद

इतो गतमनेकतां दधदितः सदाऽप्येकता-
मितः क्षणविभङ्गुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात्
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-,
रहो सहजमात्मनस्तदिहमद्भुतं वैभवम् ॥१०॥

अर्थ—अहो बडा ही आश्चर्यकारी इस आतमाका वैभव है कि एक तरफ देखनेसे तो अनेकताको धारण करता है (यह पर्याय दृष्टि है) और दूसरी तरफ देखो तो सदाही एकताको धारण करता है (यह द्रव्यदृष्टि है) तथा एक तरफ देखनेसे क्षणभंगुर दीखता है। (यह भी क्रमभावी पर्याय दृष्टि है) एक तरफ देखा जाय तो ध्रुव (स्थिर) दीखता है। (यह सहभावी गुणदृष्टि है) क्योंकि सदा उदय रूप ही दिखता है। एक तरफ देखने पर परम विस्तार रूप दिखता है। (यह ज्ञानकी अपेक्षा सर्वगतदृष्टि है) और एक तरफ देखने पर अपने प्रदेशोंमें ही स्थित दीखता है। (यह प्रदेशोंकी-अपेक्षादृष्टि है) इस प्रकारके आश्चर्यकारी विभवको आत्मा धारण करता है।

विशेषार्थ—यह द्रव्यपर्यायात्मक अनंत धर्मा वस्तुका स्वभाव है सो अज्ञानियोंको तो बडा आश्चर्य पैदा करने वाला है। यह भी एक असंभवती बात है, परंतु ज्ञानी तो स्याद्वाद दृष्टिसे तत्त्वकी

पहिचान करने वाले हैं उनको वस्तुस्वभावमें कोई आश्चर्य नहीं होता है। तो भी अद्भुत परम आनंद ऐसा होता है जैसा कभी पहिले हुवा ही नहीं। यही आश्चर्य है।

निहचै दरवदृष्टि दीजै तब एक रूप गुन परजाइ भेद भावसौं बहुत है।
असंख्य परदेस सजुगत सत्ता परमान ग्यानकी प्रभासौं लोकालोक मानयुत हैं॥
परजै तरंगनिके अंग छिनभगुर है चेतना सकति सौं अखंडित अचुत है।
सो है जीव जगत विनायक जगतसार जाकी मौज महिमा अपार अदभुत है

फिर इसी अर्थके कहनेके लिये काव्य कहते हैं—

कषायकलिरेकतस्स्खलति शान्तिरस्त्येकतो—
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः॥
जगत्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः।
स्वभावमहिमाऽऽत्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः॥११॥

अर्थ–आत्माके स्वभावकी महिमा अद्भुतसे अद्भुत विजयरूप प्रवर्तती है, वह किसीके द्वारा बाधित नहीं होती है। कैसी है महिमा? एक तरफ देखो तो कषायोंका क्लेश दीखता है, दूसरी तरफ देखो तो कषायों का उपशमरूप शांत भाव दीखता है। एक तरफ देखते हैं तो संसार सम्बन्धी पीडा दीखती है, दूसरी तरफ संसारके अभाव रूप मुक्ति स्पर्श करती है। किसी एक तरफ देखते हैं तो केवल एक चैतन्यमात्र ही शोभा दे रहा है। इस प्रकार अद्भुतसे अद्भुत महिमा है। यहां भी ऊपर कहे हुए काव्यके भावार्थके माफिक भाव जानना। इस बात को अन्यवादी (एकांती) सुनकर वडा आश्चर्य करते हैं। उनके चित्तमें ये सब वार्ता विरुद्ध मालूम होती है, उनको इसका समाधानही नहीं होता। कभी उनको इसकी श्रद्धाभी होने लग जाय तो पहिले तो उन्हे वडा अद्भुतसा दीखता है फिर विचार करने लगते हैं कि हमने अनादिकालसे अपना समय व्यर्थ ही

खोया यह जिनेन्द्रका वचन बडा उपकारी है, वस्तुके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराने वाला है इस प्रकार आश्चर्य पूर्वक उसका श्रद्धान करते हैं

विभाव सकति परनतिसौं विकल दीसै सुद्ध चेतना विचार तैं सहज संत है ।
करम संजोगसौं कहावै गति जो निवासी निहचै सुरूप सदा मुकत महंत है ॥
ज्ञायक सुभाउ धरै लोकालोक परगासी सत्ता परमान सत्ता परगासवंत है ।
सो है जीव जानत जहान कौतुक महान जाकी कीरति कहा न अनादि अंनत है

अब टीकाकार इस सर्व विशुद्धज्ञानका अधिकार पूर्ण करते हुए उसका अंत मंगल करनेके लिये इस चिच्चमत्कारको ही सर्वोत्कृष्ट कहते हैं—

मालिनीछंद

जयति सहजतेजःपुञ्जमज्जत्त्रिलोकी-
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः ।
सरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलंभ-
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ॥१२॥

अर्थ—अपने स्वभावरूप तेजःपुंजके प्रकाशमें मग्न होते हुए जो तीन लोकके पदार्थ, उनसे होते दीखते हैं, अनेक विकल्प जिसमें तो भी एकही रूप अनुभवमें आने वाला यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर चैतन्यचमत्कार जयवंतको प्राप्त होता है ।

भावार्थ—केवल ज्ञानमें सभी पदार्थ झलकते हैं, वे अनेक ज्ञेयाकार रूप दीखते हैं । तो भी चैतन्यरूप ज्ञेयाकारकी दृष्टिमें एक रूप ही हैं । फिर कैसा है ? अपने निजरससे भरा हुआ ऐसा, नहीं छेदी है तत्वरूपकी प्राप्ति जिसने अर्थात् प्रतिपक्षी कर्मके अभाव हो जानेसे नहीं प्राप्त किया है स्वभावका अभाव जिसने ऐसा है फिर कैसा है ? प्रसभ-बलात्कार नियम रूप से प्रगट है दीप्ति जिसकी, अपने अनंत वीर्य गुणसे निष्कंप रहनेवाला ऐसा

चिच्चमत्कार जयवन्त है। यहां जयवन्त कहनेसे सर्वोत्कर्ष रूप रहना कहा सो ही मंगल है।

पच परकार ग्यानावरणकौ नास करि,
प्रगटी प्रसिद्ध जग माहि जगमगी है।
ज्ञायक प्रभामैं नाना ज्ञेयकी अवस्था धरि,
अनेक भई पै एकताके रस पगी है॥
या ही भांति रहैगी अनन्तकाल परजंत,
अनन्त सकति फौरि अनन्तसौं लैगी है।
नर देह दवलमैं केवल सरूप सुद्ध,
ऐसी ज्ञान ज्योतिकी सिखा समाधि जगी है।

आगे टीकाकार अपने नामको प्रगट करते हुए आत्मा ही को आशीर्वाद करते हैं—

अविचलितचिदात्मन्यात्मनाऽऽत्मानमात्म–
न्यनवरतनिमग्नं धारयत् ध्वस्तमोहम्॥
उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समन्ता–
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निस्सपत्नस्वभावम् ॥१३॥

अर्थ—जिसमें मरण नहीं तथा जिसके सेवन करनेसे दूसरों का मरण नहीं होता है उसे अमृत कहते हैं। तथा अत्यन्त स्वाद रूप मिष्ट जो हो उसको लोकमें रूढिसे अमृत कहते हैं, ऐसा अमृतमयी चन्द्रमासरीखी ज्योति प्रकाश स्वरूप ज्ञानरूपी आत्मा उदयको प्राप्त हुई। सो यह सब तरफ सब क्षेत्र कालमें देदीप्य-मान प्रकाशरूप होवे। कैसी है आत्म-ज्योति? निश्चल चेतना ही है स्वरूप जिसका ऐसा जो निज आत्मा उसमें आपहीके द्वारा अपने आपको निरंतर मग्न होता हुवा धारण कर रहा है अर्थात् प्राप्त किये हुए स्वभावको कभी नहीं छोडता हुआ है। फिर कैसा है?

नाशको प्राप्त हुवा है मोह जिसका अर्थात् जिसने अज्ञानांधकारको दूर कर दिया है। फिर कैसा है? प्रतिपक्षी कर्मसे रहित है स्वभाव जिसका। फिर कैसा है निर्मल है और पूर्ण है।

यहां आत्माको अमृत ज्योति कहा गया है सो यह लुप्तोपमा अलंकारकी दृष्टिसे कहा है, क्योंकि अमृतचन्द्रवत् ज्योति ऐसे समासमें वत् शब्दका लोप हो गया है तब अमृतचन्द्रज्योति ऐसा शब्द बना है। यदि वत्शब्द न कहा जावे तो अमृचन्द्र रूप ज्योति ऐसा कहा जायगा तब भेदरूपक अलंकार हो जाता है। अमृतचन्द्रज्योति यही आत्माका नाम है, यहां अभेदरूपक अलंकार है। इसके विशेषणोंसे चन्द्रमासे व्यतिरेक भी है। ध्वस्तमोह विशेषण तो अज्ञानांधकार दूर होना बतलाता है, निर्मल पूर्ण विशेषण लांछन रहितपना और पूर्णपना बतलाते हैं, निःसपत्न-स्वभाव विशेषण राहुबिंबसे तथा बादल आदिसे आच्छादित न होना बतलाता है, समंतात् ज्वलन् सर्वक्षेत्र सर्वकालमें प्रताप रूप प्रकाश करना बतलाता है, चन्द्रमा ऐसा नहीं है। अमृतचन्द्र ऐसा टीकाकारने अपना नाम भी जताया है।

इस प्रकार समयसारमें [निजानंद मार्तंड वचनिकामें] साध्यसाधक अधिकार पूर्ण हुआ। यहांतक गाथा ४१४, काव्य २७५ हुए।

सवैया इकतीसा

सरब विशुद्ध ज्ञान रूप सदा चिदानंद—
करता न भोगता न परद्रव्य भावको।
मूरत अमूरत जे आन द्रव्य लोक मांहि—
ते भी ज्ञान रूप नांहि न्यारे न अभावको॥
यहै जानि ज्ञानी जीव आपकूं भजै सदीव—
ज्ञानरूप सुखतूप आन न लगाव को।
कर्म कर्मफलरूप चेतनाकूं दूर टारि—
ज्ञानचेतना अभ्यास करे शुद्ध भावको॥

अब अमृताचार्य कहते हैं कि आत्मामें परसंयोगसे अनेक भाव होते हैं, उनका वर्णन ग्रंथोंमें है, वह सभी वर्णन इस विज्ञानघनमें मग्न हुआ कुछ भी नहीं दीखता है—

यस्माद्द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूत यतोऽत्रान्तरं ।
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः ॥
भुञ्जाना चयतोऽनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलम् ।
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किञ्चिन्न किञ्चित्किल ॥१४॥

अर्थ–जिस परसंयोग रूप बंधपर्याय जनित अज्ञानसे, प्रथम तो अपने और परका द्वैत रूप एक भाव हुआ, फिर द्वैतपनेसे अपने स्वरूपमें अंतर हुआ, बंधपर्याय ही को आपा जाना, फिर उस अंतरके पडनेसे रागद्वेषका परिग्रहण हुवा, उसके होनेसे क्रिया कर्ता कर्म आदि कारकोंसे भेद हुआ, फिर उन क्रिया कारकके भेदसे आत्माकी अनुभूति क्रियाके सम्पूर्ण फलको भोगती हुई खेदखिन्न हुई, यह अज्ञान है, सो इस तरहका अज्ञान अब ज्ञान रूप हुआ है। फिर वह उस विज्ञानघनके समूहमें मग्न होगया सो अब इसको देखो तो कुछ भी नहीं है। यही प्रगट रूपसे अनुभवमें आता है।

भावार्थ–पर संयोगसे ज्ञान ही अज्ञान रूप होगया था, कोई दूसरी वस्तु तो थी नहीं। अब वह अज्ञान ही ज्ञान रूप परिणम गया है इससे अब वह कुछ भी नहीं रहा। इस अज्ञानके निमित्तसे राग, द्वेष, कर्ता, कर्म, सुख, दुख आदि भाव होते थे, सो वे भी विलय गये। एक ज्ञान ही ज्ञान रह गया। तीन कालवर्ती अपने परका सर्व भावोंका आत्मा ज्ञाता दृष्टा हुआ दीखता रहा॥ १४ ॥

जो मैं आपा छांडि दीनौ पररूप गहि लीनौ–
कीनौ न बसेरौ तहां जहां मेरौ थल है।
भोगनिकौ भोगी है करमकौ करता भयौ–

हिरदे हमारे रागद्वेष मोहमल है॥
ऐसी विपरीत चाल भई जो अतीत काल—
सो तौ मेरे क्रियार्का ममताही फल है।
ग्यान दृष्टि भासी भयौ क्रियासौं उदासी वह—
मिथ्या मोह निद्रामैं सुपनकौसो छल है॥१४॥

आगे अमृतचंद्र आचार्य इस ग्रन्थ करनेके अभिमान रूप कषायको दूर करते हुए यथार्थ कहते हैं—

वसंततिलकाछंद

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः॥१५॥

अर्थ—समय—माने आत्मवस्तु अथवा समयप्राभृतनामका शास्त्र, उसकी व्याख्या—व्याख्यान तथा आत्मख्याति नाम की टीका सो वह तो शब्दोंसे की गई है। कैसे हैं शब्द? अपनी ही शक्ति से संसूचित—अच्छी तरह कहा गया जो वस्तुतत्व-यथार्थ स्वरूप—निज आतम रूप अमूर्तीक ज्ञानमात्र, उसमें गुप्त रूप होकर प्रवेश कर रहा है। शब्द तो पुद्गल है वह पुरुषके निमित्तसे वर्ण पद वाक्य रूप होता है उसमें वस्तुके स्वरूपके कहनेकी शक्ति स्वयमेव है, क्योंकि शब्द और अर्थका व्याप्यव्यापक संबंध है। द्रव्यश्रुतकी रचना तो शब्दसे ही हो सकती है, आत्मा तो अमूर्तीक है, वह ज्ञानस्वरूप है, इसलिये आत्मा मूर्तीक पुद्गलकी रचना कैसे कर सकता है? अत एव आचार्यने ऐसा कहा है कि इस समयप्राभृतकी रचना तो शब्दोंने की है। मैं तो मेरे स्वरूपमें लीन हूं, मेरा इसमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है। ऐसा कहनेसे अपने उद्धतपनेका परिहार भी होता है, तथा निमित्त नैमित्तिक व्यवहारसे ऐसा कहा ही जाता है कि अमुक कार्य फलानेने किया है। इस रीति से अमृतचन्द्र आचार्य कृत

(आत्मख्याति) टीका है ही इसी दृष्टिसे पढने सुननेवालोंको उनका उपकार भी मानना चाहिए। क्योंकि इसके पढने सुनने से आत्माका स्वरूप जाना जा सकता है। उसका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करनेसे मिथ्या श्रद्धान ज्ञान आचरण दूर होता है, परम्परासे मोक्षकी प्राप्ति होती है, इसका निरन्तर अभ्यास करना योग्य है। इसप्रकार समयसारके गाथाओं व कलशोंकी टीका समाप्त हुई।

अमृतचन्द्र मुनिराज कृत, पूरन भयौ गिरन्थ ।
समयसार नाटक प्रगट, पंचम गतिको पन्थ ॥

इसको समाप्त करते हुए जयचन्दजी सा. ने एक छन्द लिखा है कि—

कुंदकुद मुनि कियो गाथाबद्ध प्राकृत—
हैं प्राभृत समय सुद्ध आतम दिखावनूं ।
सुधाचंद सूरि करि सस्कृत टीका वर—
आतमख्याति नाम यथातथ्य मन भावनू ॥
देसकी वचनिका मैं लिखो जयचंद पढै—
संक्षेप अरथ अल्पबुद्धिकू पावनूं ।
पढो सुनो मनलाय सुद्ध आतमा लखाय—
ज्ञानरूप गहौ चिदानंद दरसावनु ॥१॥

दोहा—समयसार अविकारका वर्णन कर्ण सुनंत ।
द्रव्य भाव नोकर्म तजि आतमतत्त्व लखंत ॥२॥

अंत मंगलाचरण—

छप्पय— मंगल श्रीअरहंत घातिया कर्म निवारे।
मंगल सिद्ध महंत कर्म आठूं परजारे ॥
आचारज उवझाय साधु मंगलमय सारे ।
दीक्षा शिक्षा देय भव्य जीवनकूं तारे ॥

अठवीस मूल गुण धार जे सर्वसाधु अनगार हैं।
मैं नमू पंच गुरु चरण कूं मंगल हेतु करार है॥

यहां संक्षेपमें बारहवें अधिकारका सक्षेपसा सार लिखा जाता है।

जो साधै सो साधक, जिसकों साधा जाय सो साध्य है। मोक्षमार्गमें "मैं साध्य साधक मैं अबाधक" की नीतिसे आत्मा ही साध्य है और आत्माही साधक है, भेद इतना ही है कि ऊचेकी अवस्था साध्य है और नीचेकी अवस्था साधक है इसलिये केवलज्ञानी अर्हंत सिद्ध पर्याय साध्य और सम्यग्दृष्टि श्रावक साधु अवस्थाए साधक हैं।

अनंतानुबधीकी चौकडी और दर्शनमोहनीय त्रयका उदय न होनेसे सम्यग्दर्शन होता है, और सम्यग्दर्शन प्रगट होनेपर ही जीव उपदेशका वास्तविक पात्र होता है सो मुख्य उपदेश तन, धन, जनसे राग घटाने और व्यसन तथा विषय वासनाओंसे विरक्त होनेका है। जब लौकिक संपत्ति और विषयवासनाओंसे चित्त विरक्त हो जाता है तब इन्द्र अहमिन्द्रकी संपदा भी विरस और सार रहित मालूम होने लगती है, इसलिये संत-जन स्वर्गादिककी चाहना नहीं करते हैं। क्योंकि जहां तक चढकर 'देव इक इन्द्री भया' की उक्तिके अनुसार फिर नीचे पडना पडता है उसे उन्नति नहीं कहते हैं, और जिस सुखमें दुखका समावेष है वह सुख नहीं दुखही है, इससे ज्ञानी पुरुष स्वर्ग और नर्क दोनोंको समानही जानते है।

इस सर्वथा अनित्य ससारमें कोई भी वस्तु तो ऐसी नहीं है जिससे अनुराग किया जावे, क्योंकि भोगोंमें रोग, संयोगमें वियोग, विद्यामें विवाद, शुचिमें ग्लानि, जयमें हार पाई जाती है। कहनेका मतलब इतनाही है कि संसारकी जितनी सुख-

सामग्रियां हैं वे दुखमयही हैं, इससे साताकी सहेली, अकेली उदासीनता जानकर उसकी ही उपासना करनी चाहिये।

यद्यपि नाटक समयसारका कथन समाप्त होगया तो भी गुणस्थानके कथनको इस प्रकरणमें उपयोगी जानकर कविवर बनारसीदासजी विरचित "चतुर्दश गुणस्थानाधिकार" लिखा जाता है।

दोहा—जिन प्रतिमा जिन सारिखी नैंमै बनारसि ताहि।
जाकी भक्ति प्रभाव सौं, कीनौ ग्रंथ निवाहि ॥१॥

अर्थ—जिसकी भक्तिके प्रसादसे यह ग्रंथ निर्विघ्न समाप्त हुआ ऐसी जिनराज सदृश जिन प्रतिमाको पंडित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।

जिनबिम्बका माहात्म्य सवैया इकतीसा—

जाकै मुख दरससौं भगतके नयननिको
स्थिरताकी बानि बढै चंचलता विनसी।
मुद्रा देखि केवलीकी मुद्रा याद आवे जहां
जाके आगे इन्द्रकी विभूति दीसै तिनसी॥
जाकौ जस जपत प्रकास जाके हिरदैमैं
सोइ सुद्ध मति होइ हुती जो मलीनसी।
कहत बनारसी सु महिमा प्रगट जाकी
सो है जिनकी छवी सुविद्यमान जिनसी॥ २॥

अर्थ—जिसके मुखका दर्शन करनेसे भक्तजनोंके नेत्रोंकी चंचलता नष्ट होती है और स्थिर होनेकी आदत बढती है अर्थात् एकदम टकटकी लगाकर देखने लगते हैं, जिस मुद्राके देखनेसे केवली भगवानका स्मरण होजाता है, जिसके सामने सुरेन्द्रकी संपदा भी तिनके के समान तुच्छ मालूम होने लगती है, जिसके गुणोंका गान करनेसे हृदयमें ज्ञानका प्रकाश होता है और जो बुद्धि मलीन थी वह पवित्र होजाती है। पं. बनारसीदासजी कहते हैं कि जिनराजके प्रतिबिम्बकी प्रत्यक्ष महिमा है, जिनेन्द्र की मूर्ति साक्षात जिनेन्द्रके समान सुशोभित होती है।

जिनमूर्ति पूजकोंकी प्रशंसा सवैया इकतीसा—

जाके उर अन्तर सुदृष्टिकी लहर लसी
विनसी मिथ्यात मोह निद्राकी ममारखी।
शैली जिन शासनकी फैली जाकै घट भयौ
गरवकौ त्यागि षट दरवकौ पारखी॥
आगमके अच्छर परे है जाकै श्रवनमें
हिरदै भडारमें समानी वानी आरखी।
कहत बनारसी अलप भव थिति जाकी
सोई जिन प्रतिमा प्रवाने जिन सारखी॥३॥

अर्थ—पंडित बनारसीदास कहते हैं कि जिसके अन्तरंगमें सम्यग्दर्शन की तरंग उठकर मिथ्यामोहनीय जनित निद्राकी असावधानी नष्ट होगई है, जिनके हृदयमें जैनमतकी पद्धति प्रगट हुई है, जिन्होंने मिथ्याभिमानका त्याग किया जिन्हें छः द्रव्यों के स्वरूपकी पहिचान हुई है, जिन्हें अरहन्त कथित आगमका उपदेश श्रवणगोचर हुआ है, जिनके हृदयरूप भण्डारमें जैन ऋषियोंके वचन प्रवेश कर गये हैं, जिनका संसार निकट आया है वे ही जिन प्रतिमा को जिनराज सदृश मानते हैं।

प्रतिज्ञा चौपाई

जिन प्रतिमा जन दोष निकंदै, सीस नमाइ बनारसि बंदै।
फिरि मनमांहि विचारै ऐसा, नाटक गिरंथ परम पद जैसा ॥४॥
परम तत्त परचै इस मांही, गुनथानककी रचना नांही
यामैं गुनथानक रस आनै, तो गिरंथ अति सोभा पावै ॥५॥

अर्थ–जिनराजकी प्रतिमा भक्तोंके मिथ्यात्वको दूर करती है उस जिन प्रतिमाको पंडित बनारसीदासजीने नमस्कार करके मनमें ऐसा विचार किया कि यह नाटक समयसार ग्रंथ परम पद रूप है और इसमें आत्मतत्वका व्याख्यान तो है, परंतु इसमें गुणस्थानोंका वर्णन नहीं है। यदि इसमें गुणस्थानोंकी चर्चा संमिलित हो तो ग्रंथ बहुत ही उपयोगी हो सकता है ॥४५॥

दोहा–इह विचारि संछेपसौं गुनथानक रस चोज।
बरनन करै बनारसी कारन सिव पथ खोज ॥६॥
नियत एक विवहारसौं जीव चतुर्दश भेद।
रंगजोग बहुविधि भयौ ज्यौं पट सहज सुफेद ॥७॥

अर्थ—यह सोचकर पण्डित बनारसीदासजी सिवमार्ग खोजनेमें कारन मूल गुणस्थानोंका संक्षेप वर्णन करते हैं। जीव पदार्थ निश्चयनयसे एक रूप है और व्यवहारनयसे गुणस्थानोंके भेदसे चौदह प्रकारका है। जिस प्रकार सफेद वस्त्र रंगोके संयोगसे अनेक रंगका हो जाता है, उसी प्रकार मोह और योगके संयोगसे संसारी जीवोंमें चौदह अवस्थाएं पाई जातीं हैं ॥७॥

चौदह गुणस्थानोंके नाम—सवैया इकतीसा

प्रथम मिथ्यात दूजौ सासदन तीजौ मिश्र,
चतुर्थ अव्रत पंचमौ विरतरच है।
छट्टो परमत नाम सातमौ अपरमत,
आठमौं अपूरवकरन सुख संच है॥

नौमो अनिविरति मान दशमों सूच्छम लोभ,
एकादशमों सु उपसांतमोहवंच है।
द्वादसमों खीनमोह तेरहों सजोगी जिन,
चौदहों अजोगी जाकी तिथि अंक पच है ॥८॥

अर्थ—पहला मिथ्यात्व, दूसरा सासादन, तीसरा मिश्र, चौथा–अविरत सम्यग्दृष्टि, पांचवां देसविरत, छटवां प्रमत्तमुनि, सातमां अप्रमत्त मुनि, आठवां अपूर्वकरन, नवमां अनिवृत्तिकरण, दशवां सूक्ष्म-लोभ, ग्यारहवां उपशांतमोह, बारहवां क्षीणमोह, तेरहवां सयोगी जिन और चौदहवां अयोगी जिन, जिसकी स्थिति अ इ उ ऋ ऌ इन पांच अक्षरोंके उच्चारनके कालके बराबर है।

मिथ्यात्व गुणस्थानका वर्णन। दोहा—

वरने सब गुणथानके नाम चतुर्दश सार।
अब बरनौं मिथ्यातके भेद पंच परकार ॥९॥

अर्थ–गुणस्थानोंके चौदह मुख्य नाम बतलाये गये अब पांच प्रकारके मिथ्यात्वका वर्णन करते हैं।

मिथ्यात गुणस्थानमें पांच प्रकारके मिथ्यात्वका उदय रहता है। —सवैया इकतीसा—

प्रथम एकांत नाम मिथ्यात अभिग्रहीत,
दूजौ विपरीत अभिनिवसिक गोत है।
तीजौ विनयी मिथ्यात अनभिग्रह नाम जाकौ,
चौथौ संसै जहां चित भौंरकौसौ होत है।
पांचमौं अग्यान अनाभोगिक गहल रूप,
जाकै उदै चेतन अचेतनसौ होत है।
एई पांचौं मिथ्यात जीवकौं जगमैं भ्रमावैं,
इनकौ विनास समकितकौ उदोत है ॥१०॥

अर्थ–पहला अभिग्रहीत अर्थात् एकांत मिथ्यात्व है, दूसरा अभिनिवेषिक अर्थात् विपरीत मिथ्यात्व है, तीसरा अनभिग्रह अर्थात् विनय मिथ्यत्व है, चौथा चित्तको भँवरमें पडे हुए जहाज के समान डाँवाडोल करनेवाला संशय मिथ्यात्व है, पाँचवाँ अनाभोगिक अर्थात् अज्ञान मिथ्यात्व ये पांचों मिथ्यात्व जीवको संसारमें भ्रमण कराते हैं और इनके नष्ट होनेसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

एकान्तमिथ्यात्वका स्वरूप—

दोहा–जो एकान्तनय पच्छ गहि छकै कहावै दच्छ।
सो इकंतवादी पुरुष मृषावंत परतच्छ ॥११॥

अर्थ–जो किसी एकनयका हठ ग्रहण करके उसीमें लीन होकर अपनेको तत्त्ववेत्ता कहता है वह पुरुष एकान्तवादी साक्षात् मिथ्यत्वी है।

विपरीतमिथ्यात्वका स्वरूप—

दोहा–ग्रंथ उकत पथ उथपि जो थापै कुमत स्वकीउ।
सुजस हेतु गुरुता गहै सो विपरीती जीउ ॥१२॥

अर्थ–जो आगम कथित मार्गका खंडन करके स्नान छुवाछूत आदिमें धर्म बतलाकर अपना कपोल कल्पित पाखंड पुष्ट करता है व अपनी नामवरीके लिए बडा बना फिरता है वह जीव विपरीतमिथ्यात्वी है ॥१२॥

विनयमिथ्यत्वका स्वरूप—

दोहा–देव कुदेव सुगुरु कुगुरु ठानै समान जु कोइ।
नमैं भगतिसौं सबनिकौं विनै मिथ्याती सोइ ॥१३॥

अर्थ–जो सुदेव कुदेव, सुगुरु कुगुरु, सच्छास्त्र कुशास्त्र, सबको एकसा गिनता है और विवेक रहित सबकी भक्ति वंदना करता

है वह जीव विनय मिथ्यात्वी है ॥१३॥

संशयमिथ्यत्वका स्वरूप—

दोहा जो नाना विकलप गहै रहै हियै हैरान ।
थिर ह्वै तत्त्व न सद्दहै सो जिय संसयवान ॥१४॥

अर्थ–जो जीव अनेक कोटि का अवलंबन करके चंचल चित्त रहता है और स्थिर चित्त होकर पदार्थ का यथार्थ श्रद्धान नहीं करता है वह संशय मिथ्यादृष्टि है ॥१४॥

अज्ञानमिथ्यात्वका स्वरूप—

दोहा–जाकौ तन दुख दहलसौं सुरत होत नहिं रंच ।
गहल रूप वरतै सदा सो अग्यान तिरयंच ॥१५॥

अर्थ–जिसको शारीरिक कष्टके उद्वेगसे किंचित मात्रभी सुध नहीं है और जो सदैव तत्वज्ञानसे अनभिज्ञ रहता है वह जीव अज्ञानी पशुके समान है। उसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि कहते हैं ॥१५

मिथ्यात्वके दो भेद हैं—

दोहा—पंच भेद मिथ्यात्वके कहै जिनागम जोइ ।
सादि अनादि सरूप अब कहूं अवस्था दोइ ॥१६॥

अर्थ–जैन शास्त्रोंमें ऊपर कहे अनुसार पांच तरहके मिथ्यात्व कहे गये हैं व सादि और अनादि के भेदसे दो तरहके होते हैं इसलिये उन दोनोंका स्वरूप कहा जाता है ॥१६॥

सादिमिथ्यात्वका स्वरूप—

दोहा–जो मिथ्या दल उपसमैं ग्रन्थि भेदि बुध होइ ।
फिर आवै मिथ्यातमैं सादि मिथ्याती सोइ ॥१७॥

अर्थ—जो जीव दर्शनमोहनीका दल अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्वका उपशम करके मिथ्यात्व गुणस्थानसे छूटकर सम्यक्त्वका स्वाद लेता है और फिर सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यात्व का अवलंबन करता है

वह जीव सादि मिथ्यादृष्टि है ॥१७॥

अनादिमिथ्यत्व का स्वरूप——

दोहा—जिन ग्रंथी भेदी नहीं ममता मगन मदीव ।
सो अनादि मिथ्यामती विकल वहिर्मुख जीव ॥१८॥

अर्थ—जिसने अनादि कालसे लेकर अब तक कभी भी दर्शनमोहनीयका उपशम नहीं किया हमेश ही शरीर धन जनादि पर पदार्थोंमें ममत्वबुद्धि रखता आया है, वह पूर्ण आत्मज्ञानसे शून्य जीव अनादि मिथ्यादृष्टि है ॥१८॥

इस तरह संक्षेपमें मिथ्यात्व गुणस्थानका स्वरूप कहा गया है—

अब सासादन गुणस्थानका स्वरूप कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं-

दोहा—कह्यौ प्रथम गुनथान यह मिथ्यामत्त अभिधान ।
करूं अलप वरनन अबै सासादन गुनथान ॥१९॥

अर्थ—इससे पहिले मिथ्यात्व गुणस्थानका स्वरूप कहा अब संक्षेपमें सासादन गुणस्थानका वर्णन करते हैं सो ध्यानसे एक चित्त होकर सुनो ॥१९॥

सवैया इकतीसा

जैसैं कोऊ छुधित पुरुष खाइ खीर खांड
वौन करै पीछेकौ लगार स्वाद पावै है ।
तैसैं चढि चौथे पांचए कै छट्ठे गुनथान
काहू उपक्षमीकौ कषाय उदै आवै है ॥
ताही समै तहांसौं गिरै प्रधान दसा त्यागि
मिथ्यात अवस्थाकौं अधोमुख ह्वै धावै है ।
वीचि एक समै वा छैआवली प्रवान रहै
सोई सासादन गुनथानक कहावै है ॥२॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई भूखा मनुष्य शक्कर मिली हुई खीर खावे और बादमें वमन कर देवे तो वमन होनेके बाद उस-

का किंचित् मात्र स्वाद लेता रहे। उसी प्रकार चौथे पांचवें छठवें गुणस्थान तक चढे हुए किसी उपशमी सम्यग्दृष्टिको अनंतानुबंधी चौकडीमेंसे किसी एक कषायका उदय आजावे तो वह जीव उसी समय सम्यक्त्वसे गिरता है और उस गिरती हुई दशामें एक समय और अधिकसे अधिक छह आवली तक जो सम्यक्त्व-का किंचित् स्वाद मिलता है उसको सासादन गुणस्थान कहते हैं।

विशेष—उपशम सम्यक्त्वका समय अंतर्मुहूर्त प्रमाण होता है उसके बाद वह छूटताही है। तो किसी जीवका जब इस सम्यक्त्वके कालमें कमसे-कम एक समय और ज्यादासे-ज्यादा छह आवली प्रमाण अवशेष रहता है तभी अनंतानुबंधी कषायकी किसी प्रकृतिके उदय आजानेपर वह जीव नियमसे सम्यक्त्वसे गिरकर मिथ्यात्वके सन्मुख होता है, ऐसी स्थितिमें है कि सम्य-क्त्वसे तो गिर गया और मिथ्यात्व भूमिमें पहुंचा नहीं है, बीच रास्तेमें है, ऐसे परिणामोंको सम्यक्त्वकी विराधना सहित रहनेसे सासादन कहते हैं। यहां मिथ्यात्वका अव्यक्त उदय होता है और भावमें दर्शनमोहकी अपेक्षा तो पारिणामिकभाव होता है और अनंतानुबंधीके उदयकी अपेक्षा औदयिकभाव होता है।

अब तीसरे गुणस्थानकके कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

दोहा—सासादन गुणथान यह भयौ समापत वीय।
मिश्र नाम गुणथान अब वरनन करूं तृतीय ॥२१॥

अर्थ—इस प्रकार दूसरे सासादन गुणस्थानका स्वरूप समाप्त हुआ अब तीसरे मिश्र नामके गुणस्थानका स्वरूप कहते हैं—

उपसमी समकिती कै तौ सादि मिथ्यामती
दुहुंनिकौं मिश्रित मिथ्यात आइ गहै है।
अनंतानुबंधी चौकरीको उदै नाहि जामैं
मिथ्यात समै-प्रकृति मिथ्यात न रहै है॥

जहां सद्दहन सत्यासत्य रूप समकाल
ग्यानभाव मिथ्याभाव मिश्र धारा बहै है ।
जाकी थिति अन्तर मुहूरत उभयरूप
ऐसौ मिश्र गुणथान आचारज कहैं हैं ॥२२॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि उपसम सम्यग्दष्टि अथवा सादि मिथ्यादृष्टि जीवको यदि मिश्र मिथ्यात्व नामक कर्म प्रकृतिका उदय हो जाय और अनंतानुबधीकी चौकडी तथा मिथ्यात्व मोह-नीय और सम्यक्त्व मोहनीय इन छह प्रकृतियोंका उदय न हो वहां एक साथ सत्यासत्य श्रद्धान रूप ज्ञान और मिथ्यात्व मिले भाव रहते हैं, वह मिश्र गुणस्थान है, इसका काल अन्तर्मुहूर्त है यहां गुडमिश्रित दहीके समान सत्यासत्य भाव होते हैं ।

चौथे गुणस्थानके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा—

दोहा—मिश्र दसा पूरन भई कही यथामति भाखि ।
अब चतुर्थ गुणथान विधि कहौं जिनागम साखि ॥

अर्थ—अपने क्षयोपशमके अनुसार मिश्र गुणस्थानका वर्णन किया अब जिनागमकी साक्षी पूर्वक चौथे गुणस्थानका वर्णन करता हूं—

केई जीव समकित पाइ अर्ध पुदगल
परावर्त काल ताईं चोखे होइ चितके ।
केई एक अन्तर्मुहूर्तमैं गंठि भेदि
मारग उलंघि सुख वेदै मोख वितके ॥
तातैं अन्तरमुहूरतसौं अर्ध पुदगललौं
जेते समे होंहि तेते भेद समकितके ।
जाही समय जाकौं जब समकित होइ सोइ
तबही सौं गुन गहै दोस दहै इतके ॥२४॥

अर्थ—जिस किसी जीवका संसार भ्रमणका काल अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गल परावर्तन और कमसे कम अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है वह निश्चय सम्यग्दर्शन ग्रहण करके चतुर्गति रूप संसारको पार करने वाले मोक्ष सुखकी वानगी लेता है। अन्तर्मुहूर्तसे लगाकर अर्ध पुद्गल परावर्तन कालके जितने समय हैं उतने ही सम्यक्त्व के भेद हैं।
जिस समय जीवको सम्यक्त्व प्रगट होता है तभीसे आत्मगुण प्रगट होने लगते हैं और सांसारिक दोष नष्ट होजाते हैं।

दोहा— अध अपुव्व अनिवृत्ति त्रिक करन करै जो कोइ।
मिथ्या गंठि विदारि गुन प्रगटै समकित सोइ ॥२५॥

अर्थ— जो अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण पूर्वक मिथ्यात्वका अनोदय करता है उसे आत्मानुभव गुण प्रगट होता है और वही सम्यक्त्व है ॥ २५ ॥

सम्यक्त्वके आठ विवरण—

दोहा—समकित उतपति चिहन गुन भूषन दोष विनास।
अतीचार जुत अष्ट विधि वरनौं विवरन तास ॥२६॥

अर्थ—सम्यक्त्वका स्वरूप, उत्पत्ति, चिन्ह, गुण, भूषण, दोष, नाश और अतीचार ये सम्यक्त्वके आठ विवरण हैं।

सम्यक्त्वका स्वरूप—चौपाई

सत्य प्रतीति अवस्था जाकी दिन दिन रीति गहै समताकी।
छिन छिन करै सत्यकौ साकौ समकित नाम कहावै ताकौ ॥२७॥

अर्थ—आत्म स्वरूपकी सत्य प्रतीति होना, दिन प्रतिदिन समता भावमें उन्नति होना, और क्षण-क्षणपर परिणामोंकी विशुद्धि होना इसीका नाम सम्यग्दर्शन है ॥२७॥

सम्यक्त्वकी उत्पत्ति

दोहा—कै तो सहज सुभाउकै उपदेशै गुरु कोइ।

चहुगति सैनी जीवुकौ सम्यकदर्शन होइ ॥२८॥

अर्थ–चतुर्गतिमें सैनी जीवको सम्यग्दर्शन प्रगट होता है सो अपने आप अर्थात् निसगज और गुरुके उपदेशसे अर्थात अधिमगज होता है ॥२८॥

सम्यक्त्वके चिन्ह—

आपा परचै निज विषैं उपजै नहिं संदेह ।
सहज प्रपच रहित दसा समकित लच्छन एह ॥२९॥

अर्थ—अपनेमें ही आत्मस्वरूपका परिचय पाता है, कभी संदेह नहीं उपजता, और छल कपट रहित वैराग्यभाव रहता है यही सम्यग्दर्शनका चिन्ह है ॥२९॥

सम्यग्दर्शनके आठ गुण—

दोहा—करुणा वच्छल सुजनता आतम निंदा पाठ ।
समता भगति विरागता धर्मराग गुण आठ ॥३०॥

अर्थ—करुणा, मैत्री, सज्जनता, स्वलघुता, समता, श्रद्धा, उदासीनता और धर्मानुराग ये सम्यक्त्वके आठ गुण हैं ॥३०॥

सम्यक्त्व पांच भूषण । दोहा–

चितप्रभावना भावजुत हेय उपादै वानि ।
धीरज हरखप्रवीनता भूपन पंच वखानि ॥३१॥

अर्थ - जैनधर्मकी प्रभावना करनेका अभिप्राय, हेय-त्यागने योग्य उपादेय-ग्रहण करने लायक का विवेक, धीरज-विकार होने के हेतुके मिलनेपर विकार न होने देना, सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका हर्ष और तत्त्वविचारमें चतुराई ये पांच सम्यग्दर्शनके भूषण हैं ॥३१॥

सम्यग्दर्शन पच्चीस दोष वर्जित होता है । दोहा–

अष्ट महामद अष्ट मल षट अनायतन विशेप ।

तीन मूढता संजुगत दोष पच्चीसों एष ॥३२॥

अर्थ—आठ मद, आठ मल, छह अनायतन और तीन मूढता ये सब पच्चीस दोष होते हैं।

आठ मदके नाम। दोहा—

जाति, लाभ, कुल, रूप, तप, बल विद्या अधिकार।
इनको गरब न कीजिये यह मद अष्ट प्रकार ॥३३॥

अर्थ—जाति, धन, कुल, रूप, तप, विद्या और अधिकार इनका गर्व करना यह आठ प्रकारका महामद है।

आठ मलोंके नाम। चौपाई—

आशंका अस्थिरता वांछा ममता दृष्टि दसा दुरगंछा।
वच्छल रहित दोष पर भाखै चित प्रभावना माहिं न राखै ॥

अर्थ—जिन वचनमें संदेह, आत्मस्वरूपसे चिगना, विषयों की अभिलाखा, शरीरादिसे ममत्व, अशुचिमें ग्लानि, साधर्मियों से द्वेष, दूसरोंकी निन्दा, ज्ञानकी वृद्धि आदि धर्म प्रभावनाओंमें प्रमाद ये आठ मल सम्यग्दर्शनको दूषित करनेवाले हैं ॥३४॥

छह अनायतन। दोहा—

कुगुरु कुदेव कुधर्म धर कुगुरु कुदेव कुधर्म।
इनकी करै सराहना यह षडायतन कर्म ॥ ३५॥

अर्थ—कुगुरु, कुदेव, कुधर्मके उपासकों और कुगुरु, कुदेव, कुधर्मकी प्रशंसा करना ये छह अनायतन हैं।

तीन मूढताके नाम और पच्चीस दोषोंका जोड। दोहा—

देवमूढ गुरुमूढता, धर्ममूढता, पोष।
आठ, आठ, षट् तीन मिलिये पच्चीस सब दोष ॥३६॥

अर्थ..देवमूढता—अर्थात् सच्चे देवका स्वरूप नहीं जानना, गुरुमूढता अर्थात् निर्गंथ सच्चे गुरुका स्वरूप नहिं पहिचानना, और धर्ममूढता—अर्थात जिन भाषित धर्मका स्वरूप नहीं समझना।

ये तीन मूढता हैं। आठ मद, आठ मल, छह अनायतन तथा तीन मूढता सब मिलाकर पच्चीस दोष हुए ॥ ३६ ॥

पांच कारणोंसे सम्यक्त्वका विनाश होता है। दोहा—

ज्ञान गरव मति मन्दता निठुर वचन उदगार।
रुद्र भाव आलस दसा नाश पंच परकार ॥ ३७ ॥

अर्थ–ज्ञानका अभिमान, बुद्धिकी हीनता, निर्दय वचन बोलना, क्रोधी परिणाम और प्रमाद ये पांच सम्यक्त्वके घातक हैं ॥ ३७ ॥

सम्यग्दर्शनके पांच अतीचार। दोहा–

लोक हास भय भोग रुचि अग्र सोच थिति मेव।
मिथ्या आगमकी भगति मृषादर्शनी सेव ॥ ३८ ॥

अर्थ–लोक हास्यका भय अर्थात् सम्यक्त्व रूप प्रवृत्ति करने में लोगोंकी हंसीका भय, भोग रुचि– इन्द्रियोंके विषय भोगनिमें अनुराग, आगामी कालकी चिंता, कुशास्त्रों की भक्ति और कुदेवों की सेवा ये सम्यग्दर्शनके पांच अतीचार हैं ॥ ३८ ॥

चौपाई–अतीचार ये पंच परकारा, समल करहिं समकितकी धारा।
दूसन भूषन गति अनुसरनी, दसा आठ समकितकी वरनी ॥

अर्थ—ये पांच प्रकारके अतीचार सम्यग्दर्शनकी उज्ज्वल परिणतिको मलीन करते हैं। यहां तक सम्यग्दर्शनको सदोष वा निर्दोष दशा प्राप्त करनेवाले आठ विवरणों का वर्णन किया ।३९।

मोहनीय कर्मोंकी सात प्रकृतियोंके अनोदयसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है

दोहा–प्रकृति सात अब मोहकी कहूं जिनागम जोइ।
जिनको उदय निवारकैं सम्यग्दर्शन सोइ ॥ ४० ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मकी जिन सात प्रकृतियोंके अनोदयसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उन्हें जिन शासनके अनुसार कहताहूं।

मोहनीय कर्मकी सात प्रकृतियोंके नाम। सवैया इकतीसा—

चारितमोहकी चारि मिथ्यातकी तीन तामैं
प्रथम प्रकृति अनन्तानुबन्धी कोहनी।
बीजी महा मान रस भीजी मायामई तीजी
चौथी महालोभ दसा परिग्रह पोहनी॥
पांचईं मिथ्यातमती छटी मिश्र परिनति
सांतई समै प्रकृति समकित मोहनी।
येही षट विगवनितासी एक कुतियासी
सातों मोह प्रकृति कहावै सत्ता रोहनी॥४१॥

अर्थ—सम्यक्त्वकी घातक चारित्रमोहनीयकी चार और दर्शनमोहनीयकी तीन ऐसी सात प्रकृतियां हैं, उनमें पहिली अनंतानुबंधी क्रोध, दूसरी अभिमानके रंगसे रंगी हुई अनंतानुबंधी मान, तीसरी अनंतानुबंधी माया, चौथी परिग्रहको पुष्ट करनेवाली अनंतानुबंधी लोभ, पांचवीं दर्शनमोहनीयका मिथ्यात्व छटवीं मिश्रमिथ्यात्व और सातवीं सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व। इनमेंसे छह प्रकृतियां व्याघ्रिनीके समान सम्यक्त्वके पीछे पडकर भक्षण करनेवाली है। और सातवीं कुतिया अर्थात् कुत्ती वा कर्कशा स्त्रीके समान सम्यक्त्वको सकंप वा मलिन करनेवाली है। इस प्रकार ये सातों प्रकृतियां सम्यक्त्वके सद्भावको रोकतीं हैं॥४१॥

चारित्रमोहनीय—जो आत्माके चारित्र गुणका घात करे। अनंतानुबंधी—जो आत्माके स्वरूपाचरण चारित्रको घाते अर्थात् अनंत संसारके कारणभूत मिथ्यात्वके साथ जिनका बंध होता है। दर्शनमोहनीय-जो आत्माके दर्शन गुणका घात करे अर्थात्- सम्यग्दर्शनको न होने दे।

सम्यक्त्वों के नाम। छप्पयछंद—

सात प्रकृति उपशमहि जासु सो उपशम मंडित।

सात प्रकृति छय करनहार छायिकी अखंडित।
सात मांहि कछु खपै कछुक उपशम करि रक्खै।
सो छय उपशमवंत मिश्र समकित रस चक्खै॥
षट प्रकृति उपसमैं वा खपै अथवा छय उपसम करै।
सातई प्रकृति जाके उदय सो वेदक समकित धरै॥४२॥

अर्थ—जो ऊपर कही हुई सातों प्रकृतियोंको उपशमाता है वह औपशमिक सम्यग्दृष्टि है। सातों प्रकृतियोंका क्षय करने वाला क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहलाता है, यह सम्यक्त्व कभी नष्ट नहीं होता है। सात प्रकृतियोंमेंसे कुछ क्षय हों और कुछ उपशम हों तो वह क्षयोपशमसम्यक्त्वी है। उसे सम्यक्त्वका मिश्ररूप स्वाद आता है। छह प्रकृतियां उपशम हों वा क्षय हों अथवा कोई क्षय और कोई उपशम हो केवल सातवीं सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय हो तो वह वेदक सम्यक्त्वधारी होता है॥४२॥

सम्यक्त्वके नव भेदोंका वर्णन। दोहा—

छय उपक्षम वरतै त्रिविध वेदक चारि प्रकार।
छायक उपशम जुगल जुत नौधा समकित धार॥४३॥

अर्थ—क्षयोपशम सम्यक्त्व तीन प्रकारका है, वेदक सम्यक्त्व चार प्रकारका है। उपशम तथा क्षायिक सम्यक्त्व ये दो भेद और मिलानेसे सम्यक्त्वके नव भेद होते हैं।

क्षयोपशमसम्यक्त्वके तीन भेदोंका वर्णन। दोहा—

चार खिपैं त्रय उपशमैं पन छै उपसम दोइ।
छै षट् उपसम एक यौं छह उपसम त्रिक होइ॥४४॥

अर्थ—(१) अनंतानुबंधी चौकडीका क्षय और दर्शनमोहनीय त्रयका उपशम (२)अनंतानुबंधी चौकडी और महामिथ्यात्व इन पांचका तो क्षय हो और दर्शनमोहकी मिश्र और सम्यक्त्वमोहनीय इन दो प्रकृतियोंका उपशम (३)अनंतानुबंधी चौकडी,

महामिथ्यात्व और मिश्र इन छह प्रकृतियोंका तो क्षय हो और एक सम्यक्त्व प्रकृतिको उपशम इस प्रकार क्षयोपशम सम्यक्त्व के तीन भेद होते हैं।

वेदक सम्यक्त्वके चार भेद। दोहा—

जहां चारि परकिति खिपहिं द्वय उपशम इक वेद।
क्षय उपसम वेदक दसा तासु प्रथम यह भेद ॥४५॥
पंच खिपै इक उपशमै इक वेदै जिहि ठौर।
सो छय उपसम वेदकी दसा दुतिय यह और ॥४६॥
छह षट वेदे एक जौ छायक वेदक सोय।
षट उपसम इक प्रकृति विद उपशम वेदक होय ॥४७॥

अर्थ—(१) जहां अनंतानुबधीकी चौकडी का क्षय हो, दोका उपशम और एक सम्यकत्व प्रकृतिका उदय हो उसको प्रथम क्षयोपशमवेदक सम्यक्त्व कहते हैं। (२) जहां अनंतानुबंधी चौकडी और महामिथ्यात्व इन पांच प्रकृतियोंका क्षय एक मिश्र-मिथ्यात्वका उपशम और एक सम्यकप्रकृतिका उदय हो वह द्वितीय क्षयोपशम वेदक सम्यक्त्व है। (३) जहां अनन्तानुबन्धी चतुष्क तथा महामिथ्यात्व और मिश्रप्रकृति इन छः प्रकृतियों का क्षय और एक सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय है वह तृतीय क्षयो पशम वेदक सम्यक्त्व है (४) जहां छह प्रकृतियों अर्थात् अनंता-नुबन्धी चतुष्क और मिथ्यात्व एवं मिश्रप्रकृति इनका तो उपशम हो और सम्यकप्रकृति मिथ्यात्व का उदय हो वह उपशमवेदक सम्यक्त्व है ॥४५॥४६॥४७॥

यहा क्षायिक और उपशमसम्यक्त्वका स्वरूप न कहनेका कारण। दोहा—

उपशम छायिककी दसा पूरब षट पद मांहि।
कही प्रगट अब पुनरुक्ति कारन वरनी नांहि ॥४८॥

अर्थ—क्षायिक और उपशम सम्यक्त्वका स्वरूप पहिले

४२वें छप्पय छन्दमें कह आये हैं, इसलिये पुनरुक्ति दोषके कारण यहां नहीं लिखा ॥४८॥

अब नव प्रकारके सम्यक्त्वोंका विवरण । दोहा-

क्षय उपशम वेदक खिपक उपशम समकित च्यारि ।
तीन चारि इक इक मिलत सब नव भेद विचारि ॥५०॥

अर्थ-क्षयोपशम सम्यक्त्व तीन प्रकारका, वेदक सम्यक्त्व चार प्रकारका और उपशम सम्यक्त्व एक तथा क्षायिक सम्यक्त्व एक, इस प्रकार सम्यक्त्वके मूल भेद चार और उत्तरभेद नव हैं।

प्रतिज्ञा । सोरठा-

अव निहचै विवहार, अरु सामान्य विशेष विधि ।
कहौं चारि परकार रचना समकित भूमिकी ॥ ५० ॥

अर्थ-सम्यक्त्व सत्ताकी निश्चय, व्यवहार, सामान्य और विशेष ऐसे चार विधि कहते हैं ॥५०॥

अब सम्यत्वके चार प्रकार । सवैया इकतीसा—

मिथ्यामति गंठि भेदि जगी निरमल जोति
जोगसैां अतीत सौं तो निहचै प्रमानियै ।
वहै दुंद दसासौं कहावै जोग मुद्रा धरै
मति श्रुतज्ञान भेद बिवहार मानियै ॥
चेतनाचिहन पहिचानि आपापर वेदै
पौरुष अलख तातैं सामान्य वखानियै ।
करै भेदाभेदकौ विचार विस्तार रूप
हेय ज्ञेय उपादयसौं विशेष जानियै ॥ ५१ ॥

अर्थ-मिथ्यात्वके नष्ट होनेसे मन वचन कायके अगोचर जो आत्माकी निरविकार श्रद्धानकी जोति प्रकाशित होती है, उसे निश्चय सम्यक्त्व जानना चाहिये। जिसमें योग, मुद्रा, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिके विकल्प हैं, वह व्यवहार सम्यक्त्व

जानना चाहिये। ज्ञानकी अल्प शक्तिके कारण मात्र चेतना चिन्हके धारक आत्माको पाहिचान कर निज और परके स्वरूपका जानना सो सामान्य सयम्क्त्व है, और हेय ज्ञेय उपादेयके भेदाभेदको सविस्तार रूपसे समझाना सो विशेष सम्यक्त्व है।

चतुर्थ गुणस्थानके वर्णनका उपसंहार। सोरठा—

तिथि सागर तेतीस अंतरमुहूरत एक वा।
अविरत समकित रीति यह चतुर्थ गुनथान इति ॥ ५२ ॥

अर्थ—अविरत सम्यक्दृष्टि गुणस्थानकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर और जघन्य स्थिति अंतरमुहूर्त की है। यह चौथे गुणस्थान का कथन समाप्त हुआ।

अणुव्रत गुणस्थानका वर्णन। दोहा—

अब वरनूं इकईस गुन अरु बाइस अभक्ष।
जिनके संग्रह त्यागसैं सोभै श्रावक पक्ष ॥ ५३ ॥

अर्थ—जिन गुणोंके ग्रहण करने और अभक्ष्योंके त्यागकरने से श्रावकका पांचवां गुणस्थान सुशोभित होता है, ऐसे इक्वीस गुण और बाईस अभक्ष्योंका वर्णन करता हूं ॥५३॥

श्रावकोंके इक्कीस गुण वर्णन। सवैया इकतीसा—

लज्जावन्त दयावन्त प्रसंत प्रतीतिवन्त
पर दोषकौ ढकैया पर उपगारी है।
सौम्यदृष्टि गुनग्राही गरिष्ट सबकौ इष्ट
शिष्ट पक्षी मिष्टवादी दीरघ विचारी है ॥
विशेषज्ञ रसज्ञ कृतज्ञ तज्ञ धर्मज्ञ
न दीन न अभिमानी मध्य विवहारी है।
सहज विनीत पाप किरियासौं अतीत ऐसी
श्रावक पुनीत इक्कीसगुनधारी है ॥५४॥

अर्थ—लज्जा, दया, मंदकषाय, श्रद्धा, दूसरोंके दोष ढाकना

परोपकार, सौम्यदृष्टि, गुणग्राहकता, सर्वप्रियता, सत्यपक्ष, मिष्टवचन, अग्रसोची, विशेष ज्ञान, शास्त्रज्ञानकी मर्मज्ञता, कृतज्ञता तत्वज्ञानी, धर्मात्मा न दीन, न अभिमानी, मध्यव्यवहारी, स्वाभाविक विनयवान, पापाचरणसे रहित ऐसे इक्कीस पवित्र गुण श्रावकोंको ग्रहण करना चाहिये ॥ ५४ ॥

बाईस अभक्ष्य । कवित्त—

ओरा घोरवरा निसिभोजन वहुबीजा वैंगन सधान ।
वर पीपर ऊंमर कठूमर पाकर फल जो होंय अजान ॥
कद मूल माटी विष आमिष मधु माखन अरु मदिरा पान ।
फल अतितुच्छ तुषार चलितरस जिनमत ये वाईस वखान ॥५५॥

अर्थ—१. ओला २. घोरवरा-द्विदल जिन अन्नोंकी दालें होती हैं उन अन्नोंके साथ विना गरम किया हुआ अर्थात् कच्चा दूध, दही, छाछ आदि मिलाकर खाना ३. निशिभोजन रात्रिमें भोजन करना ४. वहुबीजा-जिन वहुतसे बीजोंके घर नाहीं, से सब वहुबीजा कहलाते हैं 'क्रियाकोष' ५. वैंगन ६. संधान-अथाना मुरब्बा ७. पीपल फल ८. वडफल ९. ऊमरफल १०. कठूमर ११. पाकरफल १२. अजानफल-जिन फलोंको पहिचानते ही न हों १३. कंदमूल १४, माटी १५. विष १६. आमिष-मांस १७. मधु-शहद १८. मक्खन १९. शराब २०. अतितुच्छफल-बहुत छोटे फल २१. तुषार-वर्फ २२. चलितरस-जिस का स्वाद बिगड जाता है। ऐसे वाईस प्रकारके अभक्ष्य जैनमतमें कहे गये हैं।

प्रतिज्ञा । दोहा—

अब पंचम गुणथानकी रचना वरनौ अल्प ।
जामैं एकादस दसा प्रतिमा नाम विकल्प ॥ ५६ ॥

अर्थ—अब पांचवें गुणस्थानका थोडासा वर्णन करते हैं,

जिसमें ग्यारह प्रतिमाओंका विकल्प है।

ग्यारह प्रतिमाओंके नाम। सवैया इकतीसा—

दर्शनविशुद्धिकारी बारह विरत धारी
सामाइकचारी पर्व प्रोषध विधि वहै।
सचितकौ परिहारी दिवा अपरस नारी,
आठौं जाम ब्रह्मचारी निरारंभी ह्वै रहै॥
पाप परिग्रह छंडै पापकी न शिक्षा मंडै
कोऊ याकै निमित्त करै सो वस्तु न गहै।
ऐसे देसव्रतके धरैया समकिती जीव
ग्यारह प्रतिमा तिन्हैं भगवन्तजी कहैं॥ ५७॥

अर्थ—१. सम्यग्दर्शनमें विशुद्धि उत्पन्न करनेवाली दर्शन प्रतिमा है २. बारह व्रतोंके आचरण रूप प्रतिमा व्रत प्रतिमा है ३. त्रिकाल विधिपूर्वक सामायिककी प्रवृत्ति रूप सामायिक प्रतिमा है ४. मासिक चारों पर्व के दिनोंमें विधिपूर्वक उपवास करना प्रोषध प्रातिमा है ५. सचित्त वनस्पति आदिका त्यागकर प्राशुक आहार करना सचित्त त्याग प्रतिमा हैं ६. दिनमें स्त्री स्पर्शका त्याग करना दिवा मैथुन त्याग प्रातिमा है ७ सब तरहकी स्त्रियोंका आठों प्रहर त्याग करना ब्रह्मचर्य प्रातिमा है ८. सब तरहके आरंभका त्याग करना निरारंभ प्रतिमा है ९. पापके कारण भूत परिग्रहका त्यागकरना सो परिग्रहत्याग प्रातिमा है। १० पापके कार्योंमें अनुमति देनेका त्याग करना अनुमति त्याग प्रातिमा है ११. अपने वास्ते बनाये हुए भोजनादिका त्याग करना उद्देश विरति या उद्दिष्टविरति त्याग प्रतिमा है। ये ग्यारह प्रातिमा देशव्रत धारी सम्यग्दृष्टि जीवों की जिनराजने कहीं हैं।

प्रतिमाका स्वरूप दोहा

संजम अंस जग्यौ जहां भोग अरूचि परिनाम

उदै प्रतिज्ञाकौ भयौ प्रतिमा ताकौ नाम ॥५८॥

अर्थ—चारित्र गुणका प्रगट होना, परिणामोंका भोगोंसे विरक्त होना और प्रतिज्ञा का उदय होना इसी को प्रतिमा कहते हैं ॥५८॥

दर्शनप्रतिमाका स्वरूप

दोहा—आठ मूलगुण संग्रहै, कुविसन क्रिया न कोइ।

दर्शन गुन निरमल करै, दर्शन प्रतिमा सोइ ॥५८॥

अर्थ—दर्शन गुणकी निर्मलता, आठ मूलगुणोंका ग्रहण और सात कुविसनौंका त्याग करना दर्शन प्रतिमा है। पच परमेष्ठीमें भक्ति, जीवदया, पानी छानकर काममें लाना, मधुत्याग, मांस, मद्यत्याग, रात्रिभोजन त्याग और पंच उदुंबर फलोंका त्याग ये आठ मूलगुण कहलाते हैं। कहीं २ मद्य, मांस मधु और पांच पापके त्यागनेको भी अष्ट मूलगुण कहा है। और कहीं कहीं पांच उदंबर फल और मद्य मांस मधुके त्यागको मूलगुण बतलाया है।

व्रतप्रतिमा स्वरूप। दोहा—

पंच अनुव्रत आदरै तीनों गुनव्रत पाल।

शिक्षाव्रत चारों धरै यह व्रतप्रतिमा चाल ॥४०॥

अर्थ—पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतके धारण करनेको व्रतप्रतिमा कहते हैं। विशेष—यहां पंच अणुव्रतका निरतिचार पालन होता है पर गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंके अतिचार सर्वथा नहीं टलते ॥६०॥

सामायिक प्रतिमाका स्वरूप। दोहा—

दर्व भाव विधि संजुगत हियै प्रतिज्ञा टेक।

तजि ममता समता गहै अन्तर मुहूरत एक ॥६१॥

चौपाई—जो अरिमित्र समान विचारै, आरत रौद्र कुध्यान निवारै।

संयम सहित भावना भावै, सो सामायिकवंत कहावै ॥६२॥

अर्थ—मनमें समयकी प्रतिज्ञा पूर्वक द्रव्यविधि-बाह्यक्रिया आसन, मुद्रा, पाठ, शरीर और वचनकी स्थिरता आदिकी सावधानी। भावविधि-मनकी स्थिरता, और परिणामोंके समताभावका रखना, इन सहित एक मुहूर्त अर्थात् दो घडी (चौवीस मिनटकी एक घडी होती है) तक ममत्व भाव रहित साम्य भाव ग्रहण करना, शत्रु और मित्रपर एकता भाव रखना, आर्त और रौद्र दोनों कुध्यानोंका निवारण करना, और संयममें सावधान रहना सामायिक प्रतिमा कहलाती है ॥६१-६२॥

चौथी प्रतिमाका स्वरूप दोहा—

सामायिक कीसी दसा च्यारि पहरलौं होइ।
अथवा आठ पहर रहै पोसह प्रतिमा सोइ ॥६३॥

अर्थ—बारह घंटे अथवा चौबीस घंटे तक सामायिक जैसी स्थिति अर्थात् समताभाव रखनेको प्रोषध प्रतिमा कहते हैं ॥६३॥

पांचवीं प्रतिमाका स्वरूप दोहा—

जो सचित्त भोजन तजै पीवै प्रासुक नीर।
सो सचित्त त्यागी पुरुष पंच प्रतिज्ञा गीर ॥६४॥

अर्थ—सचित्त भोजनका त्याग करना और प्राशुक (गर्म किया हुवा वा लवंग, इलायची, राख आदि डालकर स्वाद बदल देना) जलपान करना उसे सचित्त विरति प्रतिमा कहते हैं ॥६४॥
विशेष-यहां सचित्त वनस्पतिको मुखसे विदारण नहीं करते हैं।

छट्ठी प्रतिमाका स्वरूप। चौपाई—

जो दिन ब्रह्मचर्य व्रत पाले, तिथि आये निशि दिवस सम्हाले।
गहि नौ बाढि करै व्रत रख्या, सो षट प्रतिमा श्रावक अख्या॥

अर्थ—नव वाड सहित दिनमें ब्रह्मचर्य व्रत पालन करना पर्व तिथियोंमें दिनरात ब्रह्मचर्य सम्हालना दिवा मैथुन व्रत

प्रतिमा है ॥६५॥

सातवीं प्रतिमाका स्वरूप। चौपाई—

जो नौ वाडि सहित विधि साधै, निश दिन ब्रह्मचर्य आराधै।
सो सप्तम प्रतिमा धर ज्ञाता, शील शिरोमनि जगतविख्याता।६६।

अर्थ—जो नव वाड सहित सदा काल ब्रह्मचर्य व्रत पालन करता है वह ब्रह्मचर्य नामक सातवीं प्रतिमाका धारी ज्ञानी जगत विख्यात शील शिरोमणि है।

नववाड के नाम। कवित्त—

तिय थल वास प्रेम रुचिनिरखन दे परोछ भाषैं मधुवैन।
पूरव भोगकेलिरस चिंतन गुरु आहार लेत चित चैन॥
करि सुचि तन सिंगार बनावत तिय परजंक मध्य सुख सैन।
मनमथ कथा उदर भरि भोजन ये नौ वाडि कहै जिन वैन।६७

अर्थ—स्त्रियोंके समागममें रहना, स्त्रियोंको रागभरी दृष्टिसे देखना, स्त्रियोंके परोक्षमें-दृष्टि दोष बचानेके लिये परदा आदिकी ओट में संभाषण करना अथवा पत्रव्यवहार करना, सराग संभाषण करना, पूर्वकालमें भोगे हुए भोग विलासोंका स्मरण करना, आनंद दायक गरिष्ट भोजन करना, स्नान मंजन आदिके द्वारा शरीरको आवश्यकतासे अधिक सजाना, स्त्रियोंके पलंग आसन आदिपर सोना बैठना, कामकथाके कामोत्पादक गीतोंका सुनना भूखसे अधिक अथवा खूब पेटभरकर भोजन करना, इनके त्याग को जैन मतमें ब्रह्मचर्य व्रतकी नववाड कहा है ॥६७॥

आठवीं प्रतिमाका स्वरूप। दोहा—

जो विवेक विधि आदरै करै न पापारंभ।
सो अष्टम प्रतिमा धनी कुगति विजै रनथंभ ॥६८॥

अर्थ—जो विवेकपूर्वक धर्ममें सावधान रहता है और सेवा कृषि वाणिज्य आदिका पापारंभ नहीं करता, वह कुगतिके रण-

थंभको जीतनेवाली आठवीं प्रतिमाका स्वामी है ॥६८॥

नवमी प्रतिमाका स्वरूप । चौपाई—

जो दसधा परिग्रहकौ त्यागी, सुख संतोष सहित वैरागी ।
समरस संचित किंचित ग्राही, सो श्रावक नौ प्रतिमा वाही ।६९।

अर्थ—जो वैराग्य और सन्तोषका आनंद प्राप्त करता है, तथा दश प्रकारके परिग्रहोंमें से थोडेसे वस्त्र और पात्र मात्र रखता है वह साम्यभावका धारक नवमीं प्रतिमाका स्वामी है ।६९।

दशवीं प्रतिमाका स्वरूप ।दोहा—

परको पापारभका जो न देय उपदेस ।
सो दसमी प्रतिमा सहित श्रावक विगत कलेस ॥७०॥

अर्थ—जो कुटुंबी वा अन्य जनोंको विवाह वाणिज्य आदि पापारंभ करनेका उपदेश नहीं देता वह पापरहित दशमी अनुमति त्याग नामकी प्रतिमाका धारी श्रावक है ॥७०॥

ग्यारहवीं प्रतिमाका स्वरूप । चौपाई—

जो स्वछंद वरतै तजि डेरा, मठ मंडपमैं करै बसेरा ।
उचित अहार उदंड विहारी, सो एकादस प्रतिमा धारी ।७१।

अर्थ—जो घर छोडकर मठ मंडपमें निवास करता है, और स्त्री पुत्र कुटुंब आदिसे विरक्त होकर स्वतत्र रहता है तथा कृत कारित अनुमोदना रहित योग्य भिक्षासे आहार ग्रहण करता है वह ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक है ।

प्रतिमाओंके संबधमे मुख्य उल्लेख । दोहा—

एकादस प्रतिमा दसा कही देशव्रत मांहि ।
वही अनूक्रम मूलसौं गहौ सु छूटै नाहि ॥७२॥

अर्थ-देशव्रत गुणस्थानमें ग्यारह प्रतिमाएं ग्रहण करनेका उपदेश है । सो शुरुसे उत्तरोत्तर अंगीकार करना चाहिये । और नीचेकी प्रतिमाओंकी क्रिया नहीं छोडना चाहिये ॥७२॥

प्रतिमाओंकी अपेक्षा श्रावकोंके भेद। दोहा–

षट प्रतिमा ताईं जघन मध्यम नौ परजंत।
उत्तम दसमी ग्यारमी इति प्रतिमा विरतंत ॥७३॥

अर्थ–छटवीं प्रतिमातक जघन्यश्रावक, नवमी प्रतिमातक मध्यम श्रावक और दशवीं ग्यारहवीं प्रतिमा धारण करने वालोंको उत्कृष्ट श्रावक कहते हैं। इस प्रकार प्रतिमाओंका वर्णन पूरण हुआ ॥७३॥

पांचवें गुणस्थानका काल। चौपाई–

एक कोडि पूरब गिनि लीजै, तामैं आठ वरस घटि कीजै।
यह उत्कृष्ट काल थिति जाकी, अंतरमुहूरत जघन दसाकी ॥७४॥

अर्थ–पांचवें गुणस्थानका उत्कृष्ट काल आठ वर्ष कम एक कोटि पूर्व और जघन्य काल अतर्मुहूर्त है ॥७४॥

एक पूर्वका प्रमाण। दोहा–

सत्तर लाख किरोर मित छप्पन सहस किरोड।
ऐते वरस मिलाइके पूवर संख्या जोड ॥७५॥

अर्थ–सत्तर लाख छप्पन हजार एक करोडका गुणा करनेसे जो संख्या प्राप्त होती है, उतने वर्षका एक पूर्व होता है अर्थात् चौरासी लाख वर्षका एक पूर्वांग होता है और चौरासी लाख पूर्वांगका एक पूर्व होता है।

अतर्मुहूर्तका मान दोहा–

अंतरमुहूरत द्वै घरी कछुक घाटि उताकिष्ट।
एक समय एकावली अंतरमुहूर्त कनिष्ट ॥७६॥

अर्थ–दो घडीमेंसे एक समयकम अंतर्मुहूर्त का उत्कृष्ट काल है। और एक समय अधिक एक आवली अंतर्मुहूर्तका जघन्य काल है। मध्यके असंख्यात भेद हैं।

छट्टे गुणस्थानके वर्णनकी प्रतिज्ञा। दोहा—

यह पंचम गुणथानकी रचना कही विचित्र।
अब छट्टे गुनथानकी दसा कहुं सुन मित्र ॥७७॥

अर्थ—पांचवें गुणस्थानका यह विचित्र वर्णन किया अब हे मित्र छट्टे गुणस्थानका वर्णन सुनो ॥७७॥

छट्टे गुणस्थानका स्वरूप। दोहा—

पंच प्रमाद दसा धरै अट्ठाइस गुणवान।
थविर कल्पि जिनकल्पि जुत है प्रमत्तगुणथान ॥७८॥

अर्थ—जो मुनि अट्ठाईस मूलगुणोंका पालन करते हैं परंतु पांच प्रकारके प्रमादोंमें किंचित वर्तते हैं वे मुनि प्रमत्त गुणस्थानी हैं। इस गुणस्थानमें स्थविरकल्पी और जिनकल्पी दोनों प्रकारके साधु रहते हैं ॥७८॥

पांच प्रमादोंके नाम दोहा—

धर्मराग विकथा वचन निद्रा विषय कषाय।
पंच प्रमाद दसा सहित परमादी मुनिराय ॥७९॥

अर्थ—धर्ममें अनुराग, विकथावचन, निद्रा, विषय कषाय-(यहां अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान इन तीन चौकडीकी बारह कषायोंका अनोदय और संज्वलन कषायका तीव्र उदय रहता है, इससे वे साधु किंचित प्रमादके वशमें होते हैं और शुभाचरणमें विशेषतया वर्तते हैं। यहां विषय सेवन वा स्थूल रूपमे कषायमें वर्तनेका प्रयोजन नहीं है। यहां शिष्योंको ताडना आदिका विकल्प तो भी है) ऐसे पांच प्रमाद सहित साधु छट्टे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त मुनि होते हैं ॥७९॥

साधुके अट्ठाईस मूलगुण। सवैया इकतीसा—

पंच महाव्रत पालै पंच समिति सम्हालै,
पंच इन्द्री जीति भयौ भोगी चित चैनकौ

षट आवश्यक क्रिया दर्वित भावित साधै
प्रासुक धरामैं एक आसन है सैनकौ।
मंजन न करैं केश लुंचै तन वस्त्र मुंचै,
त्यागै दंतवन पै सुगन्ध स्वास वैनकौ
ठाडो करसे अहार लघुभुंजी एकवार,
अठाइस मूलगुनधारी जती जैनको ॥८०॥

अर्थ—पांच महाव्रत (पांच पापोंका सर्वथा त्याग करनाही पांच महाव्रत कहलाते हैं) पालते हैं, पाचों समितिपूर्वक वर्ताव करते हैं; पांचों इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होकर प्रसन्न होते हैं। द्रव्य और भावरूपसे छह आवश्यकोंको पालते हैं, त्रस जीव रहित भूमिपर करवटकी पलटन रहित शयन करते हैं, यावज्जीवन स्नान नहीं करते हैं, हाथोंसे केश लौंच करते हैं, नग्न रहते हैं दंतवन नहीं करते हैं, तो भी वचन और स्वासमें सुगंध सुगंध ही निकलती हैं, खड़े २ भोजन लेते हैं, थोडा भोजन लेते हैं, भोजन दिनमें एक ही वार लेते हैं। ऐसे अट्ठाइस मूल गुणोंके धारक जैन साधु होते हैं ॥८०॥

पच अणुव्रत और पंच महाव्रतका स्वरूप। दोहा—

हिंसा मृषा अदत्त धन मैथुन परिगह साज।
किंचित त्यागी अनुव्रती सब त्यागी मुनिराज ॥८१॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चौरी, मैथुन और परिग्रह इन पांचों पापोंके किंचित त्यागी अणुव्रती कहलाते हैं और सर्वथा त्यागी मुनिराज कहलाते हैं।

पांच समितियोंका स्वरूप। दोहा—

चलै निरखि भाखै उचित भखै अदोष अहार।
लेइ निरखि डारै निरखि समिति पंच परकार ॥८२॥

अर्थ—जीवजंतुकी रक्षाके लिये देखकर चलना ईर्या समिति

है, हित मित प्रियवचन बोलना भाषा समिति है, अंतराय रहित निर्दोष आहार ग्रहण करना एषणा समिति है। शरीर, पुस्तक, पीछी, कमंडलु आदिको देख शोधकर उठाना रखना आदान निक्षेपण समिति है। त्रस जीव रहित प्राशुक भूमिपर मल मूत्रादिका छोडना प्रतिष्ठापना समिति है, ऐसी ये पांच समिति हैं।८२

छह आवश्यक। दोहा।

समता वंदन थुतिकरन पडकोना सज्झाव।
काउसग्ग मुद्राधरन षडावश्यक ये भाव ॥८३॥

अर्थ...समता-पर पदार्थोंसे राग द्वेष छोडकर स्वस्वरूप या अन्यद्रव्यके स्वरूपका चिन्तवन करना, अर्थात् सामायिक करना, वंदना-चौवीसों तीर्थंकरों वा गुरू आदिकी वंदना करना, स्तवन-चौवीसों तीर्थंकरोंके गुणोंका अनुवाद करना, पडिकोना(प्रतिक्रमण) लगे हुए दोषोंपर पश्चाताप करना, सज्झाव-जिनवाणीका अनुमनन करना, काउसग्ग-कायोत्सर्ग-खडे २ ध्यान करना, ये साधुके छह आवश्यक कर्म हैं ॥८३॥

स्थविरकल्पी और जिनकल्पी साधुओंका स्वरूप सवैया इकतीसा।

स्थविरकलपि जिनकलपि दुविध मुनि,
दोऊ वनवासी दोऊ नगन रहतु हैं।
दोऊ अठ्ठाईस मूलगुणके धरैया दोऊ,
सरव त्यागी ह्वै विरागता वहतु हैं।
थविर कलपि ते जिनके शिष्य शाखा होइ,
बैठिकै सभामैं धर्मदेशना कहतु हैं।
एकाकी सहज जिनकलपि तपस्वी घोर,
उदैकी मरोरसौं परीषह सहतु हैं ॥८४॥

अर्थ—स्थविरकल्पी और जिनकल्पी ऐसे दो प्रकारके जैन साधु होते हैं, दोनों नग्न रहते हैं, दोनों अठ्ठाईस मूलगुणके धारी

होते हैं, दोनों सर्व परिग्रहके त्यागी होते हैं, परम वैरागी होते हैं। परतु स्थविरकल्पी साधु शिष्य समुदायके साथमें रहते हैं, तथा सभामें बैठकर धर्मोपदेश देते और सुनते हैं, पर जिनकल्पी साधु समुदाय छोडकर निर्भय अकेले विचरते हैं और महा तपश्चरण करते हैं, तथा कर्मके उदयसे आई हुई बाईस परिषह सहते हैं ॥८४॥

वेदनीय कर्मजनित ग्यारह परीषह। सवैया इकतीसा—

ग्रीषममैं धूपथित सीतमैं अकपचित—
भूके धरैं धीर प्यासो नीर न चहतु हैं।
दंसमसकादिसौं न डर भूमिसैन करै—
बध बन्ध बिथामैं अडोल ह्वै रहतु हैं॥
चर्यादुख भरैं तिन फांससौं न थरहरैं—
मल दुरगंधिकी गिलानि न गहतु हैं।
रोगनिको न करैं इलाज ऐसो मुनिराज—
वेदनीके उदै ये परीषह सहतु हैं॥८५॥

अर्थ—गर्मीके दिनोंमें धूपमें खडे रहते हैं, यह उष्ण परीषहजय है। शीत ऋतुमें जाडेसे नहीं डरते, यह शीत परीषहजय है। भूक लगनेपर धीरज रखते हैं यह भूकपरीषहजय है। प्यास लगनेपर भी पानी नहीं चाहते यह तृष्णापरीषहजय है। डांस मच्छरका भय नहीं रखते यह दंसमशक परीषहका जीतना है। धरतीपर सोते हैं सो शय्यापरीषहजय है। मारने बांधनेके कष्टमें अचल रहते हैं यह वधपरीषहजय है। चलनेका कष्ट सहते हैं यह चर्यापरीषहजय है। तिनका, कांटा लग जानेपर घबराते नहीं हैं यह तृणस्पर्श परीषहका जीतना है। मल और दुर्गंधित पदार्थोंसे ग्लानि नहीं करते यह मलपरीषहजय है। रोगजनित कष्ट सहते हैं

पर उसके निवारणका उपाय नहीं करते सो रोग परीषहजय है। इस प्रकार वेदनी कर्मके उदयजनित ग्यारह परीषह मुनिराज सहते हैं ॥८५॥

चारित्र मोहजनित सात परीषह । कुंडलिया

एते संकट मुनि सहैं चारित मोह उदोत।
लज्जा संकुच दुख धरैं नगन दिगंबर होत॥
नगन दिगंबर होत श्रोतरति स्वाद न सेवें।
तिय सन्मुख दृग रोकि मान अपमान न वेवें।
थिर ह्वै निरभय रहैं सहैं कुवचन जग जेते
भिच्छुक पद संग्रहैं लहैं मुनि संकट एते ॥८६॥

अर्थ—चारित्रमोह कर्मके उदयसे मुनिराज निम्न लिखित सात परीषह सहते हैं अर्थात् जीतते हैं। नग्न दिगंबर रहनेस लज्जा और संकोच जनित दुःख सहते हैं यह नग्न परीषहजय है। (२) कर्ण आदि इन्द्रियोंके विषयोंका अनुराग नहीं करना सो अरतिपरीषहजय है। (३) स्त्रियोंके हाव भावमें मोहित नहीं होना यह स्त्रीपरीषहजय है। [४] मान अपमानकी परिवाह नहीं करना यह सत्कारपुरस्कार परीषहजय है। (५) भयका निमित्त मिलनेपर भी आसन ध्यानसे नहीं हटना सो निषद्या परीषहजय है। (६) मूर्खोंके कठोर वचन सह लेना आक्रोश परीषहजय है। (७) प्राण जानेपरभी आहारादिकके लिये दीनता रूप प्रवृत्ति नहीं करना यह याचना परीषहजय है। ये सात परीषह चारित्रमोहके उदयसे होती हैं ॥८६॥

ज्ञानावरणीयजनित दो परीषह । दोहा—

अलप ज्ञान लघुता लखैं मति उतकरष विलोइ।
ज्ञानावरन उदोत मुनि सहैं परीषह दोइ ॥८७॥

अर्थ—ज्ञानावरणी कर्मोदय जनित दो परीषह होती हैं। अल्पज्ञान होनेसे लोग छोटा गिनते हैं, इससे जो दुख होता है उसे साधु लोग सहते हैं ये अज्ञान परीषहजय है। ज्ञानकी विशालता होनेपर भी गर्व नहीं करना, यह प्रज्ञापरीषहजय है। ऐसी ये दो परीषह ज्ञानावरणीके उदयसे जैन साधु सहते हैं।

दर्शनमोहनीय और अतराय जनित एक एक परीषह होता है। दोहा

सहैं अदरसन दुरदसा दरसन मोह उदोत।
रोकै उमग अलाभकी अतरायके होत ॥८८॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयके उदयसे सम्यग्दर्शनमें कदाचित दोष उपजे तो वे सावधान रहते हैं चलायमान नही होते हैं, यह दर्शनपरीषहजय है। अतरायकर्मके उदयसे वाञ्छित पदार्थकी प्राप्ति न हो तो जैनमुनि खेद खिन्न नहीं होते यह अलाभपरीषहजय है ॥८८॥

बाइस परीपहोंका वर्णन सवैया इकतीसा—

एकादस वेदनीकी चारितमोहकी सात,
ज्ञानावरणकी दोइ एक अतरायकी।
दर्शनमोहकी एक द्वाविंशति बाधा सबै,
केई मनसाकी, केई बाकी, केई कायकी
काहूको अलप काहूको बहुत उनीस ताईं,
एकही समैमैं उदै आवै असहायकी।
चर्याथित सज्जामांहि एक शीतउष्ण माहीं,
एक दोय होंहि तीन नाहिं समुदायकी ॥८९॥

अर्थ—वेदनीयकी ग्यारह, चारित्रमोहनीयकी सात, ज्ञानावरणीकी दो, अतरायकी एक, और दर्शनमोहनीयकी एक ऐसी सब बाईस परीषह हैं। उनमेंसे कोई मनजनित, कोई वचनजनित

और कोई कायजनित हैं। इन बाईस परीषहोंमेंसे एक समयमें एक साधुको अधिकसे अधिक उन्नीसतक परीषह उदय आती हैं! क्योंकि चर्या, आसन और शैय्या इन तीनमेंसे कोई एक, और शीत उष्णमेंसे कोई एक इस तरह पांचमें दोका उदय होता है। शेष तीनका उदय नहीं होता है ॥८९॥

स्थविरकल्पी और जिनकल्पी साधुकी तुलना। दोहा—

नाना विधि संकट दसा सहि साधैं सिव पंथ।
थविरकल्पि जिनकल्पि धर दोऊ सम निरग्रथ ॥९०॥
जो मुनि संगतिमैं रहै थविरकल्पि सो जान।
एकाकी जाकी दसा सो जिनकल्पि वखान ॥९१॥

अर्थ—स्थविरकल्पी और जिनकल्पी दोनों प्रकारके साधु एकसे निर्ग्रंथ होते हैं और अनेक प्रकारकी परीषह जीतकर मोक्ष-मार्ग साधते हैं। जो साधु संगमें रहते हैं वे स्थविरकल्पी हैं और जो एकल विहारी हैं वे जिनकल्पधारी हैं ॥९०-९१॥

चौपाई—थविरकलपिधर कछुक सरागी जिनकलपी महान वैरागी।
इति प्रमत्त गुनथानक धरनी, पूरन भई जथारथ वरनी ॥९१॥

अर्थ-स्थविरकल्पी साधु किंचित् सरागी होते हैं, और जिनकल्पी साधु अत्यंत वैरागी होते हैं। यह छट्टे गुणस्थानका यथार्थ स्वरूप वर्णन किया ॥९२॥

सप्तम गुणस्थानका वर्णन। चौपाई—

अव वरनौं सप्तम विसरामा अपरमत्त गुणथानक नामा।
जहां प्रमाद क्रिया विधि नासै धरम ध्यान थिरता परगासै ९२

अर्थ—अव स्थिरताके स्थान अप्रमत्तगुणस्थानका वर्णन करते हैं, जहां धर्मध्यानमें चचलता लानेवाली पंच प्रकारकी प्रमाद क्रिया नहीं है और मन धर्मध्यानमें स्थिर रहता है ॥९३॥

दोहा–प्रथम करन चारित्रकौ जासु अंतपद होइ।
जहां अहार विहार नाहिं अप्रमत्त है सोइ ॥९४॥

अर्थ....जिस गुणस्थानके अंततक चारित्रमोहके उपशम वा क्षयका कारण अधःप्रवृत्तकरण चारित्र रहता है जहां आहार विहार नहीं रहता है वह अप्रमत्तगुणस्थान है।

विशेष—सांतवें गुणस्थानके दो भद होते हैं-पहिला स्वस्थान अप्रमत्त, दूसरा सातिशय अप्रमत्त। जबतक छट्ठेसे सातवें और सातवेंसे छट्ठेमें अनेकोवार उतरना चढना बना रहता है तबतक स्वस्थान अप्रमत्त रहता है। और सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानमें अधःकरणके ही परिणाम रहते हैं, वहां आहार विहार नहीं होता है ॥९४॥

अष्टमगुणस्थानका वर्णन। चौपाई–

अव वरणौ अष्टम गुणथाना नाम अपूरवकरन वखाना।
कछुक मोह उपशम करि राखै, अथवा किंचित् क्षय करि नाखै।९५

अर्थ—अब अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानका वर्णन करता हूं, जहां मोहका किंचित उपशम अथवा किंचित क्षय किया जाता है। उपशम श्रेणीमें उपशम और क्षयक श्रेणीमें क्षय होता है ॥९५॥

जे परिणाम भये नहिं कवहीं तिनकौ उदै देखिये जवहीं।
तव अष्टम गुनथानक होई चारित करन दूसरो सोई ॥९६॥

अर्थ—इस गुणस्थानमें ऐसे विशुद्ध परिणाम होते हैं, जैसे पूर्वमें कभी नहीं हुए थे इसीलिये इस आठवें गुणस्थानका नाम अपूर्वकरण है। यहां चारित्रके तीन करणोंमेंसे अपूर्वकरण नामक दूसरा करण होता है ॥९६॥

नवमें गुणस्थानका स्वरूप। चौपाई–

अब अनिवृत्तिकरन सुनु भाई जहां भाव थिरता अधिकाई।

पूरव भाव चलाचल जेते सहज अडोल भए सब तेते ॥९७॥

अर्थ—हे भाई, अब अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थानका स्वरूप सुनो। जहां परिणामोंकी अधिक स्थिरता है, इससे पहिले आठवें गुणस्थानमें जो परिणाम किंचित चपल थे, वे यहां अचल हो जाते हैं ॥९७॥

जहां न भाव उलटि अध आवै सो नवमों गुणथान कहावै।
चारितमोह जहां बहु छीजा, सो है चरन करन पद तीजा ॥९८

अर्थ—जहां चढे हुए परिणाम फिर नही गिरते, वह नवमा गुणस्थान कहलाता है। इस नवमें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयका सूक्ष्म लोभको छोडकर बहु अंश नष्ट हो जाता है वह चारित्रका तीसरा करण है ॥९८॥

दशमें गुणस्थानका स्वरूप। चौपाई—

कहौं दसम गुणथान दुसाखा, जँह सूक्षम सिवकी अभिलाखा
सूछम लोभ दसा जँह लहिये सूक्षम सांपराय सो कहिये ॥९९॥

अर्थ—अब दसमें गुणस्थानका वर्णन करता हूं, जिसमें आठवें और नवमें गुणस्थानके समान उपसम श्रेणी और क्षपक श्रेणीके भेद हैं। जहां मोक्षकी अत्यंत सूक्ष्म आभिलाषा मात्र है, जहां सूक्ष्म लोभका उदय है इससे इसे सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान कहते हैं ॥९९॥

ग्यारहवें गुणस्थानका स्वरूप। चौपाई—

अब उपशांतमोह गुनथाना, कहौं तासु प्रभुता परवाना।
जहां मोह उपसमै न भासै यथाख्यात चारित परगासै ॥१००॥

अर्थ—अब ग्यारहवें गुणस्थान उपशांतमोहकी सामर्थ्य कहता हूं, यहां मोहका सर्वथा उपशम है—बिलकुल उदय नहीं दिखता और जीवका यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है ॥१००॥

पुनः दोहा—

जाहि फरसकै जीव गिर, परै करै गुन रद्द।
सो एकादसमी दसा, उपसमकी सरहद्द ॥१०१॥

अर्थ—जिस गुणस्थानको प्राप्त होकर जीव अवश्यही गिरता है, और प्राप्त हुए गुणोंको नियमसे नष्ट करता है, वह उपशम चारित्रकी चरम सीमा प्राप्त करनेवाला ग्यारहवा गुणस्थान है१०१

बारहवें गुणस्थानका वर्णन। चौपाई—

केवलज्ञान निकट जँह आवै, तहां जीव सब मोह खिपावै।
प्रगटै यथाख्यात परधाना सो द्वादसम खीणगुण ठाना ॥१०२॥

अर्थ-जहां जीव मोहको सर्वथा क्षय करता है, वा केवल-बिलकुल समीप रह जाता है और यथाख्यात चारित्र प्रगट होता है, वह क्षीणमोह नामक बारहवां गुणस्थान है ॥१०२॥

उपसमश्रेणीकी अपेक्षा गुणस्थानोका काल। दोहा—

षट सातैं आठैं नवैं दस एकदस थान।
अंतरमुहूरत एक वा एक समै थितिज्ञान ॥१०३॥

अर्थ-उपशमश्रेणीकी अपेक्षा छट्टे, सातवें, आठवें, नौमें, दशमें और ग्यारहवें गुणस्थानका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त वा जघन्य काल एक समय है ॥१०३॥

क्षपकश्रेणीमें गुणस्थानोका काल। दोहा—

क्षपकश्रेणि आठें, नमें, दशें और चढि बार।
थिति उत्कृष्ट गघन्य भी अन्तरमुहूरत काल ॥१०४॥

अर्थ-क्षपक श्रेणीमें आठवें, नौवैं, दशमैं और बारहवें गुणस्थानकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त तथा जघन्य भी अन्तर्मुहूर्त की होती है ॥१०४॥

तेरहवें गुणस्थानके वर्णनका दोहा—

षीनमोह पूरन भयौ करि चूरन चित चाल।
अब सजोग गुणस्थानकी वरनौं दसा रसाल ॥१०५॥

अर्थ—चित्तकी वृत्तिको चूर्ण करने वाले क्षीणमोह गुणस्थान का कथन समाप्त हुआ, अब परमानंदमय सयोग गुणस्थानकी अवस्था वर्णन करता हूं ॥१०५॥

तेरहवें गुणस्थानका स्वरूप । (सवैया इकतीसा)

जाकी दुखदाता घाती चौकरी विनसि गई,
चौकरी अघाति जरी जेवरी समान है—
प्रगट भयौ अनंत दंसन अनंत ज्ञान,
वीरज अनंत सुख सत्ता समाधान है ॥
जामैं आऊ नाम गोत वेदनी प्रकृती अस्सी,
इक्यासी चौरासी वा पच्यासी परवांन है ।
सो है जिन केवली जगवासी भगवान,
ताकी जो अवस्था सो सजोगी गुणथान है ॥१०६॥

अर्थ—जिस मुनिके दुखदायक घातिया चतुष्क अर्थात् ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अंतराय नष्ट हो गये हैं और अघातिया चतुष्क अर्थात्-वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु से चारों कर्म जरी जेवरी समान शक्ति हीन हुए है और जिसको अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंत सुख और अनतवीर्य सत्ता और परमावगढ सम्यत्क्व प्रगट हुएहै और जिसके ऊपर कहे हुए अघातिया कर्मोंकी मात्र अस्सी, एक्यासी, चौरासी वा पच्यासी प्रकृतियों की सत्ता रह गईहै वह केवलज्ञानी प्रभु संसारमें सुशोभित होता है और उसकी अवस्थाको सयोगकेवली गुणस्थान है (यहां मनवचन काय के सात योग होते हैं, इससे गुणस्थानका नाम सयोग केवली है)

विशेष तेरहवें गुणस्थानमें जो पचासी प्रकृतियोंकी सत्ता कही गई है सो यह सामान्य कथन है। किसी किसी को तो तीर्थंकर प्रकृति, आहारकशरीर, आहारक आंगोपांग, आहारकबंधन आहारक संघात सहित पचासी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है।

पर किसीको तीर्थंकर प्रकृतिका सत्व नहीं रहता है इसलिये चौरासी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है और किसीको आहारक चतुष्कका सत्त्व नही रहता और तीर्थंकर प्रकृतिका सत्त्व रहता है अतएव इक्यासी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है। तथा किसीको तीर्थंकर प्रकृति और आहारक चतुष्क पांचोंका सत्त्व नहीं रहता है मात्र अस्सी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है ॥१०६॥

केवलज्ञानीकी मुद्रा और स्थिति। सवैया इकतीसा—

जो अडोल परजंक मुद्राधारी सरवथा—
अथवा सु काउसग्ग मुद्रा थिरपाल है।
खेत सपरस कर्म प्रकृतिकै उदै आयै—
बिना डग भरै अतरीच्छ जाकी चाल है॥
जाकी थिति पूरव करोड आठ वर्ष घाटि—
अतर मुहूरत जघन्य जगजाल है।
सो है देव अठारह दूसन रहित ताकौं—
बानारसि कहै मेरी वंदना त्रिकाल है॥१०७॥

अर्थ—जो केवल ज्ञानी भगवान पद्मासन अथवा कायोत्सर्ग मुद्रा धारण किये हुए हैं, जो क्षेत्र, स्पर्श नाम कर्मकी प्रकृतिके उदयसे बिना कदम रक्खे अधर गमन करते हैं, जिनकी संसारमें स्थिति उत्कृष्ट आठ वर्ष कम [मोक्षगामी जीवोंकी उत्कृष्ट आयु चौथे कालकी अपेक्षा एक कोटि पूर्वकी होती है पर आठ वर्षकी उमरतक केवल ज्ञान नहीं जगता है इसीसे आठ वर्ष कम कहा है] एक करोड़ पूर्वकी और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है। वे सर्वज्ञ देव अठारह दोष रहित हैं। पं. बनारसीदासजी कहते हैं कि उन्हें मेरी त्रिकाल वंदना है॥१०७॥

केवली भगवानको अठारह दोष नहीं होते । कुंडलिया—

दूषन अट्ठारह रहित सो केवलि संजोग ।
जनम मरन जाकै नहीं नहिं निद्रा भय रोग ॥
नाहि निद्रा भय रोग सोग विस्मय न मोह मति ।
जरा खेद परस्वेद नाहि मद वैर विषैं रति ॥
चिंता नाहिं सनेह नाहिं जँह प्यास न भूख न ।
थिर समाधि सुखसहित रहित अट्ठारह दूषन ॥१०८॥

अर्थ—जन्म लेना, मरण होना, निद्रा, भय, रोग, शोक, आश्चर्य, मोह, बुढापा, खेद, पसीना, गर्व, द्वेष, रति, चिन्ता, राग, प्यास, भूख, ये अठारह दोष सयोगकेवली जिनराज को नहीं होते, और वे निर्विकल्प आनंदमें सदा लीन रहते हैं ॥१०८॥

केवलज्ञानी प्रभुके परमौदारिक शरीरका अतिशय । कुंडलिया—

वानी जहां निरक्षरी सप्त धातु मल नांहिं ।
केस रोम नख नाहिं बढैं परम उदारिक मांहि ।
परम उदारिक मांहि जांहि इन्द्रिय बिकार नासि ।
यथाख्यातचारित्त प्रधान थिर सुकल ध्यान ससि !
लोकालोक प्रकाशकरन केवल रजधानी ।
सो तेरम गुणथान जहां अतिशयमय वानी ॥१०९॥

अर्थ—तेरहवें गुणस्थानमें भगवानकी अतिशयमय निरक्षरी दिव्यध्वनि खिरती है । उनका परमौदारिक शरीर सप्त धातु और मल मूत्र रहित होता है केश रोम और नाखून नहीं बढते हैं, इन्द्रियोंके विषय नष्ट हो जाते हैं, पवित्र यथाख्याताचरित्र प्रगटहो जाता है, स्थिर शुक्लध्यान रूपी चन्द्रमाका उदय होता है, लोकालोकके प्रकाशक केवलज्ञानपर उनका साम्राज्य रहता है ॥१०९॥

चौदहवें गुणस्थानका वर्णन । प्रतिज्ञा-

यह सयोग गुणथानकी रचना कही अनूप ।
अब अयोगकेवल दसा कहूं जथारथ रूप ॥

अर्थ-यह सयोगी गुणस्थानका वर्णन किया, अब अयोगकेवली गुणस्थान का यथार्थ वर्णन करता हूं ॥११०॥

चौदहवें गुणस्थानका स्वरूप । सवैया इकतीसा—

जहां काहू जीवकौं असाता उदै साता नांहि,
काहूकौं असाता नांहि साता उदै पाइयै ।
मन वच कायसौं अतीत भयौ जहां जीव,
जाकौ जसगीत जगजीत रूप गाइयै ॥
जामें कर्म प्रकृतिकी सत्ता जोगी जिन कीनी,
अन्त काल द्वै समयमैं सकल खिपाइयै
जाकी थिति पंच लघु अच्छर प्रमान सोई,
चौदहौं अजोगी गुनठाना ठहराइयै ॥१११॥

अर्थ-जहां पर किसी जीवको असाताका उदय रहता है (यहां पर केवलज्ञानी जिनको असाताका जानकर आश्चर्ययुक्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि यहां उदयमें आई असाता साता रूपमें परिणम जाती है) साताका नहीं रहता और किसी जीवको साता का उदय रहता है असाताका नहीं रहता, जहां जीवके मन वचन कायके योगोंकी प्रवृत्ति सर्वथा शून्य होजाती है, जिसके जगज्जयी होनेके गीत गाये जाते हैं जिसको सयोगी जिनके समान अघातिया कर्म प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है, सो उन्हें अन्त के दो समयोंमें सर्वथा क्षय करते हैं। (पुनि चौदहें चौथे सुकल बल बहत्तर तेरह हती) जिस गुणस्थानका काल ह्रस्व पंच अक्षर प्रमाण है यह अयोगी जिन चौदहवां गुणस्थान है ॥१११॥

इति चतुर्दश गुणस्थानाधिकार वर्णन समाप्त

बंधका मूल आस्रव और मोक्षका मूल संवर है। दोहा—

चौदह गुणथानक दसा जगवासी जिय भूल।
आस्रव संवर भाव द्वै बन्ध मोखके मूल ॥११२॥

अर्थ—गुणस्थानोंकी ये चौदह अवस्थाएं अशुद्ध संसारी जीवोंकी हैं। आस्रव और संवरभाव बंध और मोक्षकी जड हैं अर्थात् आस्रव बंधकी जड है और संवर मोक्षकी जड है ॥११२॥

संवरको नमस्कार। चौपाई—

आस्रव संवर परणति जौलौं जगत निवासी चेतन तौलौं।
आस्रव संवर विधि विवहारा दोऊ भवपथ सिव पथ धारा॥
आस्रव रूप बंध उतपाता, संवर ग्यान मोखपद दाता।
जा संवरसौं आस्रव छीजै, ताकौं नमस्कार अब कीजै ॥११४॥

अर्थ—जबतक अ और संवर के परिणाम हैं, तबतक जीवका संसारमें निवास है। उन दोनों में आस्रव विधिका व्यवहार संसार मार्गकी परिणति है, और संवर विधिका व्यवहार मोक्षमार्गकी परिणति है ॥११३॥ आस्रव बंधका उत्पादक है और संवर ज्ञानका रूप है, मोक्षपदका देने वाला है, जिस संवरसे आस्रवका अभाव होता है उसे मैं नमस्कार करता हू।

ग्रन्थके अन्तमे संवरस्वरूप ज्ञानको नमस्कार—

जगतके प्रानी जीति ह्वै रह्यौ गुमानी ऐसौ—
आस्रव असुर दुखदानी महा भीम है।
ताकौ परताप खण्डिवेकौं परकट भयौ
धर्मकौ धरै या कर्मरोगकौ हकीम है॥
जाके परभाव आगै भागैं परभाव सब,
नागर नवल सुखसागरकी सीम है।
संवरकौ रूप धरैं साधै सिवराय ऐसौ,

ग्यान पातसाह ताकौ मेरी तसलीम है ॥११५॥

अर्थ—आस्रव रूप राक्षस जगतके जीवोंको अपने वशमें करके अभिमानी होरहा है, उसका वैभव नष्ट करनेके लिए जो उत्पन्न हुआ है, जो धर्मका धारक है, कर्मरूपी रोगके लिये वैद्य के समान है, जिसके प्रभावके आगे पर द्रव्य जनित राग द्वेष आदि विभाव दूर भागते हैं, जो अत्यन्त प्रवीन और अनादि-कालसे नहीं पाया था इसलिए नवीन है, जो सुखके समुद्रकी सीमाको प्राप्त हुआ है, जिसने संवरका रूप धारण किया है, जो मोक्षमार्गका साधक है, ऐसे ज्ञानरूप बादशाहको मेरा प्रणाम है ॥११५॥

तेरहवें अधिकारका सार—

जिस प्रकार सफेद वस्त्रपर नाना रंगोंका निमित्त लगनेसे वह अनेकाकार होता है, उसीप्रकार शुद्ध बुद्ध आत्मा पर अनादि कालसे मोह और योगोंका सम्बन्ध होने से उसकी संसारी दशा में अनेक अवस्थाएं होती हैं उन्हींका नाम गुणस्थान है। यद्यपि वे अनेक हैं पर शिष्योंके सम्बोधनार्थ श्रीगुरुने १४ बतलाये हैं, वे गुणस्थान जीवके स्वभाव नहीं हैं फिरभी अजीवमें नहीं पाये जाते। जीवमें ही होते हैं इसलिये जीवके विभाव हैं। अथवा यह कहना चाहिए कि व्यवहारनयसे गुणस्थानोंकी अपेक्षा संसारी जीवोंके चौदह भेद हैं। पहिले गुणस्थानमें मिथ्यात्व, दूसरेमें अनन्तानुबन्धी, तीसरेमें मिश्रमोहनीयका उदय मुख्यतया रहता है और चौथे गुणस्थानमें मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी और मिश्र मोहनीयका, पांचवेमें अप्रत्याख्यानावरणीयका, छट्ठेमें प्रत्या-ख्यानावरणीयका अनोदय रहता है। सातवें, आठवें और नवमें में संज्वलनका क्रमशः मंद, मंदतर, मंदतम उदय रहता है, दसमें

में संज्वलन सूक्ष्म लोभ मात्रका उदय और सर्व मोहका अनोदय है, ग्यारहवेंमें सर्व मोहका उपशम और बारहवेंमें सर्व मोहका क्षय है, यहां तक छद्मस्थ अवस्था रहती है, केवलज्ञानका विकास नहीं है। तेरहवेंमें पूर्ण ज्ञान है परन्तु योगोंके द्वारा आत्मप्रदेश सकम्प होते हैं, और चौदहवें गुणस्थानमें केवलज्ञानी प्रभुके आत्मप्रदेश भी स्थिर होजाते हैं। सभी गुणस्थानोंमें जीव सदेह रहता है, सिद्ध भगवान गुणस्थानोंकी कल्पनासे रहित होते हैं, इसलिए गुणस्थान जीवके निज स्वरूप नहीं हैं, पर हैं, पर जनित हैं ऐसा जानकर गुणस्थानोंके विकल्पोंसे रहित शुद्ध बुद्ध आत्मा का अनुभव करना चाहिए।

समाप्तोऽयं ग्रंथः

शुद्धि-अशुद्धि पत्र

पृष्ठ	अशुद्धि	पंक्ति	शुद्धि
५	तथा	१३	था
,,	नयाका	२२	नयोंका
१०	पुग्गण	२	पुग्गल
१३	विरुक्ति	२	निरुक्ति
१४	दसण	१	दसण

१४ पक्ति दूसरीके नीचे

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानं

नापि ज्ञानं चरित्र न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ॥७॥

पृष्ठ	अशुद्धि	पंक्ति	शुद्धि
१६	सुयणेणं	१	सुयणाण
,,	श्रुतेनामिगच्छ	३	श्रुतेनाभिगच्छ
,,	थः	५	यः।
२१	नत्वोंमें	१९	तत्त्वोंमें
,,	जैसे नाना	२०	जैसे स्वर्णकार नाना
२२	सिद्ध	७	शुद्ध
२४	अवद्ध पुट्ट	३	अवद्धपुट्ठ
२५	निर्मिद्य	१५	निर्भिद्य

२९ १२वीं पक्तिके नीचे छाया—

दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्य।

तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यप्यात्मानमेव निश्चयतः॥

पृष्ठ	अशुद्धि	पंक्ति	शुद्धि
३२	न खलु खलु	२४	न खलु न खलु
३६	दव्व	७	दव्व
,,	इयर	१०	इयर
,,	भागयं	११	मागय
,,	सक्का	१२	सक्को
,,	दृष्टो	१५	दृष्टो
३७	आयि	९	अयि
३८	शरीर	१३	शरीरं
३९	मासादि	१८	भासदि
४०	थुणादिजा	२०	थुणदि जो
४३	मो तु	१२	मोहं तु
,,	क्षानस्वभावधिक	१४	ज्ञानस्वभावाधिकं
४७	मोहणिम्मत्त	२६	मोहणिम्ममत्तं
५०	सुद्धा	२२	सुद्धो
५१	निभ्रम	२३-२४	विभ्रम
५३	वधन बध	१५	बंधन
५४	देण्णिवि	१५	दोण्णिवि
६१	जीवाट्ठणा	५	जीवट्ठाणा
७६	मंद	३	मद
,,	अतम	२५	आतम
८१	क्षय	१३	के क्षय
८७	चिदूप	१२	चिद्रूप
८९	पुग्गलकम्म	८	पुग्गलकम्म
९९	एसुवओगा	११	एसुवयोगो
,,	काहोह	११	कोहोह
१००	कसेत्य	२५	करोत्य
१०२	आहर	२	आहार
,,	तिर्थचों	३	तिर्यंचों
,,	मृगतृण्णिका	२२	मृगतृष्णिका
,,	जनः	,,	जनाः
१०६	तम्हा	२	जम्हा

पृष्ठ	अशुद्ध	पंक्ति	शुद्ध
,,	णव	१५	णेव
,,	सेसग	,,	सेसगे
११४	परिणयमते	५	परिणमयते
,,	चेतायिता	१०	चेतयिता
११६	णं	१३	ण
,,	परिणामसदि	१८	परिणामयदि
१२५	कमोदय	४	कम्मोदय
,,	कम	६	कर्म
१३२	पुरुष	१३	वह पुरुष
१३३	मेपारम्	७	मपारम्
१३७	मिथ्यान	२	मिथ्यात न
१४३	तेण	२२	तेण दु
१४६	सद्धो	१४	सुद्धो
१४९	मधिगयो	१७	मधिगमो
१६५	ग्यारंह	८	ग्यातार
१६८	अवुद्धिपूर्वक	४	बुद्धिपूर्वक
,,	संपूर्णसतति	१२	सपूर्णकर्मसंतति
१७२	रागादयस्तषा	१६	रागादयस्तेषा
१७३	सार	१०	सार
१७४	पुरुषणाहारो	,,	पुरुषेणाहारो
१८३	दा	१६	दा
१८४	मखिलाव्यदद्रन्य	२२	—
,,	,,		मखिलान्यदद्रव्य
१८२	विरागस्यै	१२	विरागस्यैव
२०२	आपदान्येव	४	अपदान्येव
२१८	कर्ममध्यत	१२	कर्ममध्यगतः
,,	कममध्ये	१५	कर्दममध्ये
,,	कोई	१९	काई।
२२०	मिश्रीतनि	५	मिश्रितानि
२२८	ततस्त्रात	२४	ततस्त्रात
२५४	परिगहे	१५	परिग्गहे
२५६	वज्झति	५	वज्झंति
२६२	कम्मक्लय	१	कम्मक्खय
,,	स्पृशति	२	स्पृषति
२६४	चादीहिं	२	रत्तादीहिं
२७१	तद्वद्यद्रत्	११	तद्वद्यद्वत्
३११	पुद्गलहै	२४	पुद्गलजड है
३३४	तत्त्वाच्च्यूवन्ते	१६	तत्त्वाच्च्यवन्ते
३४४	रूपसि	११	रूषसि
३६०	सन्यासनान्ममैव	१०	सन्न्यसनान्ममैव
३६२	सर्वकाल	९	सर्वंकाल
,,	करने	२५	करत
३६३	करै	१८	को
३७४	तत्त्वभात्मनः	५	तत्त्वमात्मनः
,,	त्रिकस्क़रूप	८	त्रिकस्वरूप
३७५	मेहि अपनयो	२४	मेटि अपनपौ
३७६	लमयस्य	४	समयस्य
३९१	स्यद्वादी	१२	स्याद्वादो
३९२	पततममित	९	पततमभितः।
३९३	णगन्	१३	पुमान्
३९७	स्याद्व दा	२३	स्याद्वादी
३९८	टिकोत्कीर्ण	३	टकोत्कीर्ण
,,	वध्य	१६	वोध्य
४०१	व्यापकभाव	१२	व्यापकैक-
४०४	प्रकासे	२२	प्रकासे
,,	अज्ञानमात्र	३	ज्ञानमात्र
४०५	संमय	२३	सयम
४१०	ज्ञेय	९	ज्ञेय